शतपथ ब्राह्मण का सांस्कृतिक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद
की
संस्कृत विषय मे
डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध

अक्टूबर-2002

निर्देशक
डॉ० हरिशकर त्रिपाठी
प्रोफेसर एव पूर्व अध्यक्ष
सस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्ता
गुलाब चन्द्र दुबे
एम० ए०, एल० एल० बी०

डा0 हरिशंकर त्रिपाठी
प्रोफेसर एव पूर्व अध्यक्ष
सस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रमाण-पत्र

बडे हर्ष के साथ प्रमाणित कर रहा हूँ कि श्री गुलाब चन्द्र दुबे सस्कृत विषय मे डी0 फिल0 की उपधि हेतु मेरे निर्देशन मे "शतपथ ब्राह्मण का सास्कृतिक अध्ययन" शीर्षक विषय पर अपना शोध कार्य विश्वविद्यालय के नियमानुसार मेरे सानिध्य मे रह कर पूर्ण किया है। यह उनका मौलिक कार्य है। अत उनके कार्य से पूर्णतया सन्तुष्ट होकर उनकी सफलता की कामना करता हुआ परीक्षणार्थ विश्वविद्यालय मे प्रस्तुत करने की अनुज्ञा प्रदान करता हूँ।

ह०श०त्रिपाठी

"आत्म निवेदन"

"*शतपथ ब्राह्मण का सास्कृतिक अध्ययन*" पर प्रस्तुत शोध कार्य मेरा अपना स्वय का प्रयास नहीं है, अपितु कुछ श्रेद्धय महानुभावो तथा विद्वतजनो की अनुकम्पा का परिणाम है। मै ऐसे समस्त महापुरुषो के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करना परम् कर्तव्य समझता हूँ।

शतपथ ब्राह्मण के अध्ययन से प्रभावित होकर तथा उसकी महत्ता को देखते हुए मैने उपर्युक्त विषय पर शोध करने की इच्छा अपने पूज्य गुरुदेव प्रो0 हरि शकर त्रिपाठी (अध्यक्ष सस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद) के समझ प्रकट की, पूज्य गुरुदेव ने अपनी व्यस्ततम् दिनचर्या मे से अमूल्य समय निकाल कर मेरे इस शोध कार्य को पूरा कराने मे मेरा मार्ग दर्शन एव मनोबल बढाने मे अद्वितीय सहायता की। उनके कुशल निर्देशन, सचालन, सतत् मार्ग दर्शन एव सकेतो पर यह शोध कार्य पूरा हो सका है। प्रस्तुत शोध कार्य मे आपके द्वारा जो सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए मै जीवन पर्यन्त आपका ऋणी रहूँगा।

इसके अतिरिक्त मेरे इस शोध कार्य मे मेरे पूज्य पिता श्रद्धेय श्री परशुराम दुबे, माता श्रीमती प्रभावती दुबे एव पत्नी श्रीमती ऊषा दुबे का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होने सदैव मुझे इस शोध कार्य के लिए समय-समय पर प्रेरित किया तथा विषम परिस्थितियो मे भी हतोत्साहित नहीं होने दिया।

अपने इस शोध कार्य को पूरा करने मे मुझे परिवार के अन्य छोटे-बडे सदस्यो, सगे-सम्बन्धियो तथा इष्ट मित्रो का अतुलनीय सहयोग समय-समय पर प्राप्त होता रहा। इन सब लोगो के प्रति भी मै हृदय से आभारी हूँ।

मेरे अल्पज्ञान के कारण इस कार्य मे त्रुटियॉ हुई होगी। अत विद्वानो से अनुरोध करता हूँ कि जहॉ कहीं भी त्रुटि रह गई हो उसे मुझे निर्देश देकर कर कृतार्थ करे। इसके अतिरिक्ति टकण यन्त्र की अशुद्धियो के लिए भी विद्वानो से क्षमा प्रार्थना करता हूँ कि जहॉ कहीं भी त्रुटि या अशुद्धि रह गयी हो उसमे सशोधन कर पढने का कष्ट करे।

अपनी इस कृति को आज मूर्धन्य विद्वान परीक्षको के हाथो मे अर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। अव इस कृति मे जो भी न्यूनताये रह गयी हो उन्हे क्षमा करे, क्योकि उनका आकलन करने मे वे ही समर्थ हे। आशा है कि मेरे परिश्रम का मूल्याकन करके मेरा उत्साह सवर्धन करेगें तथा अपना अमूल्य सुझाव देकर मुझे कृतार्थ करेगे।,

विनयावनत

गुलाब चन्द्र दुबे

गुलाब चन्द्र दुबे

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम् अध्याय

अध्याय - प्रथम

सामाजिक दशा

सामाजिक दशा शीर्षक के अर्न्तगत शतपथ कालीन निम्नलिखित विन्दुओ पर विचार किया गया है-

प्रथम परिच्छेद

वर्ण व्यवस्था

शतपथ कालीन मूल भिन्तिवर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्णो का उल्लेख शतपथ मे हुआ है। वैदिक भाषा का वर्ण शब्द भी अब तक व्यवहार मे आता था। यद्यपि जाति का नया शब्द भी प्रचलित हो चुका था। गोत्रो और चरणो की पृथक जातिया होने लगी थी। जाति शब्द से गोत्र और चरण दोनो अभिप्रेत है। कतरकठ (इन दोनो मे कौन कठ है)। कतमकठ (इनमे कौन कठ है?) ये दोनों प्रश्न चरण सबन्धी पूछताछ पिषयक होने पर भी जाति परिप्रश्न के उदाहरण है।

वस्तुत बैदिक काल मे गोत्र और चरणो मे भेदो के अनुसार अनेको जातियॉ विकशित हो रही थीं। गोत्रो के प्रकरण मे जो लगभग एक सहस्र नाम है, उनका सामाजिक स्वरूप अलग-अलग जातियो के रूप मे सगठित हो गया था। विशेषत पजाव, सिध और सीमाप्रान्त की जाति-उपजातियो के नामो का अध्ययन करने से यह सच्चाई स्पष्ट हो जाती है। गोत्र को हम छोटी-छोटी जातियो के अर्न्तगत अल्लो के रूप मे पाते है।

आज भी पीढी दर पीढी इनमे से बहुत से नाम चले आते है। यह स्वाभाविक है कि उन नामो का हमारे समाज मे नितान्त लोप न हुआ हो।

''अरोडे, खत्री, सहरालिए, अग्रवाले'' आदि अनेक जातियो के अर्न्तगत जो वहुत सी उपजातियॉ है, उनके नामो की पहचान आज भी मिलती है।

जैसे- अरोडे, खत्रियो मे कवर, हस, चोपे, खेते ये अल्लो या जाति-उपविभागो के नाम है। प्राय प्रत्येक जाति या उपजाति मे अपने मूल निकास की एक अनुश्रुति पायी जाती है। इन मूल स्थान नामो का यदि सग्रह किया जाय तो यह भी सभव है कि हम शतपथ मे दिये हुए उन-उन नाम वाले गोत्रो की भी पहचान कर सकेगे। इस प्रकार के स्थान के नामो की सत्रह सूचियॉ सग्रहीत है। उदाहरण के लिए पक्षादिगण मे हसक स्थान

का नाम है जहॉ से हसक गोत्र का विकास हुआ होगा। वैदिक काल मे योनि सबन्ध और विद्या सवन्ध इन दो प्रकार के सवन्धो के आधार पर समाज का अधिकाश सगठन था। योनि सवन्ध गोत्रो के रूप मे और विद्या सबन्ध चरणो के रूप मे अपना-अपना जातीय सगठन वना रहे थे। इसी कारण जाति की परिभाषा मे गोत्रो और चरणो इन सभी को सम्मिलित किया गया।

रक्त सबन्ध और विद्या सबन्धो के कारण छोटे-छोटे गिरोहो की अलग-अलग जातियॉ बन रही थीं। कुछ ऐसा लगता है कि जहॉ बेटे पोतो से फूलते-फलते, पृथक-पृथक सौ घर किसी एक ख्यात, गुट्ट या अल्ल के अर्न्तगत बढ जाते थे, वही उन कुटुम्बो से सदस्य समाज मे अपने पृथक अस्तित्व का भान और स्मृति एक छोटी उपजाति या गोत्रावयव के रूप मे कर लेते थे। महाभारत मे कहा गया है कि सावित्री पुत्रो के सौ घराने थे।

''त्वयि पुत्रशत चैव सत्यवान् जनयष्यिति।
ते चाऽपि सर्वे राजान क्षत्रिया पुत्र पौत्रिण ।।
ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यतिन्तीह शाश्वता ।''
{वन पर्व 297/58-59}

इसी प्रकार मद्रों मे से सौ घराने अलग फूट कर मालव पुत्र नाम की अल्ल से पृथक विख्यात हुए। मालव पुत्र ही वर्तमान मलोत्रे हो सकते है। उपजातियॉ या अल्ले कुछ तो कौटुम्बिक नामो से, कुछ पैतृक नामो अर्थात् खानदानो के बुजुर्गो के नामो से, कुछ व्यापारिक नामो से, कुछ शहरो के नामो से, कुछ पेशो के नामो से, और कुछ पदो के नामो के अनुसार बनती गई। हमारी दृष्टि मे जाति-पॉति सबन्धी शतपथीय सामग्री की पहचान स्वतन्त्र खोज का विषय है क्योकि अधिकाश उत्तर-पश्चिमी प्रदेश और वाहीक की स्थानीय समाज व्यवस्था से सबन्ध रखता है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे आर्थ जाति के प्रसिद्ध चार विभागो का वर्णन मिलता है-

शतपथ ब्राह्मण 5/5/4/9।। मे कहा गया है-

"चत्वारो वै वर्णा । ब्राह्मणो राजन्यो वैश्य शूद्र ।"

अर्थात वर्ण चार ही है, ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र।

इसी प्रकार से मैत्रीयणी सहिता 4/4/6 मे भी उल्लेख आया है कि-

"चत्वारो वै पुरूषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्य शूद्र ।"

अर्थात चार प्रकार के ही मनुष्य है ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्णो करे इस प्रकार उल्लिखित किया जाता हे।

(क) ब्राह्मण

ये ब्राह्मण ही है, जो मनुष्य देव है। षडविश ब्राह्मण 1/1।। मे लिखा है-

"अर्थ है ते मनुष्य देवा ये ब्राह्मण । अर्थात यही मनुष्यो मे देव है जो ब्राह्मण है।"

अर्थात् ब्राह्मण को बहुत विद्वान होना चाहिए।

तैतरीय ब्राह्मण 2/7/3/1 मे कहा गया है-

"अग्ने वै ब्राह्मण "

अर्थात् अग्नि के गुणो से ही विभूषित ब्राह्मण है। वे ज्ञानवान तेजोमय आदि है। ब्राह्मण के अवश्य की सब सस्कार होने चाहिए, इस विषय मे कहा गया है-

"ए षह वै सान्तनोऽग्नियद् ब्राम्हणों यस्य गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकर्ण, निष्क्रमण-अन्नप्राशन-गोदान, चूडाकरण, उपनयन, आप्लावन, अग्निहोत्र, व्रतचर्यादीनी कृतानि भवन्ति स सान्तपन ।"

अर्थात् यह सान्तपन अग्नि ही है, जो ब्राह्मण है जिसके गर्भाधान से लेकर व्रतचर्यादि सस्कार किये गये है यह सान्तपन है।

मनुष्यो मे ब्राह्मण क्यो श्रेष्ठ माना गया है, इस विषय मे शतूपथ ब्राह्मण 5/1/5/2। मे कहा गया है कि-

"ब्रम्हा कि ब्राम्हण " अर्थात् वेद ही ब्राह्मण है वेद आर्य जाति का सबसे बडा कोश है। उस कोष की जो कोई रक्षा करता था वह आर्यो के लिए अत्यन्त मान्य होता था।

ब्राह्मण वेद को कष्ठस्थ रखता था, वेद को पढाता था, इसलिए ब्राह्मण की मान्य दृष्टि से वेद कहा गया है।

ब्राह्मण को कभी भी सुरा नहीं पीनी चाहिए। इसका भाव यही है कि ब्राह्मण को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो। इसी भाव से शतूपथ मे इसी प्रकार कहा गया है-

'अशिव इव वाऽएष भक्षो यत्सुरा ब्राम्हणस्य"
{शतपथ ब्राह्मण - 12/8/9/5।}

अर्थात् अकल्याणकारी के समान यह भोजन है जो सुरा है ब्राह्मण का।

दीक्षित होते हुए क्षत्रिय और वैश्य भी कुछ काल तक के लिए ब्राह्मण अर्थात् सौम्य स्वभाव वाले सत्य वक्ता तपस्वी बनते है। ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है-

"स (क्षत्रिय) ह दीक्षमीण एव ब्राम्हणतामभ्युपैति"
ऐ0 ब्रा0 - 7/23। मे

अर्थात वह क्षत्रिय ही दीक्षित होकर ब्राम्हण पन को प्राप्त करता है।

"तस्यादपि (दीक्षित) राजन्य वा वैश्य वा ब्राम्हण इत्येव ब्रूयाद ब्राम्हणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते।"

अर्थात् इसीलिए (दीक्षित) क्षत्रिय अथवा वैश्य हो उसे ब्राम्हण ही कहे। ब्राम्हण ही उत्पन्न होता है जो यज्ञ से उत्पन्न होता है।

"य उ वै कश्च यजते ब्राम्हणी भूयेवैवयजते।"
{शतपथ ब्राह्मण - 12/8/9/5।}

अर्थात् जो कोई ही यज्ञ करता है, ब्राम्हण होकर यज्ञ करता है।

ब्राह्मण अपना समय गाने बजाने मे कभी नष्ट न करे। हा वेद को स्वर सहित पढना तो उनका धर्म ही है। यथा-

" ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येत्।"

अर्थात् ब्राह्मण न गाये न नाचे।

ब्राह्मण को ब्रम्हावर्चसी- वेद के तेज वाला बनना चाहिए-

"ततह्येव ब्राम्हणेनैष्टव्य यद ब्रम्हावर्चसी स्यादिति।"

अर्थात् यह ही ब्राम्हण को इष्ट होना चाहिए, जो ब्रम्हावर्चसी होवें।

ब्राह्मणो मे विद्वान ही बलवान है क्योकि कहा गया है-

"यो वै ब्राम्हणानामनुचनतम स ए षा वार्यक्तम ।"

अर्थात जो ही ब्राह्मणो मे परम् विद्वान है, वह इनमे अत्यन्त बलवान है बलवान ब्राह्मण के कौन-कौन से शस्त्र है-

"एतानि वै ब्राह्मण आयधानि यद्यज्ञायुधानि।"

अर्थात् यही ब्रम्हा- सौम्यशक्ति के शस्त्र है जो यज्ञ के शस्त्र है।

"तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वर्चङ्ग रोति मुखतो हि सृष्ट ।"
ता0 ब्रा0 - 6/1/6

अर्थात् इसलिए ब्राह्मण मुख से अपना बल दिखाता है। मुख अर्थात् मुख्य गुणो से ही उत्पन्न हुआ है, ज्ञान ही मुख्य गुण है।

पूर्वोक्त विद्या आदि गुण युक्त ब्राह्मण ही सर्वत्र सम्मान की दृष्टि से देखे जाते है।

शतपथ् मे ब्राह्मण और ब्राह्मण दोनों को पर्याय रूप मे प्रयुक्त किया गया है। अनुपूर्वी क्रम से चारो वर्णो के लिए ब्राह्मण क्षत्रियविट शूद्र । यह समस्त पद प्रयुक्त होता था। ब्रह्मण इस अर्थ मे ब्रह्मण्य पद बनता था। पतजलि ने इसका अर्थ "ब्रह्मणेश्य हितम्" किया है उनका कहना है कि ब्रह्मन और ब्राह्मण पर्यायवाची शब्द है।

"समानार्थवेतौ ब्रह्मनूशब्दो ब्राह्मण शब्दश्च।"

ज्ञात होता है कि शतपथ काल मे ब्रह्मन् शब्द ब्रह्मणोचित अध्यात्मिक गुण सम्पत्ति के लिए प्रयुक्त होता था और ब्राह्मण जन्म पर आश्रित जाति के लिए। ब्राह्मण के भाव (आदर्श) और कर्म (आचार) के लिए ब्राह्मण्य पद सिद्ध किया गया है।

नाम मात्र के आचारहीन ब्राह्मण ब्रह्मबन्धु कहलाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद, आदि ग्रन्थों मे ब्रह्मबन्धु शब्द पाया जाता है। ब्रह्मबन्धु पद के पीछे कुत्सा परक ब्यग्य की कई कोटियॉ थीं। बैदिक काल मे केवल जाति का अभिमान करने वाले कर्मविहीन ब्राह्मणो के लिए ब्रह्मबन्धु की तरह ब्राह्मण जातीय यह नया विशे-ण भी प्रचलित हो गया था।

जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहचान हो वह बन्धु हुआ।

"येन ब्रह्मणत्वादिजातिर्ब्यज्यते तद् बन्धु द्रब्यम्"

नाम मात्र के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए ब्राह्मण जातीय, क्षत्रिय जातीय, वैश्य जातीय पद व्यवहार मे आते थे। स्वधर्म मे प्रतीत ब्राह्मण महाब्रह्म या महाब्रह्मा और आचारहीन ब्राह्मण कुब्रह्म या कुब्रह्मा कहलाता था। महाब्रह्मा समाज मे अत्यन्त प्रतिष्ठा-सूचक पद माना जाता था। मातग जातक मे महाब्रह्मा से सम्मानित पद का उल्लेख आया है।

तात्पर्य यह है कि धर्म और शील परायण और ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च पद महाब्रह्मा था, जिसके लिए व्यक्ति-विशेष योग्य पात्र समझे जाते थे। सभवत महाब्रह्मा का पर्याय देवब्रह्मा भी था। नारद को जातक मे महब्रह्मा और काशिका में देवब्रह्मा कहा गया है।

जनपदों के अनुसार ब्राह्मणों के नाम -

भिन्न-भिन्न देशो मे बस जाने के कारण ब्राह्मणो के अलग-अलग नामो की प्रथा चल पडी थी। कबोज जनपद से लेकर कलिग-अश्मक-कच्छ सौवीर जनपदो तक फेले हुए विस्तृत प्रदेश मे ब्राह्मण फेल चुके थे। स्वभावत पृथक-पृथक् भूखण्डो के अनुसार उनके अलग नाम भी पडे होगे। काशिका मे सुराष्ट्र ब्रह्म (सुराष्ट्र-ब्रह्मा) और अवन्ति ब्रह्मा (अवन्तिषु ब्रह्मा) ये दो उदाहरण है।

अवन्ति ब्रह्म मालव ब्राह्मणो के पूर्ववर्ती थे, क्योकि उज्जयिनी के साथ मालव शब्द का सम्बन्ध गुप्त काल के लगभग आरम्भ हुआ। इसी प्रकार गुजराती और कच्छी ब्राह्मणो के पूर्ववर्ती सुराष्ट्र के ब्राह्मणो के पचगौड और पचद्राविड दो मुख्य भेद कालान्तर मे प्रसिद्ध हुए। मूलभूत तथ्य यह है कि जनपदो के अनुसार ब्राह्मणो के नामो की प्रवृत्ति शतपथ काल मे ही विकसित होने लगी थी।

(ख) क्षत्रिय

शतपथ काल मे उस स्थिति को स्वीकार किया गया है कि अनेक जनपदो के नाम वही थे, जो उनमे बसने वाले क्षत्रियो के थे। जैसा कि पचाल क्षत्रियजन के बसने के कारण ही आरम्भ मे जनपद का नाम भी पचाल पडा था। बाद मे जनपद नाम की प्रधानता हुई और जनपद के नाम से वहाँ के प्रशासक क्षत्रियो के नाम आज भी प्रसिद्ध है।

पहली स्थिति के कुछ अवशेष आज तक बच गये है, जैसे- यौधेयो (वर्तमान जोहिये) का प्रदेश जोहिया बार (बहावलपुर रियासत), मालवो का (वर्तमान मलवई लोगो का), मालवा (फिरोजपुर लुधियाना जिलो का भाग), दरदू क्षत्रियो का दरदिस्नान। यो तो तत्कालीन सघो और जनपदो मे क्षत्रिय के अतिरिक्त और वर्णो के लोग भी थे। उदाहरणार्थ- मालव

जनपद के क्षत्रिय मालव तथा ब्राह्मण एव क्षत्रियेतर मालब्य कहलाते थे। “मालवा ’ इस बहवचनान्त रूप मे सब का अर्न्तभाव समझा जाता था।

राजन्य शब्द के दो अर्थ प्राप्त हुए है, पहला तो क्षत्रियवाची पुराना अर्थ, और दूसरा अभिषिक्त वश क्षत्रियो के लिए। केवल वे क्षत्रिय-कुल राजन्य कहे जाते थे जो सघ रूप मे शासन मे भाग लेने के अधिकारी थे। राजन्यक का हिन्दी रूप राणा है।

ऐतरेय ब्राह्मण 8। 6। मे लिखा है-

“क्षत्र राजन्य ” अर्थात् बलरूप ही क्षत्रिय है।”

ऐतरेय व्राह्मण 7। 22 मे लिखा है-

“क्षत्र कि राष्ट्रम” अर्थात् बलरूप का ही अस्तित्व ही राज्य है, वलहीन जातियॉ राष्ट्र को ठीक नही रख सकतीं।

(1) क्षत्रियों की सम्पत्ति

गोपथ ब्राह्मण उत्तर भाग 6। 7। मे लिखा है- “तस्मादु क्षत्रियो भूयिष्ठ हि-पशूनामीष्ठे।” अर्थात् इसलिए क्षत्रिय सबसे अधिक पशुओ का स्वामी होता है। इससे प्रकट होता है कि राजाओ के पास सहस्रो घोडो गौ आदि होने चाहिये।

(2) क्षत्रिय और ब्राह्मणों का सम्बन्ध

ऐतरेय ब्राह्मण 8।9 मे लिखा है-

“तद्यत्र ब्राह्मण क्षत्र वशमेति-तद्राष्ट समृद्ध तद्वीरवादास्मिन वीरो जायते।”

अर्थात जहॉ-जहॉ ज्ञानशक्ति के आश्रय बल शक्ति काम करती है वही राष्ट्र सम्पत्ति शाली होता है। वही राष्ट्र बीरो वाला होता है। इसी राष्ट्र मे वीर शक्तिशाली पुरूष उत्पन्न होता है।

इस कथन से स्पष्ट उपदेश किया गया है कि क्षत्रियो को विद्वानो के अधीन रहकर ही राज्य प्रबन्ध करना चाहिए। वेदादि शास्त्रो मे अनेक स्थानो पर कहा गया है कि ससार के कल्याण के लिए भुजबल और ज्ञानबल को मिलकर काम करना चाहिए। जो आधुनिक ग्रन्थकार पुराने आर्यो को ब्राह्मणो के आधिपत्य के नीचे दबा हुआ समझते है।

उन्होने आर्य जाति के भाव को नही समझा। आर्य लोग विद्या बल को सब वलो से श्रेष्ठ मानते थे।

ब्राह्मणे मे वह बल पूर्ण रूप मे पाया जाता है। ऐसा अनेक प्रमाणो द्वारा प्रकट किया जा चुका है। इसलिए क्षात्र बल को ब्राह्मणे के साथ मिलकर की काम करना चाहिए।

"यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयान मित्रेभ्योवैस बलयान्भवति।"
शतपथ ब्राह्मण- 5/4/4/15

अर्थात् जो राजा ब्राह्मण से निर्बल है अर्थात् जिसके पास विद्धान ब्राह्मण नही है, वह शत्रुओ से बलवाला होता है। अर्थात् विद्धान ब्राह्मणे के मन्त्री आदि पदो को सुशोभित न करने पर राजा के शत्रु बढ जाते है।

"तन्तदवक्लृप्तमेव। यद् ब्राह्मणोऽराजन्य स्याद्यद्यु राजान लभेत् समृद्ध तदेतद्ध त्वेवानवक्लृप्त। यत्क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति यद्ध कि च कर्म्म कुरूतेऽप्रसूत ब्राह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समृध्यते तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेनोपसर्तब्य एव ब्राह्मण स हैवास्मै तद्ब्रह्मप्रसूत कर्मऽर्ध्यते।।"
शतपथ ब्राह्मण- 4/1/4/6।।

अर्थात् तब वह युक्त ही है कि मनुष्य ब्राह्मण राजा के बिना ही हो। यदि ब्राह्मण राजा को प्राप्त करे यह दोनो ब्राह्मण और राजा या क्षत्रिय के लिए कल्याणकारी होता है। यह सर्वथा अयुक्त है कि क्षत्रिय = राजा ब्राह्मण के बिना हो। क्योकि जो कर्म वह करता है, ब्रह्म और मित्र से अप्रसूत नहीं, वह इसके लिए समृध्दि युक्त होता है। इसलिए जब क्षत्रिय कोई साहसिक कार्य करने लगे तो ब्राह्मण के समीप जावे। क्योकि ब्राह्मण से बताये हुए कर्म मे वह सफल होता है।

जो सौम्य गुण युक्त निष्कपट विद्धान सात्विक स्वभाव वाला व्यक्ति हे उसे राजा की कोई आवश्कता नहीं होती। प्रथम तो उसके शत्रु होते ही नही, और यदि होते है तो उन्हे सच्चा ब्राह्मण अपनी वाणी से परास्त कर देता है। क्षत्रिय को वस्तुत पदे-पदे ब्राह्मण की बडी आवश्कता है। ठीक सम्मति से खत्रिय सफल हो जाता है। चन्द्रगुप्त, एक ब्राम्हण की सम्मत्ति से ही कितना महान बन गया। अत ब्राह्मण सम्मति इसलिए आवश्यक है क्योकि ब्राह्मण राजनीति के वास्तविक तत्व को बताता है।

(3) क्षत्रिय के शस्त्र

"एतानि क्षत्रस्यायुधानि यदश्वरथ कवच इषुधन्व ।"
{ऐतरेय ब्राह्मण - 7/19/म}

अर्थात् यही क्षात्र बल के शस्त्र है, जो घोडा, रथ, कवच, तीर और धनुष। पुन शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है-

"युद्ध वै राजन्यस्य वीर्यम"
{शतपथ ब्राह्मण 13/1/5/6}

अर्थात युद्ध की क्षत्रिय का बल है।

(4) राजा

शतपथ ब्राह्मण मे राजा के लिए लिखा गया है-

"तस्माद्राजा बाहुबली भावुक ।"
{शतपथ ब्राह्मण 13/2/2/5}

अर्थात बाहुबल से युक्त राजा सर्वप्रिय होता है।

पुन शतपथ ब्राह्मण के अनुसार-

"तस्माद्राजोरूबली भावुक ।"
{शतपथ ब्राह्मण 13/2/2/28}

अर्थात् इसलिए जघा से बलवान राजा सर्वप्रिय होता है।

तैतरीय ब्राह्मण के अनुसार-

"नाऽराजकस्य युद्धमस्ति"
{तै0 ब्रा0 1/5/9/1}

अर्थात जिस देश मे अराजकता है वह देश किसी से युद्ध नहीं कर सकता। जिस देश के लोग परस्पर लडते झगडते रहते है, जहॉ कोई नियम नहीं वहॉ ऐसी ही दशा होती है।

(5) राजा का युद्ध प्रस्थान

"तद्यथा महाराज पुरस्तात्सैनानीकानि प्रत्युह्याभय पन्थनमन्वितयात्।।"

अर्थात जिस प्रकार एक बडा राजा सबसे आगे सेना के अग्रभाग को करके निर्भय को कर मार्ग को तय करता हे, इससे ज्ञात होता है कि क्षत्रिय सम्राट युन्द्र मे जाते समय सेना के अग्रभाग को आगे रखते है।

(ग) वैश्य

वैश्य काल मे वैश्य के लिए 'अर्यं पद का उल्लेख आया है। गृहस्थ के लिए गृहपति शब्द है। मौर्य शुग युग मे गृहपति समृद्ध वैश्य व्यापारियो के लिए प्रयुक्त होने लगा था, जो बौद्ध प्रभाव को स्वीकार कर रहे थे। उन्हीं से वैश्य प्रसिद्ध हुए।

वैश्यो का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थो मे कम मिलता है।

ऐतरेय ब्राह्मण मे वैश्यो के लिए कहा गया है कि-

"राष्ट्राणि वै विश"
{ऐ0 ब्रा0- 8/26}

अर्थात् वैश्य ही राष्ट्र है वैश्य के धन कमाने पर ही राज्य में सब वर्णो का काम चलता हे।

(घ) शूद्र

वैदिक काल मे दो प्रकार के शूद्रो का उल्लेख किया जाता है- पहला अनिखसित जो हिन्दू समाज के अग थे, और दूसरे निखसित। पतजलि का विशद भाष्य शूद्रो की शुग कालीन स्थिति का परिचायक है।

"अनिखसित शूद्र वे है जो आर्यावर्त की भौगोलिक सीमा के भीतर रहते है।" इसके विपरीत पतजलि ने आर्यावर्त की सीमा के बाहर के शूद्रो मे कुछ विदेशियो का उल्लेख किया है। जैसे शक और यवन। पतजलि के समय की ऐतिहासिक स्थिति मे शक लोग इरान और अफगानिस्तान की सीमा पर शक स्थान मे जमा थे, और यवन अर्थात् यूनानी लोग बाल्हीक और गाधार मे प्रतिष्ठित थे। इसी पर आधारित पतजलि का दूसरा उदाहरण "किष्किन्धागब्दिक" है।

किष्किन्धा गोरखपुर जिले का खुखुन्दो और गब्दिका चबा का गद्दी प्रदेश था। ये दोनो उस समय आर्यावर्त की सीमा से बाहर माने जाते थे। मौर्य साम्राज्य की कमर टूट जाने पर विदेशियो के धक्के से आर्यावर्त की सीमाये यहाँ तक सिकुड गयी कि घर के दुआरे पर स्थित किष्किन्धा गब्दिका भी बाहर गिने जाने लगे। पतजलि के अनुसार मृतप, चाडाल आदि निम्न शूद्र जातियाँ प्राय ग्राम, घोष, नगर आदि आर्य जातियो मे घर बनाकर रहती थी।

पर जहाँ गाँव और शहर बहुत बडे थे, वहाँ उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लो मे रहने लगे थे। ये समाज मे सबसे नीची कोटि के शूद्र थे। इनसे ऊपर बढई, लोहार, बुनकर, धोबी, तक्षा, अयस्कर, तन्तुवाय, रजक आदि जातियो की गणना भी शूद्रो मे थी। वे यज्ञ सम्बन्धी कुछ कार्यो मे सम्मिलित हो सकते थे, पर उनके साथ खाने के बर्तनो की छुआछूत बर्ती जाती थी। इनसे भी ऊँची कोटि के शूद्र वे थे जो आर्यो के घर का नेवला होने पर उन्ही बर्तनो मे खा-पी सकते थे, जिनमे कि घर के लोग खाते-पीते थे। वस्तुत आर्य और शूद्र की समस्या आर्य एव मुडा निषाद-शबर आदि जातियो को एक सामाजिक तत्र के अर्न्तगत लाने की समस्या थी। दूसरी ओर शक-यवन सदृश विदेशी शूद्रो को भी भारतीय समाज मे सीन देने की समस्या थी। पतजलि के ऊपर लिखे हुए उदाहरणो से समस्या के दोनो पहलू सामने आते है। एक तीसरे प्रकार के वे लोग थे जाू लूट मारकर जीविका चलाने वाले लगभग जगली हालात मे आर्यावर्त की सीमाओ पर प्राचीन काल से बसे थे। ऐसे उत्सेधजीवी लोग बैदिक काल मे ब्रात कहलाते थे। ये विशेष करके भारत के उत्तर-पश्चिम इबाइली इलाको मे थे। ये लोग हिन्दू समाज की ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य व्यवस्था से बाहर ही माने जाते थे।

ज्ञात होता है कि अथर्ववेद और श्रोत सूत्रो मे ब्रात्यो का जो वर्णन हे वह इन्हीं मे चरित्रार्थ होता है। चातुर्वर्ण्य सगठन के अनुसार ब्रात्यो की स्थिति ब्रात्यस्तोम करने तक शूद्रवत् मानी जाती थी।

आर्य और दास

वैदिक युग मे आर्य ब्राह्मण और आर्य कुमार शब्द आए है। आर्य ब्राह्मण पद मन्त्रिपरिषद के प्रधान मन्त्री के लिए एव आर्य कुमार पद युवराज के लिए प्रयुक्त होता था। राजा और उनके प्रधान सहायक का जो ब्राह्मण मत्री होती था, वही आर्य ब्राह्मण कहलाता था।

अर्थशास्त्र के दास-कल्प प्रकरण मे कौटिल्य ने स्वतत्र नागरिक के लिए आर्य और उसके विपरीत अर्थ मे दास का प्रयोग किया है, जैसे-

"दासमुनरूपेण निष्क्रयेण आर्यकुर्वतो द्वादशपण दण्ड ।"

अर्थात् छुटकारे का रूपया लेकर भी जो दास को आर्य न करे उस पर 12 पण जुर्माना किया जाय। इस वाक्य मे आर्य शब्द के साथ 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है जो आर्यकृत मे भी है।

'दास्याभार' अर्थात् भार जो स्वामी को दासी के कारण सहना पडे। इसकी व्याख्या कौटिल्य के इस आदेश से प्राप्त है कि गर्भवती दासी को उसके प्रसूति काल के लिए अर्थ व्यवस्था किये बिना जो बेचे या गिरवी रखे उसे दण्ड दिया जाय।

"दासी वा सगर्भामप्रतिविहितगर्भभर्मण्या विक्रयाधान नयत पूर्व साहसदण्ड ।"
{अर्थशास्त्र-3/13}

इस प्रकार दासी के लिए अनिवार्य रूप से करने योग्य आर्थिक प्रबन्ध 'दासीभार' पद से अभिप्रेत था।

मिश्रवर्ण

वैदिक काल मे अनुलोम -प्रतिलोम शब्द प्रचिलित हो चुके थे। मिश्रित वर्णो मे अम्बपढ का नाम आया है। स्मृतियो के अनुसार ब्राह्मण पिता और वैश्य माता की सतान अम्बष्ठ कहलाती थी।

कात्यायन मे 'महाशूद्र' नामक जाति विशेष का उल्लेख किया गया है। कशिका के अनुसार यह आभीर जाति की सज्ञा थी। आभीर महाशूद्र क्यो कहलाए। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठीूमि इस प्रकार ज्ञात होती है। शक-यवनो की तरह ही जो पतजलि के समय मे शूद्रो मे गिने गये। विदेश मे आने वाली आभीर जाति भी उसी प्रकार शूद्रो मे परिगणित हुई किन्तु सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से उनका पद ऊचा समझा गया। अत वे महाशूद्र (ऊचे शूद्र) कहलाये। इस पद मे शूद्र पद से सामान्य शूद्र और आभीर पद से विशेष प्रकार के शूद्रो का ग्रहण किया गया है। उत्तरी सिध के पूर्वी भागो मे शूद्र और उसके पास ही आभारो का बडा राज्य था।

प्राचीन शास्त्रो मे शूद्र की बडी निन्दा पायी जाती है। इसका अभिप्राय यह नही है कि आर्य लोग शूद्रो के विरोधी थे। आर्य सभ्यता मे शूद्र उसी को कहा गया है जो यत्न किये जाने पर भी पढ लिख न सके, मूर्ख का मूर्ख की बना रहे। वह ससार मे किसी प्रकार भी उन्नति नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्तियो का कार्य तो दूसरो की सेवा और उदरपूर्ति ही है। इसीलिए ब्राह्मण कहता है-

"तस्मात्पादावनेज्यन्नति वर्धते हि सृष्ट ।"

अर्थात् इसलिए पाओ को धोता हुआ अधिक बृद्धि को प्राप्त नही होता, क्योकि शूद्र पावो से उत्पन्न हुआ है।

जो अज्ञानी है वह श्रम से ही अपना जीवन निर्वाह कर सकता है। इसीलिए ब्राह्मण कहता हे-

(1) "तपो वै शूद्र ।" श0प0ब्रा0- 13/6/2/10

(2) "असुर्य्य शूद्र ।" तै0स0- 1/2/6/7

अर्थात् श्रम रूप ही शूद्र है, ज्ञानहीन ही शूद्र है।

ऐसे मूर्ख के समीप वेद पढना निरर्थक है। इसलिए ब्राह्मण कहता है-

"पशु ह वा एतच्छमशान यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतब्यम्" ।।

अर्थात् पॉव वाला चलता फिरता ही यह श्मसान है जो शूद्र है। इसलिए जिस प्रकार श्मसान मे स्वाध्याय वर्जित है वैसे ही शूद्र के समीप पढना नहीं चाहिये।

इसका भाव यही था कि शूद्र को वेद का उपदेश सुनाने का कोई लाभ नही है। मध्यकाल के तग दिल के लोगो ने यह ही समझ लिया कि यदि वेद पढने वाले के पास से भी कोई शूद्र निकल जाए, तो शूद्र को दण्ड देना चाहिए, यह भाव नवीन स्मृतिकारो का है। वैदिक ग्रन्थकारो का नहीं।

अज्ञानी होने से ही शूद्र का यज्ञ मे अधिकार नहीं है इसीलिए तैतरीय सहिता मे कहा गया है कि-

"तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त ।"
तै0स0- 71/1/6

इसीलिए शूद्र यज्ञ मे ठीक नहीं समझा गया। यही चारो वर्ण थे जो आर्य जाति के अग थे।

(ड) आश्रम

चारो आश्रमो के लिए कात्यायन ने "चतुराश्रम्य" पद दिया है। उनके नाम इस प्रकार है- ब्रह्मचारी, गृहपति, भिक्षु तथा परिब्राजक। शतपथ काल मे आश्रम प्रणाली उन्नत दशा मे थी, विशेषत ब्रह्मचर्य शिक्षा प्रणाली जिसका कुछ विस्तार से वर्णन इस प्रकार हुआ है।

ब्रह्मचारी

ब्रह्मचारी के लिए वर्णी यह नयी सज्ञा प्रयोग मे आने लगी थी। जो सहिता और ब्राह्मण साहित्य मे अविदित थी। काशिका के अनुसाद तीन उच्च्व वर्णो के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे।

"ब्राह्मणादयस्त्रो वर्णा वर्णिन उच्चते"

एक ही चरण या वैदिक शिक्षण सस्था मे अनेक ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे और इस नाते से वे आपस मे सब्रह्मचारी कहलाते थे। उदाहरण के लिए कठ चरण मे पडने वाले सब छात्र कठ सब्रह्मचारी कहे जाते थे। आज जिस प्रकार एक ही विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उपाधि के साथ शिक्षा सस्था का नाम लेकर समान सबन्ध प्रकट करते है, कुछ उसी प्रकार ही यह प्रथा थी। एक ही गुरू के शिष्य होने के कारण जो विद्या सबन्ध बनता था उसका जीवन मे वास्तविक उपयोग और महत्व था। आचार्य ब्रह्मचारी को आत्म समीप लाकर उसका उपनयन सस्कार करते थे, जिसके फलस्वरूप एक ओर आचार्य और दूसरी ओर ब्रह्मचारी को सयुक्त करने वाले एक प्रकार के नये सबन्ध का जन्म होता था। छात्र दो प्रकार के थे, माणव और अन्तेवासी। छोटी अवस्था मे सीखतर ब्रह्मचारी माणव होते थे। मातग जातक मे दण्डमाणवो को बाल कहा गया है। ब्रह्मचारी पलास का दण्ड या आसाढ और अनिज रखते थे।

ब्रह्मचर्य की अवधि

जितने दिन के लिए छात्र ब्रह्मचार्य वृत की दीक्षा लेते थे उस अवधि के अनुसार उनका नाम पडता था। वैदिक उदाहरणो से ज्ञात होता है कि पन्द्रह दिन "अर्धमसिक ब्रह्मचारी" एक महीना "मासिक " या एक वर्ष "सावत्सरिक " ब्रह्मचर्य का समय हो सकता था। वस्तुत परिमित अवधि के लिए चरणो मे प्रवृष्टि होकर अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियो की ये सज्ञाए थी। आधुनिक विश्वविद्यालयो के अल्पकालिक व्याख्यान प्रबन्ध या शार्ट-टर्म कोर्स के ढग पर वैदिक चरणो मे भी अध्ययन की सुविधाएँ मिलने वाली थी, तभी मासिक और अर्धमासिक ब्रह्मचारी जैसे प्रयोग अस्तित्व मे आए होंगे। सब प्रकार के छोटे बडे अध्ययन और ग्रन्थ-पारायणो मे भाग लेने की विद्यार्थियो को छूट थी। किसी यज्ञ विशेष

की विधि जानने की इच्छा से, या विशेष साम-गान कण्ठ करने के लिए, या कुछ ऋचाओ का पारायण सीखने के लिए एक पखवाडे या एक महीने जेसे थोडे समय के लिए भी छात्र अध्ययन का नियम लेकर अर्धमासिक या मासिक ब्रह्मचारी बन सकते थे। अडतालिस वर्ष तक ब्रम्हचर्य का व्रत लेने वाले छात्र "अष्टाचत्वारिशक" या 'अष्टाचत्वारिर्शी कहलाते थे। वेदिक साक्ष्यो से यह ज्ञात होता है कि गुरूकुलवास की यह अधिकतम अवधि थी। अडतालिस वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत आदित्य व्रत कहलाता था, जिसके धारण करने वाले ब्रह्मचारियो की सज्ञा आदित्यव्रतिक थी।

ब्रह्मचारियो के नाम करण के प्रसग मे कात्यायन ने कहा है कि व्रत के नाम से या अध्ययन के विषय के अनुसार विद्यार्थी का नाम पडता था। जैसे- महानाम्नी ऋचओ के अध्ययन का व्रत लेने वाल ब्रह्मचारी 'महानाम्निर्क कहलाता था। महानाम्नी सामवेद की नौ ऋचाओ की सज्ञा थी जिन्हे शाकरी छनद मे होने के कारण शाकरी भी कहा जाता था। गोभिलगृह्य सूत्र मे रौरूकि ब्राह्मण के आधार पर लिखा है कि किसी समय माताऍ दूध पीते बच्चे के लोरी गान मे कहा करती थीं-

हे पुत्र! तुम शाक्करी छन्दोमूलक महानाम्नी व्रत के परगामी बनो!

"अर्थाहि रौरूकि ब्राह्मणभवति- कुमारानॖ ह स्म वै मातर पाययमाना आहु शक्करीणा पुत्रका व्रत पारयिष्णवो भवतेति।"

{गोभिल गृह्य सूत्र- 3/2/7-9}

महानाम्नी पर्यनत सामवेद की समाप्ति के लिए 12, 9, 6 तथा 3 वर्ष की अवधि के विकल्प से चार प्रकार महानाम्निक व्रत होता था।

16 वर्ष की अवस्था मे गोदान-विधि के साथ समाप्त होने वाले व्रह्मचर्य काल के लिए यह विशेषण प्रयुक्त होता था।

पूर्व नियत उद्देश्य और परिमित काल के लिए शिक्षा की सुविधा का उल्लेख उपनिषदो मे आता है। जहॉ जिज्ञासु कुछ समय के लिए आचार्य के पास ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते है। विशेष उच्चशिक्षण के लिए और बढी हुई ज्ञान पिपासा की तृप्ति के लिए इस प्रकार की व्यवस्था अत्यन्त उपयोगी थी।

स्नातक

अध्ययन समाप्त होने पर ब्रह्मचारी आचार्य की अनुमति से स्नातक बनता था। वेदाध्ययन की समाप्ति पर स्नातक बनने का उचित समय समझा जाता था। विद्या विशेष

मे अतिशय प्रवीण स्नातक 'निष्णात' कहे जाते थे। पीछे चल कर यह शव्द कौशल के लिए प्रयुक्त होने लगा। 'स्रग्वी' पद भी सभवत स्नातक के लिए ही प्रयुक्त होने लगा था।

स्रक ब्रह्मचर्य व्रत समाप्ति का विशेष चिन्ह थी। अकाल मे व्रत छोडकर गृहस्थ वन जाने वाले छात्रो का ब्यग्य से 'खटवारूढ' कहा जाता था। ब्रह्मचारी के लिए खाट का प्रयोग निसिद्ध होने के कारण 'खटवारूढ' पद निरर्थक माना गया था।

गृहपति

विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति के लिए प्राचीन काल मे 'गृहपति' की सज्ञा दी गयी थी। विवाह के समय प्रज्वलित हुई अग्नि ग्राहपर्त्य कहलाती थी, क्योकि गृहपति उससे सयुक्त रहता था। अग्नि-साक्षिक विवाह से आरम्भ होने वाले गृहस्थ जीवन मे गृहपति लोग जिस अग्नि सूत्रो को गृह यज्ञो के द्वारा निरतर प्रज्वलित रखते थे, उस अग्नि के लिए ही 'गृहपतिना सयुक्त' यह विशेषण चरितार्थ होता है। विवाह के समय का अग्निहोम एक यज्ञ था। उस यज्ञ मे पति के साथ विधि पूर्वक सयुक्त होने के कारण विवाहिता स्त्री की सज्ञा पत्नी होती थी।

पति-पत्नी दोनो मिलकर वैवाहिक अग्नि परिचर्या करते थे। गृह्य अग्नि मे आहुत होने वाले अनेक स्थालीपाक उस समय किये जाते थे।

पुत्र पौत्रो से सुखी सम्पन्न पति-पत्नी सप्रज, बहुप्रज तथा पुत्रपौत्रीण कहलाते थे। घर या कुटुम्ब का बडा-बूढा बृद्ध या वश्य कहलाता था। उसके जीवन काल मे दूसरे लोग चाहे वे किसी भी आयु के हो, युवा कहलाते थे। कुटुम्ब के बृद्ध और युवा सदस्यो के नामो मे भिन्न-भिन्न प्रत्ययो का प्रयोग होता था। गर्ग कुल के बृद्ध या वश्य की सज्ञा 'गार्ग्य' और उसी कुल के युवा सदस्यो की सज्ञा 'गार्ग्यायर्ण' होती थी। गार्ग्य और गार्ग्यायण के भेद का सामाजिक मूल्य था। प्रत्येक कुल को अपनी बिरादरी, जाति या समाज की पचायत मे वास्तविक सत्ता प्राप्त थी। कुल का बडा बूढा उसका उसका प्रतिनिधित्व करता था। गार्ग्य के जीवन काल मे उस कुल की पगडी गार्ग्य के सिर की बाधी जाती थी और वही उस कुटुम्ब प्रतिनिधि माना जाता था। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका सगा बडा बेटा जो कल तक गार्ग्यायण था, कुल के प्रतिनिधित्व का दृष्टि से गार्ग्य बन जाता था। इस परिवर्तन को उस बिरादरी के समस्त कुटुम्बो के प्रतिनिधि एकत्र होकर गार्ग्यायण के सिर पगडी बॉधकर स्वीकार करते थे, और उस दिन से उस कुटुम्ब के लिए वह गार्ग्य कहलाने लगता था। पगडी बॉधकर पट्टाभिषेक करने की यह प्रथा आज तक प्रचिलित है।

पिता के उपरान्त पुत्र उसके सीन पर अपने कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करने का अधिकारी होता था। किन्तु यदि कोई बडा-बूढा, दादा, ताऊ या चाचा उस कुटुम्ब मे

जीवित हो तो अपने पिता की दृष्टि से जिस गार्ग्यायण ने गार्ग्य पद प्राप्त कर लिया था वह बडे-वृढे ताऊ-चाचा की दृष्टि से गार्ग्यायण ही कहलाता था।

विरादरी की पचायत मे प्राय वडा-बूढा, ताऊ-चाचा ही उस कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करता रहता था। बडे भाई के जीवित रहते हुए सब छोटे भाई 'युवा' कहलाते थे। वडा भाई गार्ग्य और छोटा भाई गार्ग्यायण सज्ञा के अधिकारी थे।

द्वितीय परिच्छेद

विवाह

विवाह के लिए उपनयन शब्द का प्रयोग वैदिक काल मे किया गया है। पति के द्वारा पत्नी का पाणिग्रहण किये जाने पर विवाह सस्कार सपन्न समझा जाता था। पाणिग्रहण के द्वारा ही पति-पत्नी को अपनी वनाता था। मनु के अनुसार केवल सवर्णा स्त्रियो के साथ विवाह पाणिग्रहण द्वारा होता था। विवाह के सम्पन्न होने पर वर के द्वारा वधू के पाणिग्रहण का महत्व 'पाणिगृहीतीं शब्द से प्रकट होता है। जो कात्यायन के अनुसार विधिवत् परिणीता पत्नी की सज्ञा थी। इसके विपरीत 'पाणिगृहीतां शब्द विधिवत् परिर्णाता स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था।

"यस्या हि यथा कथञ्चित पाणिगृह्यते"

विवाह के फलस्वरूप पति का पत्नी पर स्वामित्व हिन्दू धर्म शाम्त्र का सुविदित नियम था। रोम देश के पुराने कानून के कौमार, यौवन और वार्धक्य किसी भी अवस्था मे स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं माना जाता था, और पिता, पति या पुत्र की सरक्षकता अनिवार्यत अपेक्षित थी। "मेन" के अनुसार पुत्री के ऊपर पिता की सरक्षकता का यह कृत्रिम अभिवर्धन था।

वैसी ही स्थिति मनु के मानव धर्म शास्त्र मे कही गयी है-

"पिता रक्षति कौमारे, भर्तारक्षित यौवने।
रक्षन्ति सींविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रय मर्हति।।"

कानूनी व्यक्तित्व की दृष्टि से विवाहित स्त्री का पति से पृथक कोई निजी तन्त्र प्राचीन धर्मशास्त्र मे मान्य नही था, किन्तु दोनो अभिन्न या एकीकृत तत्र समझा जाता था।

"यो भर्ता सा स्मृताग्ना"
{मनु}

विवाह के समय पिता कन्या के सम्बन्ध मे अपना स्वामित्व भावी पति को कन्यादान के द्वारा हस्तान्तरित करता है और पति उस दान को त्रिवाचा स्वीकार करता हुआ उस स्त्री को ग्रहण करता है, अर्थात् जो वस्तु अपनी नहीं थी उसे अपनी बनाता था।

"अस्व स्व करोति"
{भाष्य- 1/3/56}

मनु के अनुसार कन्यादान का फल पति का स्वामित्व है-
{"प्रदान स्वाम्य कारणम्"}
{मनु 5/152}

अर्थात् कन्या के अनुसार पिता का स्वाम्य (सरक्षकत्व) समाप्त हो कर पति मे सक्रान्त हो जाता था। पति के द्वारा इस प्रकरण की मर्यादा का सूक्ष्म विचार मीमासा-शास्त्र मे किया गया है जहाँ सर्वस्वदक्षिण (जिसमे सब कुछ दक्षिणा मे देना आवश्यक हो) विश्वजिन् नामक यज्ञ मे पत्नी के ऊपर पति का अधिकार एक जीवित प्रश्न वनकर सामने आता था।

जिस कन्या से पुरूष विवाह करता था वह 'कुमारी होती थी। पतञ्जलि ने कुमारी को अपूर्वपति कहा है। अनन्य पूर्विका कुमारी कन्या विवाहोपरान्त कौमारी आर्या और उसका पति कौमार पति इन प्रशस्त विशेषणो से अभिहित होते थे। विवाहित पति-पत्नी एक साथ यज्ञ आदि गृह कर्म मे प्रयुक्त होते थे। पति के साथ यज्ञ सयुक्त होने के अधिकार से ही स्त्री को पत्नी का स्थान प्राप्त था।

स्वाभाविक पत्नी अपने पति की पद प्रतिष्ठा की भी अधिकारिणी बनती थी। पति के पदानुकूल पत्नी का नाम भी व्यवहार मे आता था। जैसे महापात्र (एक उच्च राजकीय अधिकारी) की स्त्री महापात्री और गणक (अर्थ-विभाग का उच्च अधिकारी) की स्त्री गणकी कही जाती थी।

विवाह सबन्ध अपने गोत्र से बाहर करने की प्रथा थी। जैसा कि अब भी है। विवाह सबन्ध मे जो दो गोत्र आपस मे एक दूसरे के साथ बधते थे, स्वभावत उनके नामो का जोडा एक साथ बोला जाता था। इसके उदाहरणो मे पतञ्जलि ने प्रसगवश पॉच नामो का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है-

(1) अत्रि-भरद्वाजिका
(2) वशिष्ठ-कश्यपिका
(3) भृग्वङ्गिरसिका
(4) कुशिकिका
(5) गर्गभार्गविका

अत्रि-भारद्वाज, वशिष्ठ-कश्यप आदि गोत्रों का पारस्पिरिक विवाह सवन्ध यहा इस प्रकार के नामो के प्रयोग मे हेतु था। यद्यपि कन्या का विवाह बडा जघन्य कार्य हे, पर कहीं-कहीं यह प्रथा प्रचलित ही होगी। इस सदर्भ मे ब्राम्ह्यण कहता है-

(1) "तस्माद्दुहितृमतेऽधिरथ शत देय, इतीह क्रयो विज्ञायते।"

अर्थात् इसलिए कन्या वाले के लिए सौ मुद्रा और रथ देना चाहिये। मैत्रीयणी सहिता मे ऐसा ही भाव है।

(2) "अमृत वा एषा करोति या पत्यु क्रीता सत्यथान्यैश्चरति।"
मैत्रीयणी सहिता- 1/10/11

अर्थात् झूठी बात भी वह करती है, जो पति से खरीदी हुई दूसरो के साथ सगति करती है।

रजस्वला स्त्री के सबन्ध मे धर्मशास्त्रो मे जो अनेक नियम बनाए गए है, उनका मूल वशिष्ठ धर्म सूत्र मे किसी ब्राह्मण ग्रन्थ ये दिया गया है।

(3) "विज्ञायते हि- तस्माद्रजस्वलाया अन्न नाश्नीयात्।"
वाशिष्ठ धर्म सूत्र- 5/8/

अर्थात् ब्राम्ह्यण मे कहा गया है- इसलिए रजस्वला स्त्री का (पकाया हुआ या छुआ हुआ) अन्न न खावे।

भातृहीना कन्या से विवाह अच्छा नहीं समझा जाता। इस विषय मे निरूक्ति- 3। 5। का एक प्रमाण है। वह प्रमाण भाल्लवियो के ब्राम्ह्यण या सहिता से लिया गया है। ऐसी बालक्रीडा मे विश्व रुप ने लिखा है।

(4) "नाभ्रात्रीमुपयच्छेत् तत्तोक हास्य भवति, इति भाल्लविना श्रुते।"

अर्थात् भातृहीना कन्या से विवाह न करे, उस कन्या का बालक कन्या के पिता के कुल मे चला जाता है।

इसी विषय मे वशिष्ठ धर्म सूत्र मे एक और ब्राह्मण से पाठ लिया गया है।

(5) "विज्ञायते- अभ्रातृका पुस पितृनभ्येति प्रतीचीन गच्छति पुत्रत्वम्।।"

अर्थात् ब्राह्मण से जाना जाता है, भ्रातृहीना कन्या (अपने कुल के) पितरो को लौटाती है, लोटती हुई वह उनका पुत्र बनती है।

गृहस्थ मे रहते हुए मनुष्य से अनेक पाप हो सकते है। पिछले जन्मो के पाप कर्मो और इस जन्म के पाप कर्मो का फल दुख है। पाप क्या है? ईश्वरीय सृष्टि मे जो ऋतरुप के स्थायी नियम चल रहे है उनको उलट-पुलट करने का यत्न करना और आत्मोन्नति मे बाधा डालना पाप है, ईश्वरीय सृष्टि मे मुख रूप से तेतीस देवता काम कर रहे है। वे अग्नि, वायु, जल, सूर्य आदि है। जो अग्नि को अपने आराम के लिए तो प्रयोग करता है, परन्तु उसके स्वच्छ रखने का यत्न नहीं करता, जो वायु को दुर्गन्ध युक्त करता है, जो जल को अपवित्र करता है, जो सूर्य की रश्मियो को विगाडता है, वह पाप कर रहा है।

जो पुरुष अनियम पूर्वक चलने से अपने शरीर के अन्दर भी इन देवताओ को गन्दा करता है वह पाप करता है। जो पुरुष ज्ञान मे उन्नति नहीं करता है, अनृतवादी है। वह भी पाप कर रहा है, और भी अनेक पाप है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे उनका उल्लेख पाया जाता है। उन सबको करने से पुरुष को दुख होता है, वेदना होती है। उसके जीवन का सुख हट जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थो में इन सब पापों से बचने का उपदेश है। यदि इनमे से कोई भूल हो भी गयी है तो भी ब्राह्मण कहता है कि ईश्वरीय सृष्टि में जिस-जिस नियम के तोडने से तुम्हे फल रूप मे दुख मिलता है, उनहे यदि स्वय ठीक कर दो तो तुम्हे दुख नही होगे।

दुखो को दूर करने का एकमात्र उपाय यज्ञ है। इस यज्ञ से सारी सृष्टि पा हमारा राज्य हो जाता है। हम अपनी भूलो को दूर करने का एक उपाय यज्ञ से ही करते है। अमावस्या को प्रकृति चन्द्रमा रूप मे शक्ति नहीं देती और पूर्णिमा को प्रकृति से शक्ति लेने के लिए यज्ञ का विधान है।

पहले अपने भूलो अथवा पापो का कुछ वर्णन करके फिर यज्ञो का वर्णन किया जायेगा। वैसे तो पाप पुण्य प्राचीन धर्म सूत्रो और मानव धर्म शास्त्र मे कहे गये वे सब ही ब्राह्मणो मे मिलते होगे, परन्तु इस समय सब ब्राह्मण नहीं मिलते। इस समय तो क्या, सम्प्राप्त धर्म सूत्रो के सकलन काल मे भी अनेक ब्राह्मण ग्रन्थ नष्ट हो गये थे।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र मे कहा गया है कि-

(6) "ब्राह्मणोक्ता विधयस्तेषामुत्सन्ना पाठा प्रयोगादनुमयन्ते।"

आ0 ध0 सू0- 1/4/12/10

अर्थात् धर्म शास्त्रोक्त विधियॉ ब्राह्मणो मे कही गयी है। पर ऐसे प्रमाणो वाले ब्राह्मण नष्ट हो गये है।

इसलिए अब तो धर्म शास्त्रो के अनेक प्रयोग से ही उन पाठो का आग्स्तित्व अनुमान किया जा सकता है। ऐसी अवस्था मे सब पाप पुण्यो का वर्णन तो इन ब्राह्मणो मे मिल ही नही सकता।

किन्तु यह अनेक प्रमाणो से स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म शास्त्र के समान प्रवक्ता थे। यह आवश्यक नही कि पाप और पुण्य का विस्तृत विचार ब्राह्मणो मे मिले। ब्राह्मण तो इस विषय को भी प्रसगवत ही कहते है। इसलिए समान दृष्टि से देखा जाय तो ब्राह्मण गन्थो मे विवाह का प्रचुर मात्रा मे अत्यधिक महत्व पूर्णवर्णन मिलता है।

तृतीय परिच्छेद

गृहस्थ में स्त्रियों की दशा

आधिदैविक तत्वो का वर्णन करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञो का ही अधिकाश मे कथन करते है। यज्ञो का करना गृहस्थो का ही काम है।

गृहस्थ आश्रम स्त्री पुरुष दोनो के मेल से चलता है। इसलिए सुखी गृहस्थ के लिए कैसी देवियॉ होनी चाहिए, स्त्रियो का क्या अधिकार है, इत्यादि विषयो पर जो ब्राह्मण ग्रन्थो मे लिखा है, उसका वर्णन इस प्रकार है।

(1) "एचमिव हि योषा प्रशसन्ति पृश्रोणिर्विमूष्टान्तरा सा मध्ये सग्राह्येति।"

अर्थात् इसी सूरत वाली स्त्री की प्रशसा करते है। स्थूलाग्र जघना, कन्धो के बीच छाती के ऊपर का भाग श्रोणी की अपेक्षा कुछ तग और मध्य मे (कमर मे) सिकुडी हुई हो।

(2) "पश्चाद्वरीयसी पृथुश्रोणिरिति वै योषा प्रशसन्ति।।"
शतपथ ब्राह्मण- 3/5/1/11

अर्थात् पीछे से चौडे जघन वाली मोटी श्रोणी वाली स्त्री की प्रशसा करते है।

(3) "तस्माद्रूपिणी युवति प्रिया भावुका।"
शतपथ ब्राह्मण- 13/1/9/6

अर्थात् इसीलिए रूपवती स्त्री (युवती) मनुष्यो को प्यारी होने वाली होती है।

(4) "एतदु वै योषयै समृद्ध रूप यत् सुकपर्द्दा-सुकपर्द्दा सुकरीरा स्वौपशा।।"
शतपथ ब्राह्मण- 6/5/1/10

अर्थात् स्त्री का यही समृद्ध रूप है, जो यह सुन्दर लम्बे केशो के जूडेवाली, सुन्दर माथ वाली और सुजघना है।

इन गुणो वाली स्त्री से पुरुष विवाह करे क्योकि-

(5) "अयज्ञो वा एष योऽपत्नीक ।"
तै0ब्रा0- 2/2/2/6

अर्थात् वह यज्ञ का अधिकारी नही हो सकता, जो पत्नी हीन है।

(6) "अर्धो अर्द्धो व एष आत्मन । यत्पत्नी।"
तै0 ब्रा0- 3/3/3/5

अर्थात् यह शरीर का आधा भाग है, जो पत्नी है।

इसीलिए साधारण भाषा मे भी स्त्री को अर्धांगी कहते है। प्राचीन काल से ही यह भाव आर्य जाति के हृदय मे बना चला आ रहा है। आर्य स्त्रियो का ब्राह्मण काल मे बडा सम्मान था। इस सम्बन्ध मे कहा गया है-

(7) "श्रिया वा एतद्रूप यत्पत्न्य ।"
तै0 ब्रा0- 2/9/4/7

अर्थात् ये पत्नियॉ साक्षात श्री (लक्ष्मी) का रुप है।

ब्राह्मणो मे जहॉ स्त्री को कुछ नीची दृष्टि से देखा गया है, वहॉ गृहस्थ की दृष्टि से नही प्रत्युत ब्रह्मचर्य आदि व्रतो का नियम पालन करने के लिए यज्ञ विशेषो मे ही ऐसा किया गया है।

प्रवर्ग्य के वर्णन मे शतपथ कहता है-

(8) "अनृतस्त्री शूद्र श्वा कृष्णा शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत् ।"
शतपथ ब्राह्मण- 14/1/1/31

अर्थात् स्त्री, शूद्र, कुत्ता और काला पक्षी (कौआ) अनृत झूठ है इन्हे न देखे।

मैत्रीयणी सहिता मे इसी भाव से कहा गया है कि-

(9) "त्रया व नैर्ऋता अक्षा स्त्रिय स्वप्न ।"
मै0 स0- 3/6/3

अर्थात् तीन निर्ऋति सम्बन्धी है। पासा, स्त्रिया और स्वप्न।

स्त्रियो की प्रकृति के विषय मे ब्राह्मण मे एक ऐसी बात कही गयी है जो अभी तक ससार मे सत्य सिद्ध हो रहा है।

(10) "तस्मादप्येतर्हि मोघस हिता एव योषा। तस्माद्य एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतमा इव।"

शतपथ ब्राह्मण- 3/2/4/6

अर्थात् इसीलिए आज तक स्त्रिया बातो की ओर जाती है। अत जो नाचता है, जो गाता है, उसी को ये तत्काल चाहने वाली होती है।

(11) "तस्माद्गायन्त स्त्रिय कामयन्ते।"

तै0 स0- 6/1/6/44

(12) "तस्माद्गायन्स्त्रिया ।"

मै0स0- 3/7/3

अर्थात् (गाथा को देवो गया और वेद का गन्धर्वो को छोड देवो के समीप चली गयी इसीलिए विवाह मे गाथा गाते है।) इसलिए गायक स्त्री को प्रिय होता है।

यह बात सारे ससार मे पायी जाती है। साणारण स्त्रिया गाने बजाने मे ही अपना समय व्यतीत करती है, और गाने वालों को प्यार करती है।

साधारण स्त्रियो के काम करने के विषय में भी प्राचीन काल का एक दृश्य ब्राह्मण ग्रन्थ उपस्थित करता है।

(13) "तद्धऽएतत्स्त्रीणा कर्म यदूर्णासूत्रम्।"

श0 प0 ब्रा0- 12/7/2/11

अर्थात् यही स्त्री का कर्म है जो ऊन और सूत आदि काते।

जैसा हर काल मे देखा जाता है अनेक स्त्रिया पतिव्रत धर्म का पालन नहीं करती। इसलिए वे कुलटा बन जाती है।

ब्राह्मण ग्रन्थ मे वैदिक भाव को दर्शाते हुए स्त्री के पतिव्रत धर्म पर बल दिया गया है। स्त्री जिस मनुष्य की एक बार हो जावे, सदा उसी की बनकर रहे।

शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है।

(1) "स पत्नीमुदानेष्यन्पृच्छति केन चरसीति वरुण्यवाऽएतत्स्त्री,
करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथोनेन्मऽन्त शल्या जुहवदिति।
तस्मात्पृच्छति निरुक्तवाऽएन कनीयो भवति तस्माद्वेव,
पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हाम्यैतदहित स्यात्।।"

अर्थात् (वह प्रतिप्रस्थता यजमान की) पत्नी को दूर ले जाने के समय पूछता है किसके साथ तू सगति करती है। वरूण सबन्धी (पाप) वह स्त्री करती है। जो दूसरे की होती हुई, दूसरे के साथ सगति करती है। वह अपने मन मे गुप्प पीडा रखती हुई हवि न दे, इसलिए पूछती है। "स्वीकार किया हुआ पाप थोडा रह जाता है। शतपथ ब्राह्मण मे वरूण सबन्धी पाप के विषय मे कहा गया है-

"वरूणो वा एत गृहणाति य पाप्माना गृहीतो भवति।"
शतपथ ब्राह्मण- 12/7/2/7

अर्थात् वरूण उसे ग्रहण करता है, जो पाप से गृहीत होती है।

वह सत्य ही हो जाता है। यही कारण है कि वह पूँछता है। वह स्त्री जो कुछ स्वीकार नही करती वह उसके सबन्धियो के लिए अहित होगा। (जिसको वह चाहती, वे दु खी होगे)

पति यदि गुपाहीन भी हो, तो भी स्त्री धर्म उसकी सेवा करना ही है। इस विषय मे सुकन्या के आख्यान रूप में ब्राह्मण का वचन है।

(2) "सा (सुकन्या) हो वाच यस्मै मा पिताऽदान्नैवाह त जीवन्त हास्यामीति।"
शतपथ ब्राह्मण- 4/1/5/9

अर्थात् वह (सुकन्या अश्विद्वय को) बोली जिस मनुष्य के लिए मेरे पिता मे मुझे दे दिया उसके जीते जी मै उसे नहीं छोडूगी।

आचार्य विश्वरूप अपनी बालक्रीडा टीका के 1/96 में इसी वचन का अभिप्राय लिखते हुए कहता-

(3) "एव च सत्याम्नाया अऽपि क्षत्रियविषया एव नैवाह्र त जीवन्त हास्यामि, इत्यादि।"

अर्थात् यह वाक्य क्षत्रियों के नियोग विषय का माना जा सकता है। जीने मे समर्थ पुरुष को स्त्री न त्यागे यह ब्राह्मण का अर्थ है।

(4) "पतयो ह्योव स्त्रियै प्रतिष्ठा।"

श0 प0 ब्रा0- 2/6/2/14

अर्थात् पति ही स्त्री के लिए प्रतिष्ठा है।

(5) "गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा।

श0 प0 ब्रा0- 3/3/1/10

अर्थात् घर मे ठहरना ही पत्नी की प्रतिष्ठा है।

प्राचीन काल मे गार्गी आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियॉ सभाओ मे जाती थीं, पर साधारण स्त्रियॉ सभा मे नहीं जाती थीं। प्राचीन काल मे ऐसी प्रथा थी।

मैत्रीयणी सहिता मे कहा गया है कि केवल पुरुषो को ही सभाओ मे जाने का अधिकार है।

(6) "तस्मात्पुमा स सभा यन्ति न स्त्रिय ।"

मै0 स0- 4/7/4

अर्थात् पुरुष ही सभा आदि मे जाते थे स्त्रियॉ नहीं।

वशिष्ठ धर्म सूत्र मे काठक ब्राह्मण का यह पाठ अत्यन्त समीचीन दृष्टि गोचर हो रहा है। जिसमे स्त्रियो के विषय मे कुछ शब्द दिये गये है।

(7) "अऽपिन श्वो विजनिष्यमाणा पतिभि सह शयीरन्नित स्त्रीणामिन्द्र दत्तो वर इति।।"

वा0 शि0 धर्म सूत्र- 12/34।।

अर्थात् (जो नराधम है, और किसी समय भी सयमी नही रह सकता, उसका कथन करके स्त्रियॉ इन्द्र से बोली) हममे से वे भी जो कल ही बच्चा जनने वाली है, पतियों के साथ सोवे। यह वर स्त्रियो को इन्द्र दे दिया।

प्राचीन काल से स्त्रियों के सम्मान में अनेक ग्रन्थो के माध्यम से मनीषियो ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। एक मनीषी ने तो नारी जाति के सम्मान मे यहॉ तक कह दिया कि जहॉ पर नारियो का सम्मान होता है वहॉ देवता निवास करते है।

"यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।"

नारियो के बध के लिए तो हमे कोई शास्त्र आज्ञा नही देता। नारी वध अत्यन्त घृणित तथा निन्दनीय कर्म है जो मानव जाति के लिए वर्जित है।

इस विषय मे शतपथ ब्राह्मण कहता है-

(8) "न वै स्त्रिय घ्नन्ति।"
शतपथ ब्राह्मण- 11/4/3/2

अर्थात् (प्रजापति देवताओ से बोला) स्त्री हत्या नहीं करना चाहिए।

स्त्री जाति तो किसी पर प्रहार नहीं करती इसके विषय मे शतपथ कहता है-

(8) " न वै योषा कचन हिनस्ति।"
श0 प0 ब्रा0- 6/3/1/39

अर्थात स्त्री किसी को नहीं मारती या किसी पर प्रहार नहीं करती।

शतपथ काल मे स्त्रियो के जीवन के अनेको क्षेत्रो का परिचय मिलता है। कुमारी, पत्नी, माता, छात्रा, आचार्या आदि दशाओ मे उसके जीवन की कुछ झॉकी तत्कालीन भाषा के शब्दो मे आ गई है। आयु के प्रथम भाग मे वह कुमारी, किशोरी और कन्या कहलाती थी। कुछ स्त्रियॉ आजीवन अविवाहित रह जाती थीं। वे बडी आयु होने पर भी कुमारी की कहलाती थी। जैसे, बृद्ध कुमारी, जरत्वकुमारी।

कन्यावस्था मे ही अवैध सम्बन्ध से जो पुत्र उत्पन्न होता था, वह 'कानीन' कहलाता था। मनु ने बारह प्रकार के पुत्रो मे कानीन भी कहा गया है। पतञ्जलि ने आपत्ति उठाई है कि यदि कन्या है तो पुत्र कैसा होगा, और पुत्र हो गया है तो कन्या कैसी? कन्या और पुत्र मे आपस मे विरुद्ध है। उन्होने यह कह कर उसका समाधान किया है कि विवाह सबन्ध मे बध जाने के बाद पुरुष के साथ शरीर-सबन्ध होने पर स्त्री का कन्या कहलाना बन्द हो जाता है। किन्तु विवाह सबन्ध से पहले पुरुष के साथ जो शरीर सबन्ध सीापित कर लेती है उसके लिए भी लोक मे कन्या शब्द चालू रहता है। जिसको लोग कन्या कहत या मानते रहे वही कन्या है।

विवाह योग्य अवस्था प्राप्त होने पर कन्या 'वर्या' कहलाती थी। ज्ञात होता है कि वर्या कन्या थी जो बिना रोक-टोक बरी जा सके। काशिका मे इसके दो उदाहरण है-

"शतेन वर्या" "सहस्रेण वर्या"। टीकाकारो ने ऐसा अर्थ किया है, कि जो सो पुरुषो से अथव सहस्र पुरुषो से वरण के लिए उपलब्ध हो वह 'वर्या' है। पर ज्ञात है कि शत और सहस्र शव्द कर्षापण वाची है। सौ या हजार चॉदी के कर्षापण पिता को कन्या-शुल्क देने पर जिस कन्या को बिना रोक-टोक कोई भी वर सके उसके लिए 'वर्या' शब्द था। इसके विरुद्ध जिस कन्या के लिए इस प्रकार वेरोक-टोक मगनी का अवसर न हो और जिसके लिए माता-पिता सबन्ध नियत करे उसकी सज्ञा वृत्या थी। वर्या शव्द नित्य स्त्रीलिग था। पुल्लिग अर्थो मे इसी का उदाहरण 'वार्यात्रृत्विज ' काशिका ने दिया है, जिसका अर्थ होगा वे पुरोहित जिन्हे नियत शुल्क (दक्षिणा) देने पर कर्म के लिए चुना जा सके जो कन्या स्वय अपना पति चुनती थी उसके लिए 'पतिवरा' शब्द था।

पत्नी-

वधू, जनी और उसकी या वर की भी सखियॉ जन्या कहलाती थी। नव विवाहिता वधू के लिए लोक और वेद दोनो भाषाओ मे समुग्ली शब्द चलता था। विवाहिता स्त्री के लिए जाया, पत्नी और जानि शब्द प्रयुक्त होते थे।

युवती स्त्री और बृद्धा स्त्री का पति क्रमश युवजानि और बृद्धजानि, कहलाता था। पति-पत्नी, जिसका पति जीवित हो, इस विशेष पद से ध्वनित होता है कि पति के जीवन काल मे पत्नी गृहस्वामिनी होती थी। सपत्नी शब्द बहु-विवाह की प्रथा का सूचक है।

"ऐसी बडी बहन पति का जिसका विवाह छोटी विवाह छोटी बहन के बाद हो 'दिघिषू' पति कहलाता था।"

प्राचीन काल मे वशीकरण मन्त्रो का भी उल्लेख किया गया है, जिनका जप करके पुरुष स्त्री के हृदय को अपने वश मे कर लेता था। ये मत्र वैदिक थे, जो अथर्व वेद मे सग्रहीत है। स्त्री-हृदय को बाधने वाले ये मन्त्र प्राचीन काल मे 'हृद्य' कहलाते थे।

अच्छे शील वाली माता का पुत्र भद्र मातुर और रूपवती माता का कल्याणिनेय कहलाता था। पिता का गोत्र ज्ञात होने पर माता के गोत्र के अनुसार पुत्र का नाम पडता था, किन्तु इस प्रकार के नाम से कुछ निन्दा या हेठी (कुत्सन) सूचित होती थी।

उदाहरण के लिए गर्ग गोत्र मे उत्पन्न गार्गी के पुत्र का नाम 'गार्गिक' हो सकता था, किन्तु वह गोत्र जनपद और वैदिक चरणो के नाम से स्त्रियो के नामकरण की प्रथा का वैदिक काल में पर्याप्त उल्लेख आया है। इससे स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा ओर गौरवात्मक स्थिति का सकेत मिलता है। एक जनपद मे उत्पन्न राजकुमारियॉ या स्त्रियॉ

विवाह के बाद जब दूसरे जनपद मे जाती थीं तब पति गृह मे वे अपने जनपदीय नाम से पुकारी जाती थीं।

राजस्थान के राजघरानो मे प्राय अभी तक यह प्रथा विद्यमान है, जैसे हाडौती या ढूँढारी रानी महाभारत काल मे प्राय सब प्रसिद्ध स्त्रियो के नाम "माद्री, कुन्ती, गाधारी" आदि इसी प्रकार के है।

अवन्ति जनपद के क्षत्रिय कन्या अवती, कुन्ति जनपद या कौतवार देश की राज कुमारी कुती, कुरू राष्ट की राजकुमारी कुरू, भर्ग जनपद की राजकुमारी भार्गी आदि।

पञ्चाली, वैदेही, आगी, वागी, मागधी, ये नाम प्राच्य देश के जनपदो की स्त्रियो के थे। वैदिक काल मे यौधेय नामक गणराज्य की स्त्री के लिए "यौधेयी" शब्द का उल्लेख आया है। भारत वर्ष के पूर्वी भागो मे स्त्रियो के नाम मे 'भायन' प्रत्यय का बहुधा प्रयोग होता था।

गर्ग गोत्र की स्त्री पूर्व मे 'गार्ग्यायणी' और अन्यत्र "गार्गी" कहलाती थी।

शिक्षा के क्षेत्र मे भी स्त्रियो का सम्मानित स्थान था, यहाँ तक कि चरण सज्ञक वैदिक शिक्षा केन्द्रो मे भी वे प्रविष्ट होकर अध्ययन करती थीं। जातिवाची स्त्रीनामो मे गोत्र और चरणवाची नामो का ग्रहण सब आचार्यो ने माना है। कृष्ण यजुर्वेद की प्रसिद्ध शाखा का एक चरण कठ था। उसके सस्थापक आचार्य कठ सुप्रसिद्ध आचार्य वैशम्पायन के अन्तेवासी थे। कठ के चरण मे विद्या अध्ययन करने वाली स्त्रिया कठी कहलाती थीं। इसी प्रकार बह्वृच नामक ऋग्वेद के चरण मे अध्ययन करने वाली ब्रह्मचारिणी कन्याएँ बह्वृची सज्ञा की अधिकारिणी थीं। इससे ज्ञात होता है कि चरणो मे जो मान मर्यादा छात्रो को होती थी, वही छात्राओ के लिए भी थी। अन्य उदाहरण सूचित करते है कि मीमासा और व्याकरण जैसे जटिल विषयो का अध्ययन भी स्त्रियॉ करती थीं।

शिक्षा मे प्रवीण माणविका के साथ विवाह करने वाला पति उसके कारण अपने आपको गौरवान्वित मान कर उसके नाम से अपना नामकरण करता था, जैसे-

"औपगवी माणविका भार्या अस्य औपगवी भार्य ।
गलुचुकायनी माणविका भार्या अस्य ग्लुचुकायनीभार्य ।"
{भाष्य- 4/1/93 वा0-9}

स्त्री चरणो के सस्थापक, साग सरहस्य वेद का अध्ययन कराने वाले उपनयन कराने के अधिकारी महान आचार्य शिक्षा के क्षेत्र मे सर्वोच्च पद के अधिकारी थे। उन्ही की कोटि पर पहुँच कर अध्यापन कार्य कराने वाली विशिष्ट स्त्रियॉ आचार्या जैसे पद

की अधिकारिणी होती थी। पुरुषो के समान साग रहस्य वेद का अध्यापन कराने और माणविकाओ का उपनयन कराने का जिसे अधिकार हो वही आचार्या हो सकती थी। शिक्षा की ऐसी उन्नत दशा मे छात्राओ के लिए अलग आवास स्थानो का प्रबन्ध भी किया जाना आवश्यक था।

ज्ञानोपवर्जन की यह प्रवृत्ति कभी-कभी यहाँ तक बढती कि स्त्रियाँ आयु पर्यनत अविवाहित रहकर नौष्ठिक भिक्षुणियो का जीवन व्यतीत करती थीं। यास्क ने परिब्राजक नामक आचार्यो का उल्लेख किया है जो सभवत सन्यास धर्म के अनुयायी थे। गणपाठ का "कुमार प्रव्रजिता" शब्द उस सम्प्रदाय की नौष्ठिक व्रतचारिणी स्त्रियो के लिए प्रयुक्त हुआ जान पडता है।

भ्रमण शब्द प्राय ब्राह्मणेत्तर सन्यासियो के लिए प्रयुक्त होता था। अशोक के लेखो मे "ब्राह्मण- श्रमण" यह पद बहुधा आता है। यहाँ भ्रमण शब्द अवश्य ही बौद्ध भिक्षुओ के लिए है। कौमार अवस्था मे सन्यास लेकर भिक्षुणी बनने की व्यवस्था बुद्ध ने स्त्रियो के लिए की थी। बुद्ध के समय मे भिक्षुणी सघ नियमित सस्था बन गयी थी। कुमारी श्रमणा या कुमार श्रमणा पद का प्रयोग भाषा मे भिक्षुणी सघ की सीपना के बाद ही चलने की अधिक सभावना थी।

चतुर्थ परिच्छेद

सामाजिक सस्थाऐं

इस शीर्षक के अर्न्तगत अनेक सम्थाएँ आती है, जो इस प्रकार है-

(1) जनपद।
(2) वर्ण और जाति।
(3) सगोत्र।
(4) सपिण्ड।
(5) सनाभि।
(6) ज्ञाति।
(7) सयुक्त।
(8) कुल।
(9) वश।
(10) गृहपति।

(1) जनपद-

लगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व से लेकर शतपथ काल तक का समय जनपदो के विकास और अभ्युदय का युग था। इसीलिए भारतीय इतिहास मे यह महाजनपद युग कहा जाता है। उस समय जनपद, चरण और गोत्र इन तीनों का बहुत महत्व था। सामाजिक जीवन मे गोत्र, शिक्षा के क्षेत्र मे चरण तथा राजनीतिक जीवन मे जनपद इन तीन सस्थाओ की बहुमुखी प्रवृत्तियॉ थीं, और व्यक्ति के जीवन का इनसे घनिष्ठ सबन्ध था।

वैदिक युग में जन की सत्ता प्रधान थी। एक ही पूर्वज की वश परम्परा मे उत्पन्न कुलों का समुदाय जन कहलाता था।

शनै -शनै जन का अनियतवास समाप्त होने लगा और जन एक-एक स्थान मे बद्धमूल हो गए। ऐसे प्रदेश या स्थान जनपद कहलाऍ। मूल जन के अर्न्तगत जो क्षत्रिय कुल सम्मिलित थे, जनपद मे भी राजसत्ता प्राय उन्हीं के हाथ मे रही। राजाधीन और गणाधीन दो प्रकार के जनपद थे। जनपदो के राजनैतिक स्परूप और महत्व का पूर्ण परिचय आगे दिया जायेगा। यहॉ केवल इतना पर्याप्त है कि जनपदो मे भी अनेक प्रकार के सामाजिक सबन्ध प्रचलित थे। एक जनपद के निवासी प्राय एक ही भाषा या बोली बोलते थे। उनमें पारस्परिक भातृभाव का सबन्ध एव समान देवताओं की मान्यता थी। एक जनपद

के लोग परस्पर सजनपद या समान जनपद के निवासी कहे जाते थे। प्रत्येक व्यक्ति का एक अभिधान उसके जनपद के अनुसार ही पडता था, जैसे- अग जनपद का निवासी आगक कहलाता था।

प्राय स्त्रियो के लिए भी ये विशेषण प्रयुक्त होते थे, जैसे भागी, वार्गी, माद्री, यौधेयी आदि स्त्रियाँ जब विवाहित होकर पतिकुल मे पहुँचती, तो वहाँ उनकी जनपदीय अभिधा बनी रहती थी। कुन्ती, माद्री, गान्धारी, कौशल्या और कैकेयी, ये सुप्रसिद्ध स्त्री नाम जनपद सम्बन्ध से ही थे।

इन राजसत्ता के अधिकारी लोगो को अभिषिक्तवश्य भी कहते थे, क्योकि केवल इन्ही कुलो मे उत्पन्न व्यक्ति को राजपद पर अभिषिक्त होने का अधिकार प्राप्त था।

(2) वर्ण और जातियाँ-

शतपथ मे वर्ण, जाति और बन्धु ये तीन शब्द आये है, जिनमे वर्ण प्राचीन शब्द था। उसके स्थान पर जाति शब्द चलने लगा था। जो इस अर्थ मे अपेक्षाकृत नवीन था। कात्यायन के श्रौत सूत्र मे जाति का अर्थ केवल परिवार है। एक वर्ण मे उत्पन्न हुए व्यक्ति परस्पर सवर्ण होते थे। जाति का एक-एक व्यक्ति बन्धु कहलाता था। जिन व्यक्तियो द्वारा पहिचानी जाती है, वे बन्धु कहलाते है। बन्धु शब्द मे यह सकेत है कि एक जाति के सब सदस्य एक पूर्व पुरुष से उत्पन्न होने के कारण एक दूसरे से बधे है। इस कारण सब जाति भाई आपस मे समान बन्धु या सबन्धु कहे जाते थे।

(3) सगोत्र-

एक पुरखा के पोते पडपोते आदि जितनी सतान होगी वह सगोत्र कही जायेगी।

"पौत्रप्रभृति यद् पत्य तद्गोत्रसज्ञ भवति।"

गोत्र प्रर्वतक मूल पुरुष को बृद्ध स्थविर या वश भी कहते थे। उदाहरण के लिए मूल पुरुष का नाम गर्ग होता, तो उसका पुत्र गार्गि, पौत्र गार्ग्य और प्रपौत्र गार्ग्यायण कहलाता था।

किस परिवार मे कौन गार्ग्य है और कौन गार्गायण है, इसका समाज मे वास्तविक महत्व था। गौत्र नाम से अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत नाम भी होता था।

इसलिए महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो मे व्यक्ति का परिचय पूछते समय नाम और गोत्र दोनो के विषय मे प्रश्न किया जाता था। वास्तविक बात यह थी कि गोत्रो की परम्परा प्राचीन ऋषियो से चली आ रही है। मान्यता है कि मूल पुरुष ब्रह्मा के चार पुत्र हुए-

(1) भृगु
(2) अगिरा
(3) मरीचि
(4) अत्रि।

ये चारो गोत्र कर्ता थे। फिर भृगु के कुल मे जमदग्नि, अगिरा के कुल मे गौतम और भारद्वाज, मरीचि के कश्यप, वशिष्ठ और अगस्त्य एव अत्रि के विश्वामित्र हुए। इस प्रकार जमदग्नि, गौतम, भारद्वाज, कश्यप, वशिष्ठ, अगस्त्य और विस्वामित्र ये सात ऋषि आगे चलकर गोत्र कर्ता या वश चलाने वाले हुए। अत्रिका विश्वामित्र के अलावा भी वश चला। इन्ही मूल आठ ऋषियो को गोत्रकृत माना गया। फिर इनमे से हर एक वश ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति हुए जिनकी विशेष कीर्ति के कारण उनके नाम से भी वश का नाम प्रसिद्ध हो गया। उनकी गणना अपने मूल गोत्र के अर्न्तगत पर स्वतन्त्र गोत्रकर्ता के रूप मे जाने लगी।

समाज मे कौन सा व्यक्ति गार्ग्य और कौन सा गार्ग्गायण था, इसका समाज मे वास्तविक महत्व था।

समाज के प्राकृतिक सगठन मे प्रत्येक गृहपति अपने घर का प्रतिनिधि माना जाता था। वही उस परिवार की ओर से जाति-विरादरी की पचायत मे प्रतिनिधि बन कर बैठता था। ऐसे व्यक्ति उस परिवार मे मूर्धाभिषिक्त होता था अर्थात् उस परिवार मे सव से वृद्ध स्थविर या ज्येष्ठ होने के कारण उसी के सिर पगडी बॉधी जाती थी। पगडी बॉधने की यह प्रथा आज भी हिन्दू परिवार मे प्रचलित है, और प्रत्येक पुत्र अपने पिता का उत्तराधिकारी होता था।

(4) सपिण्ड-

धर्म शास्त्रो के अनुसार पिता का सातवीं पीढी और माता की पॉचवी पीढी तक के सबन्धी सपिण्ड कहलाते है।

{मनु0- 5/60}

(5) सनाभि-

ऋग्वेद मे ऋषि परुच्छेप का कथन है कि हमारी नाभियॉं मनु, अत्रि ओर कण्व आदि पूर्वजो के साथ मिली हुई है।

"अस्माक तेषु नाभय।"

(6) ज्ञाति-

माता-पिता के द्वारा अपने सभी सबन्धित बाधव ज्ञाति कहे गये है।

(7) सयुक्त-

ससुराल के सम्बन्धियो को सयुक्त कहते थे।

(8) कुल-

परिवार की सज्ञा कुल थी। कुल की प्रतिष्ठा प्राचीन भारतीय बहुत ध्यान देते थे। प्रतिष्ठित और यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज मे उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। कुल में उत्पन्न व्यक्ति कुलीन और महाकुल मे उत्पन्न महाकुलीन अथवा महाकुल कहलाता था।

मनु ने बताया है कि किस प्रकार विवाह, वेदाभ्यास तथा यज्ञ इन तीन उपायो से कुलो की प्रतिष्ठा बढकर महाकुल जैसी हो जाती थी।

"मत्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुल सख्या च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यश।।"
{मनु0- 3/66}

महाभारत मे इस प्रकार के महाकुलों की प्रशसा की गयी है। इसी सदर्भ मे धृतराष्ट्र ने विदुर से पूछा- "महाकुलो को देवता भी चाहते हैं, हे विदुर! महाकुल कौन से होते है?

विदुर ने उत्तर दिया- "तप, दम, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, पुण्य विवाह, सदा अन्नदान और सम्यक् आचार ये सात् गुण जिनमे हो महाकुल कहलाते है।"

"महाकुलाना स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थबृद्धश्च बहुश्रुताश्च।
पृछामित्वा विदुर प्रश्नमेत भवन्ति वै कानि महाकुलानि।।
तपो-दमो ब्रह्म वित्व विताना पुण्या विवाह सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति सम्यग् वृन्तास्तानि महाकुलानि।।"
{महा0उद्योगपर्व- 36/22-23}

दूसरी ओर जो परिवार वेदाध्ययन मे प्रमोद करते अथवा किसी भी रूप मे सदाचार का परित्याग करते है वे अकुल या हीन कुल माने जाते है।

(9) वश-

वश दो प्रकार का होता था। विद्या और योनि सबन्ध से। विद्या वश गुरु शिष्य परम्परा के रुप मे चलता था। जो योनि सवन्ध के समान ही वास्तविक माना जाता था। योनि सबन्ध मातृवश और पितृवश से दो प्रकार का होता था।

शिष्य लोग अपने-अपने चरण मे गुरु-शिष्य परम्परा अथवा विद्यावश का पारायण वेदाध्ययन की समाप्ति के समय किया करते थे। उपनिषद मे इस प्रकार के कई विद्या वश सुरक्षित है।

ऐसी प्रथा थी कि वश के मूल सस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढियो की सख्या जोडकर उस वश के दीर्घकालीन अस्तित्व का सकेत दिया जाता था।

(10) गृहपति-

प्राचीन काल में भी समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई गृह थी। गृह का स्वामी गृहपति उस गृह की अपेक्षा से सर्वाधिकार सपन्न माना जाता था। सामान्यत गृहपति का स्थान पिता का था। उसके बाद उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र गृहपति का पद्वी धारण करता था। प्रत्येक जनपद मे फेले हुए कुलों के इस ताने बाने को गार्हपत सस्था कहते थे।

कुरु जनपद मे गार्हपत धर्म की विशेषताओ का वर्णन गुरु धम्म जातक मे आया है। इस जातक मे राजा से लेकर रक तक लोक जीवन के 11 प्रतिनिधि व्यक्ति चुने गये है। जो इस प्रकार है-

(1) राजा - अहिसा।
(2) राजमाता - समत्व।
(3) राजमहिषी - ब्रह्मचर्य।
(4) उपराजा - स्वामिभक्त।

(5) पुराहित - अलोभ।
(6) रज्जुग्राहक - परदु ख निवृत्ति।
(7) सारथि - पशुओ पर दयाभाव।
(8) श्रेष्ठी - परद्रव्य के विषय मे सूक्ष्मनैतिक सच्चाई।
(9) द्रोणमापक महामात्य - प्रजाओ के प्रति सहानुभूति।
(10) द्वारपाल - निष्ठुर वाणी परित्याग।
(11) गाणिका - अपने अगीकृत कर्तव्य से आनृण्य भाव।

प्रत्येक अपने-अपने केन्द्र मे रहते हुआ कठिन और सूक्ष्म शीलधर्म पालने का आदर्श सामने रखता है। उन सब का दृष्टि कोण वही है जो गीता मे बताया गया है।

अर्थात् "ब्रह्म रूप मे शील गुणो का पालन अधिक महत्व का नही, मन का भाव शुद्ध होना चाहिये। यदि भाव बिगडा है, तो बाहरी शील दिखावा मात्र है।"

कुरुधर्म के बारे मे तीन बाते इस जातक से विशेष ज्ञात होती है।

(1) कुरुजनपद का गृहपति धर्म ऊच, नीच, राजा, रक आदि सारे समस्त जनपद का धर्म था। केवल राजा ऋषि या भिक्षुओ के लिए यह मार्ग न था।

(2) कुरुधर्म गृहस्थ जीवन का आदर्श पालन था। घर मे रहते हुए शील धर्म का पालन यही छोटे-बडे हर एक मानव की विशेष रीति थी। शील का पालन सबके लिए सभव है और प्रत्येक व्यक्ति का निजी कर्तव्य शील पालन का ही सच्चा रूप है।

(3) कुरुधर्म का सम्बन्ध स्वर्ग, नरक या मोक्ष से नहीं अपितु सीधे सादे नीति प्रधान जीवन मार्ग से था।

ईमानदारी से भरा हुआ जीवन ही उसकी विशेषता थी। इस कुरुधर्म या गृहपतियो के आदर्श के लिए ही लोक मे कुरुगार्हपत यह सार्थक शब्द प्रचलित हुआ होगा।

जातक मे स्पष्ट कहा गया है कि बुद्ध के जन्म से भी बहुत पहले के प्राचीन कुरु गृहपतियो के स्त्री सहित घर मे रहते हुए अल्पमात्र भी अनुचित कर्मों मे अरुचि प्रकट की। यह भी कहा गया कि कलिग देश की राजधानी दन्तपुर से ब्राह्मणो का एक दल कुरुधर्म जानने की इच्छा से कुरु जनपद मे आया और वहा के पडितो से उस धर्म को जाना और फिर उसे स्वर्णपट्ट पर उत्कीर्ण कराया और अपने राजा को दिया। ज्ञात होता है कि कर्म योग प्रधान कुरुधर्म का आदर्श ही कुरुदेश मे कहे जाने वाले गीता शास्त्र के रूप मे अवतरित हुआ। मज्झिम-निकाय की पपच सूदिनी टीका मे भी कुरुओ के इस शील प्रधान कुरुवत धर्म का उल्लेख है।

परित्थान सूक्त की अट्ठ कथा मे कहा गया है कि कुरुदेश मे समाधि सबधी चर्चा का बहुत प्रचार था। दास कर्म कर (नौकर-चाकर) तक भी स्मृति प्रस्थान अर्थात् शीलवती प्रज्ञा के विषय मे चर्चा किया करते थे। पनघट पर एकत्र हुई एव सूत कातती हुई स्त्रिया स्मृति-प्रस्थान की ही भावना करती थी। उनमे जातीय स्वाभिमान, समत्व भाव, वैक्तिक गरिमा स्वातन्त्रय आदि की भावनाओ की प्रधानता थी, ऐसा बौद्ध साहित्य मे विदित होता है।

पचम परिच्छेद

अन्नपान

अन्नपान के सम्बन्ध मे शतपथ काल मे महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। भारतीय अन्नपान का इतिहास लिखा जाय तो शतपथ मे उपलब्ध सामग्री उपयोगी होगी। भक्त शब्द के दो अर्थ थे, एक अन्न और दूसरा भात या उबला हुआ चावल।

"अर्थशास्त्र के अनुसार शिल्पियो को भक्त अर्थात् भोजन और वेतन या नगद मजदूरी दी जाती थी। पर खेतिहर मजदूरो को केवल भोजन या भक्त पर रखने की चाल थी।"

पतञ्जलि ने लिखा है "कृषि धातु का अर्थ खेत मे हल चलाना मात्र नही था वल्कि मजदूरो को भक्त या भोजन, बीज और बैल आदि का प्रबन्ध करना भी कृषि धातु के अर्न्तगत आता है। जब हम कहते है कि अमुक व्यक्ति खेती करता है, तब उसका तात्पर्य है कि वह इन सब का प्रबन्ध करता है।

अन्न और भोजन के प्रकरण मे भोज्य, भक्ष्य, मिश्रीकरण, व्यजन, उपसिक्त, सस्कृत आदि कुछ पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग हुआ है। जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

{अ} **भोज्य-**

भोज्य को भक्ष्य अर्थ मे लिया गया है। कात्यायन ने इस पर शका की कि भोज्य में ठोस और तरल दोनो प्रकार के खाद्य पदार्थ आते है। लेकिन भक्ष्य दात से चवाए जाने वाले भोजन के लिए ही है। भोज्य का अर्थ भज्य की अपेक्षा विस्तृत है। भक्ष्य का अर्थ भोज्य की अपेक्षा कम है। किन्तु पदार्थ दाँत से नहीं चबाए जाते, उनके लिए भी भक्षण क्रिया भाषा मे प्रयुक्त थी। इसलिए भोज्य भक्ष्य पर्याय है। खरविशद् (ठोस) और द्रव दोनो भक्ष्य है।

श्री गोल्डस्टूकर के अनुसार- अवश्य की शतपथ काल के समय मे भक्ष्य और भोज्य पर्यायवाची थे। गुड शब्द को भाष्य मे मिश्रीकरण द्रव्य और धान को भक्ष्य माना है। गोल्डस्टूकर का यह कहना भी ठीक नहीं है कि प्राचीन कालीन शिष्ट भाषा मे भक्ष्य केवल भोजन के लिए प्रयुक्त था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे शतपथ काल के समान ही भक्ष्य शव्द के दोनो अर्थ है।

{आ} मिश्रीकरण-

पलल (मास), सूप (दाल) और शाक इन्हे भक्ष्य माना गया हे। इन ठोस पदार्थो मे गुड, घी आदि द्रव्य यथारूचि मिलते है, पर दोनो द्रव्य समान महत्व ग्खते हे और मिलना एच्छिक होता है। इसे मिश्रीकरण कहते है। गुड और धान दोनो को एक साथ पागकर बनायी गयी गुडधानी नामक भोजन सामग्री मे गुड और धान दोनो का महत्व होता है। इसी प्रकार गुड, घी और तिल को मिश्र या मिश्रण योग्य माना है।

ससृष्ट-

यह भोजन मे किसी दूसरी वस्तु को ससृष्ट करने अर्थात् अप्रधान और एच्छिक रूप से मिलाने का प्रकरण है। जैसे किसी वस्तु मे दही डाल दे तो वह दाधिक कहलाएगी। ऐसे ही मिर्च, अदरक, पीपल आदि का मसाला जिस अचार मे मिला दिया जाय तो वह मारिचिक, शागवेरिक, पैप्पलिक कहा जायेगा। मिश्रीकरण प्रक्रिया मे दोनो पदार्थ समान महत्व रखते है, पर ससृष्ट मे जो पदार्थ मिलाया जाय वह गौड रहता है। दही लगाकर पूरी-पराठा खाने मे दही गौड और पराठा प्रधान है। कात्यायन ने अत्यधिक वारीकी मे जाकर लिखा कि नमक रस है, पदार्थ नहीं। उसका ससर्ग नहीं किया जा सकता। लावणिक का अर्थ नमकीन बनिया नहीं अपितु नमकरूपी पण्य का ब्यापारी। अत मिरच, पीपल, अदरक की भॉति नमक का ससर्ग होता है मूग भी अपेक्षाकृत गौड समझ कर मिलाई जाती है। जैसे मूग का भात (मौद्ग ओदन) प्रयोग मे भात मुख्य और मूग इच्छानुसार मिलाने की वस्तु है। मूग की लपसी मे भी यवागू मुख्य है। इच्छानुसार यदि उसमे मूग की दाल मिलाकर खाई जाय तो वह मौद्रगी यवागू कहलाएगी।

व्यजन और उपसिक्त-

मिश्रीकरण द्रव्य की मिलावट खाने वाले की इच्छा पर है। धान मे गुड का मिलाना एच्छिक होते हुए भी दोनो का महत्व समान माना जाता है। ऐसे ही ससर्ग वाले पदार्थो का मिलाना भी एच्छिक है। किन्तु ससर्ग वाले पदार्थ की उसमे प्रधानता उसमे नहीं होती। पर व्यजन या उपसेचन की मिलावट उस भोज्य पदार्थ के लिए आवश्यक समझी जाती है।

क्षीर बनाने के लिए ओदन मे दूध का मिलाना या दही का नमकीन भात बनाने लिए दही मिलाना आवश्यक है।

दाधिक-

भोजन मे किसी पदार्थ का मिलाना ऐच्छिक हे, किसका अनिवार्य कोन प्रधान ओर कौन गोण हे, इत्यादि वाते भोजन के प्रकार पर निर्भर है। एक दही को कई तरह से मिलाते और खाते है। सव मे दाधिक प्रयोग एक सा है पर अर्थ भिन्न होंगे-

(1) दाधिक-

दही अप्रधान और एच्छिक, जैसे दही के साथ रोटी या पूरी पराठा।

(2) दाधिक-

दही व्यजन उपसेचन स्वाद बढाने वाले पदार्थ की तरह अवश्यमेव मिलाया जाय जेसे दही की पकौडी।

(3) दाधिक-

दही उत्सर्गधान या उस भोजन मे नफासात के लिए मिलाया जाय जैसे-दही के बालूशाही, दही के आलू।

(4) दाधिक-

दही को आधार मानकर उसमे बनाई वस्तु जैसे- दही की कढी। कढी दही का सस्कारक द्रव्य नहीं है, आधार भूत द्रव्य है। नमकीन गढी के लिए नमक और मीठी के लिए गुड सस्कार द्रव्य कहा जायेगा।

विभिन्न प्रकार के अन्न या भोजन-

शतपथ काल मे यह सामग्री इस प्रकार थी।

(1) धान्य
(2) कृतान्नवर्ग
(3) मधुर पदार्थ
(4) गब्य
(5) फल-शाक।

(1) धान्य-

धान्यो मे कई प्रकार के चावलो का उल्लेख आया है, जैसे- शालि, महाब्रीहि, हायन, यवक, षष्टिका और नीवार।

शालि-

शालि का तात्पर्य जडहन से है, जो कि अगहनी फसल मे होते है।

महाब्रीहि-

वैदिक काल मे इस चावल की श्रेष्ठ जाति का उल्लेख किया गया है। हो सकता है महाशालि भी महाब्रीहि से मिलती-जुलती कोई धान की जाति हो। चीनी यात्री श्यूआन् चुआग के चरित लेखक हुई-ली ने लिखा है कि जब चीनी यात्री नालान्दा विश्वविद्यालय मे ठहरा था तो उसे महाशालि चावल खाने के लिए दिया गया।

हायन-

यह नौ प्रकार के ब्रीहियो मे था। शतपथ ब्राह्मण मे एक तरह के लाल धान को 'हायन' कहा है।

यवक-

वैदिक काल मे इस चावल का उल्लेख मिलता है।

षष्टिका-

साठ रात या दो महीने मे इसकी फसल तैयार होने से यह नाम पडा, लोक मे इसे साढी कहते है। वैदिक काल से यह उक्ति प्रसिद्ध है कि- साठी पाके साठ दिना, दैव बरीसे रात दिना।

नीवार-

जगल मे स्वय उपजने वाला घटिया किस्म का धान्य था। लोक मे इसे 'पसही' (प्रसातिका) या तिन्नी का चावल कहते है।

(2) कृतान्न -

इसके अनेक प्रकार है।

ओदन-

जिसे भात भी कहा गया है। यह लोगो का प्रिय भोजन था। जल मे उबाल कर बनाये गये शुद्ध चावल को उदकौदन या उदौदन कहते थे।

यवागू-

ओदन की तरह जौ की लपसी भी जनता का प्रिय भोजन थी। शतपथ मे

अनेक बार यवागू का उल्लेख आता है। जातको की कहानियो से यवागू का आम भोजन ज्ञात होता है। इसके खाने मे दातो से चबाने की आवश्यकता नही पडती थी। साल्व जनपद मे यवागू लोगो की विशेष प्रिय भोजन था।

यावक-

जौ को ओखल, मूसल से कूटकर भूसी अलग करके पहले पानी मे उबालते थे फिर दूध शक्कर मिलाकर यावक बनाया जाता था।

पिष्टक-

सत्तू पानी मे घोलकर डालकर आग पर पकाते है। कडा हो जाने पर उतार कर खाते है। यह भोजन आज भी पीठा कहलाता है।

सयाव-

दूध, गुड और गेहू के आटे से बने हुए भोजन को सयाव कहते थे। यह आज कल हलुआ हुआ।

अपूप-

आटे मे पानी घी मिलाकर या घी फेटकर मन्दी-मन्दी मे उतारे हुए मालपुए को ऋग्वेद मे अपूप कहा गया है।

"य स्तेऽद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूप देव घृतवन्तमग्ने।।"
(ऋग्वेद- 10/45/9)

यह अपने देश का सबसे प्राचीन मिष्ठान्न था।

मन्थ-

भुने हुए धान या भुजिया का सत्तू मन्थ कहा जाता था। इसे दूध मे मिलाकर या केवल पानी मे घोलकर खाते थे।

कुल्माष-

कुल्माष दरिद्र लोगो का भोजन था। जिसमे थोडा जल, गुड या नमक और चिकनाई डालकर बनाये थे।

चूर्ण-

आटा और घी कढाई मे भूनकर और शर्करा मिलाकर चूर्ण बनाया जाता था। पढाही बोली मे उसे कसार किन्तु बनारस की ओर चूर्ण या चून कहते हैं।

(3) मधुर पदार्थ-

शतपथ काल मे निम्नलिखित मिष्ठानो का वर्णन मिलता है।

मधु- इसका नाम क्षौद्र था। छोटी मक्खी का वनाया हुआ मधु क्षौद्र और वडी डगार मक्खी का भ्रामर कहलाता था। उत्तर भारत के किसान सरोती ईख को गुड के लिए अच्छा मानते है, और बोते समय ऐसे ही गन्नो के बीज का चुनाव करते हे, जिससे अच्छा गुड बैठे। रस को औटाकर या तो गुड बनाते थे या फाणित अर्थात् राढा। फाणित मे सर्करा वनती थी। शर्करा शब्द का एक अर्थ पत्थर की रोडी या ढोके भी था।

(4) गब्य पदार्थ-

दूध से वने हुए खाद्य पदार्थो को गब्य या पयस्य कहा गया है। दूध, दही, मट्ठा इनका उल्लेख भी शतपथ मे आया है। जिस फाण्ट का उल्लेख है वह भी गव्य पदार्थ ही था। "शतपथ ब्राह्मण मे उसी दिन के दूध से ततूकाल निकाले हुए मक्खन को फण्ट कहा जाता है।"

{शतपथ ब्राह्मण- 3/1/8}

(5) शाक और फल-

भोजन के अन्न खाद्य पदार्थो मे शतपथ मे शाक, भाजी और सूप का उल्लेख आया है। फलो मे केवल आम्र और जम्बू का नाम है।

सूदकर्म-

भोजन बनाने वाला कोई रसोइया कितनी तोन का आटा पोकर उठता था, इस विशेषता के आधार पर उसका नाम पड जाता था। जैसे- एक प्रस्थ अन्न का पाचक प्रास्थिक कहलाता था और खारी भर अन्न का पाचक खारीक कहलाता था। ऐसे शब्दो की आवश्यकता समाज मे दावत आदि प्रसग मे पडती थी। साधारण रूप से तो घर का भोजतन घर की स्त्रिया का बना लेती थीं, पर ब्रह्मभोज, जेवनार या जातीय भोजन के अवसर पर जब हजार-पॉच सौ आदमियो का भोजन होता था, तब मजदूरी पर हलवाई या रसोई बुलाये जाते थे। उस समय जैसा बडा छोटा कार्य हो उसके अनुसार रसोईये और बर्तन इन दोनो की तलाश की जाती थी। गॉवो मे आज तक इस तरह के छोटे-बडे बर्तनो की मॉग रहती है।

मोटे तौर पर एक मन आटे मे सौ व्यक्तियो के भोजन का हिसाब लगाया जाता है। एतएव एक साकट भार अन्न मे ढाई हजार व्यक्ति भोजन कर लेते है।

षष्टम परिच्छेद

स्वास्थ और रोग

नाना प्रकार की औषधियाँ और रोगो के विषय मे छानबीन प्राचीन काल से ही आरम्भ हो गये थे। प्रमुख विद्या केन्द्रो मे इस अध्ययन को अधिक प्रोत्साहन मिला था। तक्षशिला मे इस विषय का अनुशीलन विशेष रूप से होता था, जैसा कि बिम्बिसार राजवैद्य जीवक के यहाँ जाकर शिक्षा गृहण करने से ज्ञात होता है।

रोग और औषधियो से सम्बन्धित कुछ शब्द शतपथ मे आये है। स्पर्श रोग छूत की बीमारी को कहते थे। वैद्य के लिए अगदकार विशेष शब्द भाषा मे प्रस्तुत होने लगा था। जडी-बूटी औषधि और तैयार दवाई औषध कहलाती थी। कई द्रब्यो को एकत्र कर कूट छान कर तैयार की हुई औषध को जातिवाचक शब्द नहीं माना गया, जैसे जडी बूटी वाची औषधियो को।

रोगो की चिकित्सा करने के लिए शतपथ काल मे एक विशेष प्रकार का प्रयोग चल गया था, जो रोग के नाम से साथ बनाया जाता था। जैसे- प्रवाहिकात कुरु, कासत कुरु, छर्दिकात कुरु अर्थात् प्रवाहिका (सग्रहणी), खॉसी या मचली के लिए कुछ उपाय करो, अर्थात् उनकी चिकित्सा करो।

रोगों का नामकरण-

रोगो का नामकरण काल ओर प्रयोजन इन दो कारणो से होता था। जैसे दूसरे या चौथे दिन आने वाला ज्वर द्वितीयक, चतुर्थक कहलाता था। ऐसे ही सर्दी देकर चढने वाला ज्वर शीतक और गर्मी से आने वाला उष्मक कहा जाता था।

"उष्ण कार्यमस्य उष्णक ।"

विषपुष्प से उत्पन्न हुआ ज्वर विषपुष्पक और कासपुष्प से उत्पन्न हुआ ज्वर कासपुष्क था।

रोगवाची शब्दो के निर्माण की एक विशेष पद्धति बन गयी थी। अर्थात् रोगवाची शब्द एक ही ढग से बनाये जाते थे। जैसे- प्रच्छर्दिका, प्रवाहिका, विचार्चिका।

वर्तमान चिकित्सा विज्ञान मे भी एक की ढग पर रोगो का नाम रखने की पद्धित है। आयुर्वेद की भाषा मे गेग के नाम से रोगी का नाम रखने की प्रथा भी चल पडी थी।

शरद ऋतु में उत्पन्न रोग-

उत्तर भारत मे वर्षा की समाप्ति पर शरद ऋतु के आरम्भ मे ज्वर आदि गेगो का वडा प्रकोप देखा जाता है।

रोगों के नाम-

प्राचीन काल मे रोगो के नाम इस प्रकार है-

अतिसार, अर्शस्, आस्राव, कुष्ठ, पामन, विक्षाव (खॉसी), सज्वर (क्षयरोग का ज्वर), स्पर्श (यह एक रोग का नाम है), हृदय रोग।

आस्राव का उल्लेख अर्थवेद मे है, जिसे मूत्रातिसार कहा है। कुछ विद्धान उसे प्रमेह और कुछ सग्रहणी मानते है।

(वैदिक इण्डेक्स- 1/74)

पामन् का नाम भी अथर्व मे है। पामा का रोगी पामन कहलाता था।

क्षेत्रिय वह व्याधि है जिसकी चिकित्सा दूसरे शरीर मे हो सके अर्थात् ऐसा घोर रोग जो इसे जो इसे जन्म में ठीक न हो सके। अथर्ववेद में क्षेत्रियच् शब्द कई बार आया है। वहॉ उसका अर्थब्याधि विशेष किया गया है। भारतीय व्याख्याकार इसे पुस्तैनी बीमारी समझते है जो जन्म से साथ आती है और प्राणो के साथ जाती है।

(वैदिक इडेक्स- 1/111)

सप्तम् परिच्छेद

वेशभूषा

वस्त्र और अलकार

वैदिक काल मे वस्त्र और वसन शब्द चालू थे। ब्राह्मण तथा आरण्यक मे चीर, चेल शब्द मिलते है। अच्डादन तथा चीवर शब्द ब्राह्मण ग्रन्थो मे नहीं मिलते थे। ग्रहस्थ या ब्रह्मचारी के वस्त्रो के लिए चीवर नही चलता था। आच्छादन शब्द का प्रयोग धर्म सूत्रो में अवश्य मिलता है।

वस्त्रों के विविध प्रकार-

रेशमी वस्त्रो को कौशेय असली (उमा) के तन्तुओ से बनाये हुए वम्त्रो को औम्-औमक, तथा वस्त्रो को और्ण-और्जक कहत थे।

वेशभूषा-

उत्तरीय और अन्तरीय अर्थात् उपरना और धोती यही इस देश का प्राचीन वेष था। कला मे भी इसका अकन मिलता है। इस जोडे को ही युगल (जोडा) या केवल युगल भी कहते थे। जिस समय यूनानी इस देश मे आए, वे यहॉ के सरल और सुन्दर वेष से प्रभावित हुए। अर्रियन ने लिखा है-

"भारतीय प्राय सूती वस्त्र पहनते है। वे नीचे पैर तक लटकती हुई धोती और ऊपर अगो पर एक उत्तरीय डाल लेते है, जिससे कभी-कभी सिर भी ढक लेते है।"

प्राचीन काल मे एक साडी या एक धोती का दाम एक कर्षापण था। यह चॉदी का सिक्का तोल मे 32 रत्ती होता था।

"शतेन क्रीत शत्य शाटक शतम्"

यह उस प्रकार की धोती या साडी थी जिसके एक पल्ले पर गोमूत्रिका का भॉति किनारी बनी रहती थी। प्राचीन यक्ष मूर्तियो मे सामने की ओर लटकती हुई पटली मे गोमूत्रिका (बडदामूतन) की भॉति किनारी प्राय मिलती है।

कम्बल-

शतपथ काल मे पण्य कम्बल नाम से एक विशेष माप का बाजार मे चालू कम्बल बनता था। उसमे जितनी ऊन लगती थी, उसके लिए कम्बल्य शब्द चालू था। कम्बल्य के लिए लिखा गया है कि सो पल अर्थात् 5 सेर ऊन की सज्ञा कम्बल्य थी।

प्रावार-

यह एक प्रकार का कम्बल ही था। कौटिल्य के अनुसार जगली जानवरो के रोये से प्रावारक नामक कम्बल बनता था। महाभारत मे भी प्रावार का उल्लेख आया है। अत ज्ञात होता है कि पण्य कम्बल की अपेक्षा यह महीन और बढिया किस्म का कम्बल था, जिसे तूस या दुसाला कहना चाहिए।

बृहतिका-

अमरकोश मे बृहतिका को प्रावार लिखा गया है, किन्तु पतञ्जलि के अनुसार सामान्यत प्रयुक्त होने वाला वस्त्र था। मज्झिम निकाय मे बृहतिका को 16 हाथ वाली लम्बी और 8 हाथ वाली चौडी कहा गया है- कोशल राज प्रसेनचित ने आनन्द से कहा- "यह बृहतिका मगध के राजा अजातृशत्रु ने एक नलकी मे खाकर मेरे पास भेजी थी। यह सोलक हाथ लम्बी और आठ हाथ चौडी है। हे आनन्द आप इसे स्वीकार करने की कृपा करे। आनन्द के कहा "महाराज इसे रहने दे। मेरे लिए त्रिचीवर ही बहुत है।"

इससे सूचित होता है कि बृहतिका या बाहतिका आज कल का तूस था। इस समय दुहरे तूस की लम्बाई 12 हाथ या 3 गज होती है।

नागरक जीवन-

नगर का प्रवीण व्यक्ति छेल नागरक कहलाता था। सौन्दर्य के लिए और सुभगकरण और सजावट के लिए आढूयकरण का उल्लेख है। शरीर के विभिन्न अगो को सजाकर उनका सस्कार किया जाता था। जैसे- बालो को सजाकर सॅवारने-काढने वाला छैल व्यक्ति केशक कहलाता था। अलकार, केशवेष उसी क्षेत्र के शब्द है। वृन्दारक, नाग, कुजर पूज्यमान आदि शब्द नागरिको की सामाजिक प्रतिष्ठा का सकेत करते है। पुरुष सिह, पुरुष व्याघ्र आदि नये शब्द लौकिक सस्कृत मे प्रयुक्त होने लगे थे। स्त्रियॉ शालभजिका आदि क्रीडाओ से मनोविनोद करते थीं।

अलकार-

अगुलीय, कणिका, ललाटिका और गेवेयक आदि गहनो का उल्लेख शतपथ मे हे। मौर्यशुग काल की भारतीय कला मे ये अलकार मिलते है, विशेषरूप से पग्खम यक्ष जैसी मूर्तियो के गले मे पडा हुआ चपटा कठा ग्रैवेयक का उदाहरण है। दीदार गज यक्षी के माथे का बोल ललाटिका है। ऐसे ही भरहुत के प्राप्त सुर्दशना, चलुकोका, सिरिमा देवता की मूर्तियाँ मे भी ललाटिका आभूषण दर्शनीय है।

"कुम्बा को वेद मे स्त्रियो के केशो का आभूषण या अलकार माना गया है।"
{वैदिक इडेक्स- 1/163}

भूषण, अलकार या सुभगकरण से सबन्धित अन्य वस्तुओ का भी शतपथ मे वर्णन आया है। जैसे- दर्शन या शीशा, अजल माला, गन्ध, दण्ड, उपानह् आदि। यथामुखीन और सम्मुखीन दो प्रकार के शीशे होते थे। पहला चपटा और दूसरा उन्नतोदर या बीच मे उठा हुआ जिसमे ठीक देखा जा सके। वैदिक युग मे ही प्रसिद्ध सुरमा आने लगा था। इसे अथर्ववेद मे त्रैककुद अञ्जन कहते थे। कर्ण पर्व मे आया है कि मद्र देश की गोरी स्त्रियाँ त्रैककुद अञ्जन से आँखो की शोभा वढती थी।

"मन शिलोज्वलापागा गौर्यस्त्रिककुदाजना ।"
{कर्णपर्व- 30/22}

सौवीर देश मे सही सौवीराञ्जन कहा जाता था। यमुना का उपरली धारा के प्रदेश मे स्थित यहाँ से यामुन अञ्जन आता था। मालाओं से शरीर सजाने वाले को मालभार्ग कहा जाता था।

अष्टम् परिच्छेद

शालाएँ

नगरो मे जो अनेक प्रकार के भवन या निवास स्थान होते है, उनके नाम इस प्रकार है- राजसभा, गेह या गृह, निवास-निकाय, शाला, छत्रिशाला, निषया, द्वार, कपाट आदि का उल्लेख प्राचीन काल से ही चला आ रहा है।

शाला-

मूल मे यह वैदिक शब्द था जो घर के लिए प्रयुक्त होता था। राजा की जो सभाएँ या आस्थान मडप होते थे उसे भी शाला कहा गया है। छात्राओ के लिए निवास स्थान को छात्रिशाला कहा है। गौ आदि पशुओं के बॉधने की जगह को भी शाला कहने लग थे। गोशाला, खरशाला आदि। अन्न रखने के लिए कोठार को भी शाला कहा गया है। जिसमे नीचे की ओर बने हुए आनन या मुँह को शालाबिल कहते थे।

घर-

घर के लिए वैदिक भाषा मे गृहशब्द था। शतपथ मे गृह, गेह, आगार और क्षय आदि कई शब्दो का उल्लेख किया है। क्षय शब्द इस अर्थ मे विशेष था जो सथा पर्व मे भी आया है।

"अजायत् यदुक्षये" अर्थात् कृष्ण का जन्म यदुओ के घर मे हुआ।

भाडागार, देवागार और कोष्ठागार। इन तीन प्रकार के आगार और नियुक्त अधिकारियो का उनमे उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि आगार बडी इमारत होती थी। जिसके कई भाग होते थे। द्वार प्रकोष्ट से हिन्दी का बरौठा शब्द वना है जो घर के द्वार के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रह्मद्वार प्रकोष्ठ वडे मकानो के सामने बना हुआ वह द्वार है जिसमे कई कमरे होते थे, और जिसमे महाकपाट या बडा फाटक लगाया जाता था। आज कल उसे ड़्योढी भी कहते है।

डा0 कुमार स्वामी ने प्राचीन भारतीय शिल्प सामग्री के आधार पर द्वारकोट्ठक का अर्थ नगर के प्राकार या चाहारदीवारी मे बने हुए बडे फाटक के रूप मे किया है।

निषद्या-

पथिको के लिए निर्मित विश्राम गृह के अर्थ मे अशोक के लेखो मे निसदिया शब्द आया है। नागार्जुनी पहाडी की गुफाओ को वहाँ के उत्कीर्ण लेखो मे वासनिसिदिया कहा गया है। अर्थात् वर्षा ऋतु मे भिक्षुओ के विश्राम करने का सीन।

निकाय्य-

वैदिक काल मे निकाय्य का उल्लेख है। जिसे निवास का पर्याय माना गया है। यजुर्वेद मे एक वार निकाय शब्द आया है किन्तु शतपथ के अनुसार वह वायु छन्द का नाम था। अर्थशास्त्र मे निकाय शब्द का प्रयोग है पर सघ के अर्थ मे मनु ने देव निकाय का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ कुल्लूक टीका मे देव निवास स्थान किया गया है। यह कहना कठिन है कि निकाय सब घरो के लिए या केवल भिक्षिुओ के निवास के अर्थ मे आता है।

एकशालिक-

इसका दूसरा रूप ऐकशालिक भी था। जो एक व्यक्ति का अपना निवास हो वह एकशालिक या ऐकशालिक कहलता था। इस शब्द का अर्थ यह नहीं था कि जिस व्यक्ति का एक घर को, बल्कि वह मकान जो केवल एक व्यक्ति के इस्तेमाल मे आता हो, अर्थात् जो सार्वजनिक न हो। यह स्थिति इस उदाहरण से समझ मे आती है। दीघ निकाय मे लिखा है कि श्रावस्ती के तिन्दुक वन नामक बगीचे मे बना हुआ रानी मल्लिका का घर पहले 'एकशालक' था अर्थात् उसके अपने या अपने अतिथियो के काम मे आता था।

उस समय की प्रथा थी कि प्राय धनिक या शौकीन लोग अपने शाही मकान के अलावा नगर के बाहर बगीचा बनाकर उसमे भी एक मकान विश्राम-विनोद के लिए बनाते थे। मल्लिका का वह एक शालक घर बाद मे भिक्षु सघ को दान कर दिया गया। तब वहुतो के काम मे आने के कारण उसके लिए कहा है- 'बहूशालाकता'।

उस काल की समाज मे इस बात का कुछ महत्व था कि रईस के बगीचे वाला घर उसके अपने लिए है या उसने सबके लिए खोल रखा है। श्रीवस्ती के नगर सेठ अनाथ पिण्डक की कहानी है कि उसने राजकुमार जेत का बगीचे वाला मकाल जो पहले राजकुमार अपने काम मे आने से एकशालिक था, खरीदकर भिक्षु सघ को दे डाला अर्थात् बहुशालिक बना दिया।

बनारस मे अभी तक शहर के बाहर इस प्रकार के घर रखने की प्रथा चली आ रही है। जहाँ उनके स्वामी साझ-सवेरे गभीर वाद्य यानो पर सवार होकर ठाठ से जाते है।

घरो की सामग्री-

वैदिक युग मे इष्टकाए बनने लगी थी। पालि साहित्य मे ईटो से चिनाई करने वाले कारीगरो को "इट्ढकावड्ढकि" कहा गया है। घर की छत के लिए छदिस शब्द था, जो सम्भवत फूस के छपपर के लिए प्रयुक्त होता था।

घरो के द्वार और उनके कपाट या किवाडो का भी उल्लेख शतपथ मे आया है। किवाड तोडकर घुस जाने वाले चोरो के कपाटध्न शब्द प्रचलित था। ऐसे चोर वस्तुत डाकू थे। कपाटध्न का अर्थ ऐसा व्यक्ति नहीं जिसके घूसे से किवाड तोडने की ताकत हो, बल्कि वह जो बन्द किवाडो पर धम-धम करके चुनौती दे और सामने से चोरी करे।

महाकण्ह जातक मे राजभवन के बडे फाटक को तोडकर घुसने के लिए "कवाटे ठपेत्वा" शब्द आया है। किवाडो को भी भीतर की ओर से परिघ या पलिघ लगाकर बन्द करते थे। यह लकडी का वह डण्डा या अर्गला था, जिसे किवाडो के पीछे खीचकर अटकाया जाता था।

रहने के घर और और शालाओ के अतिरिक्त हाट मे आपण या दुकाने होती थी जहाँ विक्री की वस्तुए रखी जाती थीं।

आवसथ या आवसथ्य उस घर के लिए प्रयुक्त होता था, जो यज्ञशाला के पास आवसध्य अग्नि के लिए वनाया जाता था, अथवा जहाँ ब्राह्मण आदि विशिष्ट अतिथियो का स्वागत सत्कार किया जाता था।

नवम् परिच्छेद

नगरमापन

शतपथ काल मे कापिर्शी, तक्षशिला, शाकल, हस्तिनापुर, साकाश्य जेसे आदि प्रसिद्ध नगरो का वर्णन आया है। यह इस बात का प्रमाण है कि वास्तुविद्या एव नगरमापन शास्त्र अस्तित्व मे आ चुके थे।

महाभारत मे लिखा है कि जिस समय युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया था उन्होने व्यास तथा कृष्ण आदि प्रतिष्ठित पुरुषो को बुलाकर आरम्भिक उत्सव किया और नगर के लिए नियत भूमि पर मापन से इस बात का निश्चय किया कि परिखा, प्राकार, राज प्रासाद, गोपुर एव चत्वर, वीथी, आदि का स्थान कहॉ-कहॉ रहेगा।

"नगरमापयामासु ।" इसी को नगरमापन कहते थे। महाभारत आदि पर्व मे इसका उल्लेख इस प्रकार है-

"ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्ण पुरोगमा ।
मण्डयाञ्चक्रिरे तद् वै पुर स्वर्गवदच्युता ।।
तत पुण्ये शिवे देशे शान्ति कृत्वा महारथा ।
नगर मापयामासु द्वैपायन पुरोगमा ।।
सागर प्रतिरूपाभि परिखाभिरलकृतम् ।
प्राकरेण च सम्पन्न दीर्घमावृत्य तिष्ठता ।।
द्विपक्ष गरूडप्रख्यैर्द्वारैर्घोर प्रदर्शनै ।
गुप्तमत्र्युच्चय प्रख्यै गोपुरैर्मन्दरोपमै ।।
{आदिपर्व- 199/27,-29,-31}

नगर निवेश करने वाले वास्तुविद्याचार्य तदर्थ निश्चित भूमि का पहले सस्कार करते थे। भूमि शोधन के बाद नगर मापन किया जाता था। नगर निर्माण मे परिखा प्रकारा और द्वार इन तीन का निर्माण सर्वप्रथम होता था। अर्थशास्त्र मे उल्लेख है कि दुर्गविधान या पुरसन्निवेश के लिए परिखा-निर्माण सबसे होना चाहिए।

प्राचीन नगर या दुरो का सन्निवेश दुर्ग के टग पर ही किया जाता था। और रक्षा या नगर गुप्ति के लिए गहरी खॉई और ऊची चारदीवारी या पर कोटे का निर्माण आवश्यक समझा जाता था। इस प्रकार सारी पृष्ठिभूमि यह बताती है कि किस प्रकार नगर निर्माण के लिए पहले सामग्री इकट्ठा की जाती थी, तब नगर मापन किया जाता था।

काशिका मे इसके तीन महत्वपूर्ण उदाहरण है। प्राकारीया इष्टका, प्रसादीया भूमि, प्रसादीय दारु।

तीन खाईयाँ खोदने के उद्देश्य से नियत की हुई समस्त भूमि पारिखोई भूमि कहलाती थी।

'परिखा आस्मिन् देशे स्यादिति।"

परिखा के लिए भूमि नियत हो जाने पर तुरन्त उसके बाद अन्दर की ओर चारदीवारी था, परकोटे का स्थान नियत किया जाता था। उसे प्रकारीय देश कहते थे।

"प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यादिति।"

इस पर काशिका मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि इस शब्द के पीछे नही था कि उस भूमि की मिट्टी से परकोटा बनेगा किन्तु वह भूमि ऐसी गुणवती या इस योग्यथी कि वहाँ परकोटा बनाया जाय।

"देशस्य च गुणेन सभाव्यते, प्रसादोऽस्मिन् देशे स्यादिति प्रकृति विकारभावस्तादर्थ्य चेह न विवक्षितम्, किन्तर्हि, योग्यतामात्रम्।"

- काशिका

परिखा और प्राकार का स्थान निश्चित हो जाने पर नगर या दुर्ग के भीतर सबसे महत्वपूर्ण स्थान राजप्रासाद होता था। अतएव उसका स्थान भी आरभ मे ही नगर के केन्द्रीय भाग मे नियत कर दिया जाता था। उसके उदाहरण इस प्रकार है

"प्रासादीय भूमि" अर्थात् वह भूमि जहाँ राजमहल बनेगा। "प्रासादोऽस्या भूमौ स्यादिति"।

इसी प्रसग मे उन ईटो को "प्राकारीया इष्टका" कहा जायेगा जो नगर का परकोटा या प्राकार बनाने के लिए तैयार की जाती थी। शहर पनाह या नगर कोट की ईटे पाथने के लिए लम्बा चौडा काम फेलाना पडता था। क्योकि करोडो ईटो को पकाने के लिए ईंधन के पूरे जगल की आवश्यकता पडती थी। राजप्रसाद बनाने के लिए भारी-भारी साल के लट्ठो की आवश्यकता होती थी।

भारतीय वास्तु विद्या के आरम्भिक युग मे राजप्रसाद और राजसभा का अधिकाश निर्माण लकडी के लट्ठों से ही किया जाता था। उन्हीं के लिए 'प्रासादीय दारु' पद प्रचलित था। जातको मे कहा गया है कि वास्तु विद्या के लिए विशेषज्ञ जगल में जाकर पुराने पेडो का चुनाव करते थे और उनकी पक्की लकडी कटवा कर प्रासाद के लिए लाते थे।

परिखा-

खाई खोदने के लिए काम पहले छेडने का प्रयोजन यह भी था कि उसमे से निकली हुई मिट्टी से ही प्राकार की ईटे पाथ ली जाती थी या पक्के परकोटे के बाहर एक कच्चा परकोटा भी उसीसे बना लेते थे, जिसे अर्थशास्त्र मे पासु प्राकार कहा गया। मध्यकाल मे उसे की धूलकोट कहते थे, जैसा कि मथुरा आदि नगरो के चारो ओर अभी तक कही-कही बच गया है।

अर्थशास्त्र मे लिखा है कि दुर्ग के चारो ओर तीन परिखाएँ बनानी चाहिए। इनके बीच मे एक-एक दण्ड भूमि छोडनी चाहिए। पहली परिखा 14 दण्ड, दूसरी परिखा 12 दण्ड और तीसरी परिखा 10 दण्ड चौडी होती थी।

{अर्थशास्त्र- 2/23}

इस प्रकार कुल पारिखेयी भूमि 14+1+12+1+10=38 दण्ड =(228 फुट, एक दण्ड=6 फुट) चौडी होती थी।

प्राकार और देवपथ-

शतपथ मे देवपथ शब्द उल्लेख किया गया है। जिसके दो अर्थ है। पहला तो आकाश मे विमानचारी देवताओ का मार्ग देवपथ कहा जाता है। रघुवश मे उसे सुरपथ कहा गया है-

"क्वचित् पथा सचरते सुराणा क्वाचित् धनाना पतना क्वचिच्च्।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाष प्रवर्तते पश्य तथा विमनम्।।"
{रघुवश- 13-/19}

"यहाँ धनपथ, सुरपथ, खगपथ आकाश मे क्रमश ऊँचे उठते हुए मार्ग थे।"

दूसरा मार्ग देवपथ के समान जो ऊँचा हो उसे भी देवपथ कहा जाता था।

"देवपथ इव देवपथ ।"

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे लिखा है कि देवपथ उस ऊचे मार्ग का नाम था जो किले की चारदीवारी के ऊपर इन्द्रकोश या कगूरों के पीछे बनाया जाता था।

"अन्तरेषु बृहत् च विष्कम्भ पार्श्वे चतुर्गुणयाम अनुप्रकारम् अष्टहस्तयत देवपथ कारयेत्।"

{अर्थशास्त्र- 2/3}

यह आठ हाथ या वारह फुट चौडा होता था। प्राचीन दुर्गनिर्माण पद्दति के अनुसार प्राकार का ऊचाई 12 हाथ से 24 हाथ (18 फुट से 36 फुट तक) होती थी।

भाष्य मे पाटिलपुत्र नगर के विशिष्ट प्रासाद और प्राकारो का उल्लेख हे। वहॉ कहा गया है पाटलिपुत्र के परकोटे के भिन्न-भिन्न अवयवो (प्रतोली, अट्टालक, इन्द्रकोश, देवपथ आदि) को ठीक-ठाक समझना हो तो सुकोशला अर्थात् अयोध्या को देखकर समझा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि शगुकाल मे अयोध्या राजधानी हुई थी। और उसका निर्माण हूबहू पाटलिपुत्र के समान किया गया था।

नगरद्वार-

प्राचीन नगरो मे प्राय चार बडे फाटक परकोटे मे लगाये जाते थे तथा उस द्वार का नाम उस नगर के नाम पर पडता है, जिसकी ओर उस द्वार से निकल कर मार्ग जाता हे। जैसे- "माथुर कान्यकुब्जद्वारम्" अर्थात् कन्नौज का वह दरवाजा जहॉ से मथुरा की ओर सडक जाती हे। आजतक भी नगरद्वारो के नाम रखने की यही रीति है। मथुरा मे बने दरवाजे का नाम इसी कारण पडा क्योकि वहॉ से भरतपुर के लिए रास्ता निकलता था। द्वार की तरह सडको का नाम भी पडता था। जो सडक जिस नगर की ओर जाती थी, उसका वैसा ही नाम होता था। मथुरा को यदि केन्द्र मान ले तो उसके चारो ओर के शहरो से मथुरा की ओर आने वाली जितनी सडके थीं, वे माथुरपथ कहलाती थीं। उनका एक छोर छिन्न भिन्न नगरो मे होता था। पर सबका दूसरा छोर मथुरा मे मिलता था। इस प्रकार कन्नौज के माथुर द्वार से होकर मथुरा की ओर जाने वाली सडक का नाम माथुर पथ पडता था।

इन सडको पर पथिको के ठहरने के लिए विश्राम सील बनाये जाते थे। जिस लक्ष्य स्थान तक सडक जाती थी उसे मर्यादा कहते थे। वीच के पडाव की अपेक्षा से इस ओर का भाग अवर और उस ओर का भाग पर कहलाता था। उदाहरण के लिए साकेत से पाटलिपुत्र को जाने वाले मार्ग मे कौशाम्बी का पडाव था। साकेत और कौशाम्वी के वीच का भाग अवर और कौशाम्बी से उधर साकेत की अपेक्षा से पर कहलाता था। इन दूरियो मे भी छोटे-छोटे पडाव होते थे, जहॉ यात्री ठहर कर दिन के अन्त में भोजन बनाते रहे होगे।

उत्तरपथ-

वैदिक काल मे उस लम्बे मार्ग का उल्लेख किया गया है जो सारे उत्तरापथ के यातायात की बृहत् धमनी थी, यह मार्ग पाटिलपुत्र, वाराणसी, कोशाम्बी, साकेत, मथुरा शाकल, तक्षशिला, पुष्कलावती, कपिशा की बडी राजधानियो को मिलाता हुआ बह्लीक तक चला जाता था। यूनानी लेखको ने उत्तरपथ का ठीक अनुवाद करते हुए इस महापथ को "नार्दन रूट" कहा था। जो आज कल का "ग्राण्ड ट्रक रोड" कहलाता है।

ग्राम-

ग्रामो के स्वरूप की कल्पना प्राचीन काल मे कुछ इस प्रकार होती है। वन कठिन (बँसवार्डी) नदी, टीले, जगल और प्रस्तार (चट्टानी स्थान) ये सब गावो के आसपास की भूमि की विशेषताए थी। किसान के घर कुटीर कहलाते थे, जिन पर आज कल की तरह फूस के छपपर छाये जाते थे। एक घर मे एक परिवार या गार्हपत रहता था। सरी गॉव वस्ती के लिए वसति शब्द चलता था। गॉवो का समूह ग्रामता थी। गॉवो मे मनुष्यो के लिए कूप और पशुओ के लिए निपात या चरही बनाई जाती थी।

गॉवो के चारो ओर की धरती के कई भाग होते थे-

(1) क्षेत्र या हल के नीचे आई हुई खेतिहर भूमि
(2) गोचर या चारागाह
(3) वश कठिन या पेडो के झुरमुट और बँसवारी
(4) सरपत और मूज के जगल
(5) औषधियो के जगल और वनस्पति या बडे पेडो के वन एव फलो के बगीचे जो गाव के बाहर होते थे।
(6) कही-कहीं ऊषर के रूप मे पडती धरती।

खेती की भूमि अलग-अलग टुकडो मे बटी हुई होती थी। प्रत्येक को भी क्षेत्र कहते थे। गोचर भूमि सारे गॉव भर की समझी जाती थी, जहॉ गॉव भर के पशुओ को चरने की छूट थी। गॉव के बाहर उससे लगे हुए गोष्ठ या ब्रज होते थे, जिनमें बहुसख्यक पशुओ को रखा जाता था। गौओं को चराने के लिए गोपाल और भेड बकरियो के लिए तन्तिपाल होते थे। ग्वालो के गॉव घोष कहे जाते थे। पशुओ के गोष्ठ स्थान नए-नए चारे की खोज मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटते रहते थे।

गॉव के साथ लगने वाली भूमि अरण्य मे पृथक होती थी। अरण्य के पशु अरण्य ओर वहाँ रहने वाले वनवासी मनुष्य आरण्यक कहे जाते थे। जिस जगल मे सब चारे या घास को पशुओ ने चर लिया हो वह आशि तगवीन कहलाता था।

दसम् परिच्छेद

शयनासन

शतपथ काल मे घरेलू सामान के लिए शयनासन शब्द प्रसिद्ध था। शयन के काम मे आने वाले खाट-पलग और आसन के लिए पीढे-चौकी आदि मिलकर शयनासन कहलाते थे। इसे ही पाली मे सेनासन कहा है। गॉव की बोली मे आज कल इसे राछ-रछेडा कहा जाता है। गृह के कार्य मे लाये जाने वाले अनेक वस्तुओ के लिए निम्न शब्द आये है- शय्या, खट्वा, पर्यक या पल्यक आसन्दी (राजकीय आसन्दी सा गद्दी होने के कारण उसका यह नाम पडा), अर्थात् कुर्सी या राज सिहासन, विष्टर, आसन, पर्प (अशक्त व्यक्तियो के लिए पहियेदार पीढा या चौकी), पर्प पर बैठकर चलने वाले को पार्पिक कहा जाता था। इसे ही यजुर्वेद, मनु और जातक मे पीठ सर्पी कहा गया है।

पात्र या वर्तन-

घरेलू वर्तनो के नामो का उल्लेख शतपथ काल मे इस प्रकार किया गया है।

(1) कुम्भ (बडे आकार का घडा)
(2) कस, गगरा जैसा पात्र विशेष (कुछ लोग इसे फूल या कॉसे का पात्र समझते है।) यूनानियो का ध्यान इसी ओर गया था। उन्होने लिखा है कि यह गिरते ही मिट्टी के पात्र की तरह टूट जाता था।
(3) कुण्डी पत्थर या लकडी की कूडी
(4) सीली या घटलोई
(5) उखा, कढाई
(6) कलशी या छोटी गगरी या लुटिया
(7) कपाल, शराब मिट्टी के पात्र

और अन्य अनेक मिट्टी के भाडे जो कौलालक कहलाते थे। अपने देश मे गाव और शहरो के घरेलू जीवन में मिट्टी के पात्रो का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

चमडे का पात्र-

शतपथ मे चमडे के पात्रो का भी उल्लेख मिलता है। चमडे के बडे कुप्पे और छोटी कुप्पियो को क्रमश कुतु और कुसुप कहते थे। तेल रखने की छोटी कुप्पियो को उदक और बडे डोल या पानी उठाने के मोट को उदञ्चन कहते थे। चमडे की मशक भस्त्रा

या दृति कहलाती थी। दृति का नाम वैदिक साहित्य मे आया हुआ है। पञ्चविश ब्राह्मण मे क्षीरदृति और सुरादृति का उल्लेख आया हे।

"सक्षीर दृतयो रथा भवन्ति"
{पञ्चविश ब्राह्मण- 16/13/13}

दृति या मशक मे रख हुआ पदार्थ दर्तेय कहा जाता था। आजकल दृति केवल पानी भरने के काम मे आती है। शुष्क चर्म काष्ठवत् की उक्ति के अनुसार राजस्थान मे दृतिया परवाल का पानी शुद्ध माना जाता है। पहाडी इलाके मे जहाँ यातायात के पथ नहीं है, आज भी घोडे, टट्टू, झब्बू आदि पर दृति लादकर सामान ढोते है। उससे दुर्गम पहाडी मार्गो मे भेड बकरी दृति हरि पशु के रूप मे काम मे आते है।

भस्त्रा-

शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होना है कि भस्त्रा मे सत्तू भर कर ले जाये जाते थे।

"यथानिर्धूतसक्तुर्भस्त्रा एव हतो वृत्र सलीन शिष्ये।"
{शतपथ- 1/6/3/46}

वहाँ पर लिखा है कि ऋषि लोग कोष्ठ (कोठार) या कुम्भी मे रखे हुए अन्न को लेना पसद नही करते। उन्हें खेत से भस्त्राओ मे भरकर और छकडे पर लादकर लाया हुआ अन्न ही भला लगता है, क्योकि भूमा या अधिक वस्तु उनके मन को रुचती है-

"न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै, भस्त्राये ह स्म ऋषियो गृहणन्ति"
{श0- 1/1/2/7}

इससे भस्त्रा प्रयोग नित्य प्रति के जीवन मे सूचित होता है। जो लोग नदी मे हवा से फूली हुई मशको का बेडा बनाकर उससे माल ढोते या नदी पार कराते थे उनके लिए भाषा मे मस्त्रिक शब्द काम मे आता था। यह प्रथा उत्तर पश्चिमी भारत की नदियो मे विशेष थी। उदीच्य देश के लोग भस्त्रिका को भस्त्रका कहते थे।

गोणी-

गोण से बने हुए आवपन को थैले को गोणी कहा जाता था। वैदिक साहित्य मे गोण शब्द नहीं मिलता किन्तु दीघ निकाय के ब्रह्म जालसुन्त मे गोणक शब्द आया है जो लम्बे बालो वाले बकरो के वालो से बना हुआ मोटा ऊनी वस्त्र होता था। श्री मोतीचन्द्र का

अनुमान है कि यह गोणक शब्द कौनक से सम्बद्ध है जो ऊन का बनता था और जिसे प्राचीन सुमेर अक्कद देश के निवासी पहिनते थे।

गोर्णी शब्द को हिन्दी मे गौन या गोनी कहते है। गौन मे अनाज, नमक आदि भरकर पशुओ पर लादा जाता है। चरक के अनुसार गोर्णी खारी का नाम था, जो चार द्रोण के बराबर होती थी। शागधर से भी इसका समर्थन होता है। हिसाब से गोर्णी लगभग ढाईमन तौल की थी।

विवध-

इसे हिन्दी मे बॅहगी कहते है (सस्कृत मे विहगिका)। कहार (उदकहार या उदहार) कुओ से पीने का पानी बॅहगी मे लादकर घरो मे भरते थे। यह प्रथा गॉवो मे आज भी है।

कौटिल्य ने विवध शब्द का प्रयोग नए पारिभाषिक अर्थ मे किया गया है अर्थात् सेना मे रसद या माल ढोने वाला विभाग।

{अर्थ0- 12/4}

अन्न सग्रह-

शतपथ मे अन्न सगह के कई पात्रो का उल्लेख आया है। जो इस प्रकार है-

(1) कुसूल-

बहुत वडा लम्बोतरा मिट्टी का बना हुआ कुठला या कोठी जो मनुष्य की ऊँचाई से कुछ ऊँची होती है और जिसमे 15 से 20 मन तक अनाज आ सके। शतपथ मे इसी को कौष्ठी या कोठी कहा गया है।

{शत0- 1/1/2/2}

(2) कुम्भ-

मिट्टी का वडा घडा जिसका मुँह अपेक्षाकृत छोटा हो। इसे सिन्ध की ओर गोदी कहा जाता है। शतपथ कोष्ठ के बाद कुम्भी का उल्लेख है और इन्हीं दोनो को लक्ष्य मानकर मनु ने कुसूलधान्यक और कुम्भीधान्यक गृहस्थो का उल्लेख किया है। शतपथ मे कहा गया है कि-

"न कोष्ठस्य न कुम्भ्ये, भस्त्राये ह स्म ऋषयो गृहणन्ति।"

इससे ज्ञात होता हे कि साल भर के लिए अन्न रखने वाला गृहस्थ कुसूलधान्यक और छह महीने या एक फसल के लिए रखने वाला कुम्भीधान्यक कहलाता था।

"कुसूलधान्यकोवा स्थान् कुर्म्भीधान्यक एववा।"
{मनु0- 4/7}

(3) कूप-

इसका तात्पर्य पक्की मिट्टी की बनी हुई लगभग तीन फुट व्यास की उन चकरियो से ज्ञात होता है जिन्हे एक के ऊपर एक रखकर अन्न सग्रह के लिए कुठले जैसा बनाया जाता था। प्रत्येक चकरी को मण्ड और इस प्रकार के कुठल को गण्ड कुसूल कहा जाता था।

{हर्षचरित}

मथुरा, अहिच्छत्रा कौशाम्बी, राजघाट, पाटलिपुत्र आदि के उत्खन्न मे सर्वत्र इस प्रकार के गण्ड कुसूल पाये गये है, जो कहीं-कहीं कुए की तरह ही गहरे है।

(4) शाला-

शतपथ काल मे सम्भवत अन्न रखने के बसर को ही शाला कहा गया है।
सोमयज्ञ करने के लायक व्यक्ति का विचार करते हुए कहा गया है, कि तीन वर्ष तक खाने लायक अन्न जिसके पास हो वह सोमपान कर सकता है-

"यस्य त्रैवार्षिक भक्त पर्याप्त भृत्य वृत्तये।
अधिक वापि विद्यते ससोम पातुर्हमति।।"
{मनु0- 11/7}

तीन वर्ष के लिए पर्याप्त अन्न सग्रह करने का साधन कुसूल से भी कम से कम तिगुना बडा होना चाहिये और उसी का नाम शाला जान पडता है। सम्भवत यह ऐसा कोठा होता था जिसे अन्न भरने के बाद चारो ओर से बन्द कर देते थे।

एकादश परिच्छेद

वाहन

शतपथ काल मे आने-जाने या माल ढोने के लिए सवारी या वाहन कहलाती थी। ये दो प्रकार के होते थे, सलि के लिए और जल के लिए जिन्हे उदवाहन कहते थे। वाहन का नाम उसमे लदे हुए बोझे के अनुसार पडता था। जैसे- इक्षुवाहण, शरवाहण, दर्भवाहण। आज भी गन्ने का गाडी, गेहू की गाडी, रूई की गाडी का नाम इसी नियम से बने है।

शकट-

बोझा ढोने की गाडी या सग्गड को शकट और उसमे जुतने वाले तगडे वैल को शाकट कहते थे। जो बैल जिस तरह की गाडी खीचता था उसी के अनुसार नाम पड जाता था, और उसके लिए रातिब और खातिर का प्रबन्ध उसी के हिसाब से किया जाता था।

प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि पॉच-पॉच सौ छकडो पर माल पर लाद सार्थवाह लोग लम्बी-लम्बी मात्राएँ करते थे। यह सब दृढ ठुके हुए शकट और उन्हे खींचने वाले धुरन्धर बैलो की कृपा पर निर्भर था।

रथ-

रथ विशेष करके मनुष्यो के आने जाने का यान था। रथो का समूह रथ्या या रथकट्या कहलाता था। सेना मे भी रथो का उपयोग होता था। रथ कई प्रकार के होते थे जिनका नामकरण खींचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था। खीचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य कहा गया है। इतर साहित्य मे इन दोनो को वाहन अर्थात् सवारी भी माना है। वैदिक साहित्य मे अश्वरथ के अतिरिक्त रासभरथ और अश्वतरी रथ का भी उल्लेख है। महाभारत मे दुर्योधन ने पुरोचन को रासभ युक्त स्यन्दन पर चढाकर वारणावत जाने की आज्ञा दी जिससे कि वह उसी दिन वहॉ जा पहुॅचे।

"स त्व रासथ युक्तेन स्यन्द नेनाशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु।।"
{म0 आदिपर्व- 132/7}

गार्डी के पहिए बनाने के लिए वढई लोग उसकी नाह की लकर्डी के चुनाव मे विशेष सावधानी वरतते है। यह लकर्डी गाठो मे रहित पक्की ठोस और गाभे की होनी चाहिए, क्योकि इसी के भीतर धुरी पिरोई जाती है। और इसी के ऊपरी भाग मे अरे ठोके जाते है। इसे प्राचीन भाषा मे उपाधि कहा जाता था। उस समय बनने वाले रथो की लम्वाई इस प्रकार थी-

ईषा की लम्वाई 188 अगुल = पौने वारह फुट।
धुरे की लम्बाई 104 अगुल = 6।। फुट।
जुए की लम्वाई 86 अगुल = 5 फुट 4।। इच ।

यह नाप पूरे रथो की थी। ऐसे रथो को परम रथ या उत्तम रथ कहते थे।

रथो का बनाना-

प्राचीन भारतीय पद्धति मे रथ बनाने की चार अवस्थाए थी। सवसे पहले वढई रथ के एक भाग जैसे रथ चक्र, ईषादण्ड, अक्ष, युग, कूबर, आदि को अलग बना लेता था। दूसरी अवस्था मे उन्हे एक मे ठोकता और मिलाता था। जैसा कि भाष्य मे उल्लेख किया गया है-

"यथा तर्हि रथाग्नि विहृतानि प्रत्येक व्रिजिक्रिया
प्रत्यसमर्थानि भवन्ति तत् समुदायश्च रथ समर्थ ।"
{महाभाष्य}

तीसरी अवस्था वह थी कि जिसमे रथ को चमडे और कपडो से मढा जाता था, तथा चौथी अवस्था मे रथ को जहॉ-तहॉ आवश्यक रस्सियों से जिन्हे अब जन्दनी कहा जाता है, से कसा जाता था।

चक्ररक्षक पुरुष-

भरत जनपद मे और प्राच्य देश मे परिस्कन्द शब्द प्रचलित था। इसकी ध्वनि है कि उदीच्य देश मे उसका उच्चारण मूर्धन्यषकार के साथ परिस्कन्द होता था। परिस्कन्द उन दो सैनिको को कहते थे जो रथ के दोनो ओर पहिओ के साथ रहकर दोनो ओर के हमले से रथी का बचाव करते थे। महाभारत मे परिस्कन्द नामक परिचारको को चक्ररक्ष कहा गया है।

प्राध्व बन्धन-

गाडी ओर रथो को वनाने मे सबसे अन्तिम प्रक्रिया वह थी जिसमे उनहे रस्सी या डोरियो से कसा जाता था। वह गाडी तव तक काम के योग्य अर्थात् मार्ग मे चलने लायक न समझी जाती थी जवतक उसे रस्सियो से कसा न जाय। सग्गड या लढिया गाडी के ढॉच और जुए को वरही नामक मोटी रस्सी मे कसकर बॉधते है और रथ को इसी प्रकार सूत की जन्दनी नामक डोरियो से वहुत सफाई के साथ कसते है। कसकर बॉधने की अन्तिम प्रक्रिया से ही वाहन मार्ग मे चलने योग्य बनाया जाता है। चाहे सारी गाडी या मढा हुआ रथ तैयार हो किन्तु बन्धन के विना वह प्राध्व नहीं होता। मार्ग मे चलने योग्य रथ या गाडी को प्राध्व कहा जाता था।

द्वादश परिच्छेद

भारवाही पशु

वेदिक काल मे रथ या गाडी मे जुतकर उसे खीचने वाले वोढा पशु को पत्र और जोतने योग्य पशु को युग्म कहा जाता था। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करने वाले बैलो का वर्गीकरण किया गया है-

(1) रथ्य, रथ के बैल ये सवारी के बैल बडे चचल होते थे।
(2) शाकट, छकडा या सग्गड खीचने वाले बैल। ये लादने के बैल धुरन्धर या नगर्डी जाति के होते थे। भाष्य कार ने लिखा है कि- वह अच्छा वैल है जो गाडी खीचे पर वह और भी वढिया है जो गाडी और हल दोनो खीचता हो।

"गौश्य य शकट वहति गोतरोऽय य शकट वहति सीर च।"

(3) हालकि और सैरिक, हल के बैल किसान के जीवन मे इन शव्दो की बराबर आवश्कता पडती थी क्योकि जैसा कि अर्थशास्त्र मे विस्तार से उल्लेख है सवारी के बैल और लादने के बैलो की टहल और गतिव मे भेद होता था।

कुछ बैल जुए मे दोनो ओर जोते जाते है उन्हे सर्वधुरीण कहते थे। यहाँ धुरा गाडी के उस अगले भाग के लिए है जिस पर बैलवान बेठकर बैल हाकता था। पर कुछ बैल ऐसे होते है जो धरे के एक ओर ही जोते जा सकते है। उन्हे एक धुरीण कहा जाता था।

आजकल दाहिनी ओर के बैल को 'उपराल' और बाई ओर के बैल को तरवाल कहते है। कभी-कभी दो बैलो के अतिरिक्त एक तीसरा बैल भी आगे जोता जाता है, जो बीढिया कहलाता है। वैदिक भाषा मे उसे पुष्टि कहा जाता था। जिस रथ मे पुष्टि जुता हो उसे पुष्टि वाहन या पुष्टि वाही रथ कहते थे।

आश्वीन-

एक घोडा एक दिन मे जितनी यात्रा करता था वह दूरी आश्वीन कहलाती थी। अथर्ववेद में उ योजन और 5 योजन के बाद आश्वीन का उल्लेख है।

"यत् धावसि त्रियोजन पञ्चयोजनमाश्विनम्।"
{अथर्व- 6/131/3}

अर्थशास्त्र मे आश्वीन की लम्बाई का निश्चय किया गया है, क्योकि सरकारी नोकरो के भत्ते आदि के लिए इसकी आवश्यकता पडती थी। जिसकी तालिका इस प्रकार है।

अश्व का प्रकार	पृष्ठ वाह्य = सवारी के घोडे	रथ्य = रथ के घोडे
अधम	पॉच योजन (25।। मील)	6 योजन (31 मील)
मध्यम	आठ योजन (41 मील)	9 योजन (46 मील)
उत्तम	दस योजन (51 मील)	12 योजन (61 मील)

इस प्रकार अर्थशास्त्र मे मामूली सवारी के घोडे की एक दिन की दूरी पॉच योजन और वाहक छह योजन कही गयी है।

त्रयोदश परिच्छेद

नौ सन्तरण

शतपथ काल मे समुद्र तथा महानदियो का उल्लेख आया है। उसके अनुसार द्वीप दो प्रकार के होते थे, एक वे जो किनारे के पास हो, और दूसरा वह जो बीच समुद्र मे हो। अनुसमुद्र द्वीप से जो तिजारती सामान लाया जाय वह द्वैप्य और बीच समुद्र या समुद्र पार के द्वीपो से लाया जाय वह द्वैप या द्वैपक कहलाता था। ऐसे द्वीपो से व्यापार करने वाले व्यापारी भी इन्ही नामो से अभिहित थे। द्वैप शब्द का उत्तम प्रयोग माघ के इस श्लोक से प्रदर्शित होता है-

"विक्रीय दिश्यानि धनान्रूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाज ।
तरीपु तत्रत्यमफल्गु भाण्गु भाण्ड, सायत्रिका नावपतोऽभ्यनन्दत्।।"
{माघ- 3/76}

इसमे द्वैप्य उन सायात्रिक व्यापारियो के लिए आया है कि द्वारका के पास के समुद्र वाले द्वीपो के साथ वागिज्य करते थे।

पानी मे चलने वाले वाहनो को उदक-वाहन या उदवाहन कहा गया हे। नाव, डाड, और मल्लाह इन तीनो का उल्लेख भी आया है। जहाँ नाव लगती है ऐसे घाट को नाव्य कहा जाता है। इसे ही पाली मे नावतित्थ कहा गया है। सिन्धु नदी मे नाव का घाट था। जिसे वहाँ से प्राप्त एक शिला लेख मे शल-नो-क्रम कहा गया है। उस स्थान पर साल में आठ महीने तक अव भी सिन्धु नदी मे नाव का पुल लगता है।

नावो के व्यापार मे व्यापारी बहुत से पटेलो मे माल लाद कर उसे वेचते हुए और उसकी जगह नया माल खरीदते हुए चलते थे। उदाहरणार्थ यदि किसी माल धनी ने सौ नावे लादी हो और मार्ग मे दस नावो मे भरा हुआ माल देकर बदले मे दूसरा माल भर ले तो उसका वह माल 'दशनौ' कहलाता था।

भस्त्रा-

भस्त्रा का लोक मे अर्थ लोहार की धौकनी है किन्तु इस शब्द का मूल अर्थ पशु की फुलाई गयी खाल से लिया जाता था। इसी कारण भस्त्रा उस प्रकार के वजरे को कहते थे जो भेड बकरी या उससे वडी खालो को हवा से फुलाकर और एक दूसरे में बॉधकर बनाया जाता था।

पजाब, उत्तर-पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान की पहाडी नदियो मे यही नदी पार करने का सबसे सुरक्षित और क्षिप्र उपाय है। बकरे की खाल को सीकर जक वनाते है, जिनका एक पैर हवा भरने के लिए खुला छोड रखते है। इन फुलाई हुई खालो के ऊपर वास बाधकर या मछुओ जाल फेलाकर एक साथ बाध लेते है ओर यात्री उन्हीं पर वैठ कर आठ मील फ्री घण्टे की रफ्तार से मजे मे यात्रा करते है। पजाब मे दो बैलो की फुलाई हुई खालो पर चारपाई विछाकर वैठ जाते है। इस प्रकार के वजरे बहुत ही सुविधाजनक रहते हे। जैसे ही यात्री ठिकाने पर पहुँच जाते है, मल्लाह खालो को पटका कर कन्धे पर डाल लेता हे, और नदी के किनारे पैदल चलता उजानी लौट आता है। भारत वर्ष मे ओर उसके पडोसी देश प्राचीन ईरान मे भी इस प्रकार के बजरो की प्रथा थी। इस प्रकार ज्ञात होता है कि तिब्वत की नदियो से लेकर सारे पश्चिमी भारत मे एव अफगानिस्तान से लेकर ईरान की तिग्रा-उफ्रातु नदियो तक भस्त्रा या मश्का से नदी पार करने या माल ढोने की प्रथा थी और उनके मल्लाह भस्त्रिक कहलाते थे।

पिटक-

उडुप, उत्पथ और पिटक आदि नावो के नाम थे। जो सभवत लकडी के लट्ठो या बास के मुट्ठो को बॉधकर वनाया जाता था, जिसे भरडा कहते है। पिटक भी एक तरह की नाव थी जिसकी पहचान लोक मे मिल गई है।

जगाधरी की तरफ यमुना मे अभी तक पिटक चलते है, जिन्हे वहॉ पिडक कहा जाता है। घडो को उलटकर उनकी गर्दन मे बास बॉधकर ऊपर चारपाई विछाकर पिडक वनाए जाते है। इसे ही कहीं-कही घरनई या घण्डेल भी कहते है। बाल्मीकि रामायण मे लट्ठो को बॉधकर बनाए हुए प्लव या वजरे का उल्लेख है, जिसे सघाट कहा गया है।

उडुप एक आदमी से चलाई जाने वाली छोटी डोगी जान पडती है।

मल्लिनाथ ने सज्जनकोश का प्रमाण देते हुए उडुप को चर्मावनद्ध यानपात्र कहा है।

"चर्मावनद्धमुडुप्लव काष्ठ करण्डवत्।"

इससे ज्ञात होता है कि चमडे मे मढी हुई छोटी गोल डोगी उडुप कहलाती थी।

चतुर्दश परिच्छेद

क्रीडा तथा मनोविनोद

प्राचीन काल मे क्रीडाओ का सकेत या उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है-

(1) मल्ल युद्ध
(2) प्रहरण क्रीडा
(3) मृगया
(4) उद्यान क्रीडा
(5) अक्षक्रीडा
(6) समज्या या गोष्ठिया।

खेल के लिए प्राचीन काल से ही क्रीडा शब्द प्रयुक्त होने लगा था। खिलाडी आर्क्रीडी कहलाता था। क्रीडा के विविध अगो के लिए अनुक्रीडा, सक्रीडा, परिक्रीडा, आक्रीडा आदि शव्द प्रचलित थे।

मल्लयुद्ध-

पतञ्जलि ने मल्ल और मुष्टिक के सग्रह का उल्लेख किया है। कुश्ती का आरम्भ दो मल्लो की परस्पर ललकार से होता है जिसके उत्तर मे वे दोनो आपस मे लपट करने लगते है। इसके लिए "मल्लो मल्लमाह्वयते" इस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त होता था।

प्रहरण क्रीडा-

प्राचीन काल मे शस्त्रो की क्रीडा के लिए अखाडे मे उतरने की प्रथा थी। महाभारत मे द्राणाचार्य ने राजकुमारो की शस्त्र परीक्षा के लिए ऐसे ही अखाडे का आयोजन किया था। क्रीडा का नाम उस प्रहरण या आयुध के नाम से पडता था जिसे लेकर क्रीडा की जाती थी, अर्थात् जिसके कौशल का प्रदर्शन किया जाता था। सरभग जातक मे धनुषवाण वहुत से खेलो का वर्णन है। जैसे- सरलट्ठि, सररज्जु आदि।

उद्यान क्रीडा-

भारतवर्ष के पूर्वी भाग मे अनेक प्रकार की उद्यान क्रीडाए अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही थीं। इस देश के साहित्य मे दो प्रकार की क्रीडाओ की परम्परा

जातक कहानियो से लेकर मध्यकाल कालीन काव्यो तक पायी जाती है, एक उद्यान या प्राच्य क्रीडा और दूसरा सलिल क्रीडा। मातगजातक मे उल्लेख है कि वाराणसी के सेठ की "दिट्ठमगलिका" नाम की दुहिता महीने दो महीने पर अपनी सखियो को लेकर उद्यान क्रीडा के लिए जाया करती थी।

"तदावाराणसिसेट्ठिनो धीता दिट्ठमगलिका नाम एक मासद्वेमासवारेन महापरिवारा उय्यार्कीलिक गच्छति।"

{जातक- 4/376}

उद्दालक जातक के अनुसार वाराणसी के राजा का पुरोहित उद्दालक वृक्षो के वगीचे मे अपनी गणिका को उद्यानक्रीडा के लिए ले जाता था। अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि आदि सभी कवियो ने उद्यानक्रीडा और सलिल क्रीडाओ का रोचक वर्णन किया है।

मृगया-

शिकारी, मार्गिक चिडीमार या बहेलिया, पाक्षिक या शाकुनिक कहलाता था। मृगो मे न केवल हिरन बल्कि सुअर आदि बडे जगली जानवरो की भी गिनती होती थी। बहेलियो का नाम उन पक्षियो से पडता था जिन्हे वे फँसाकर बेचते थे, जैसे मायूरिक, तैन्तिरिक। शिकार ऐसे वाणो से किया जाता था, जिनमे पीछे दोनो ओर पत्र या ऑकुडनुमा कॉटे लगे रहते थे। साधारण बाण की अपेक्षा सपत्र बाणो के लगने से पशु को बहुत व्यथा होती थी।

सपत्र वाणो का प्रयोग युद्ध मे भी किया जाता था। जब सिकन्दर का वाहीक देश के निवासी मालवो से हुआ तो मालवो ने सपत्र वाण छोडा जो सिकन्दर के पीठ मे घुस गया। उस बाण से लगभग उसका प्राण की ले डाला था।

"प्लूटार्क ने लिखा है कि उस वाण मे जो पत्र या काटा लगा था वह पॉच अगुल लम्बा और चार अगुल चौडा था।"

शेर आदि जगल के वडे शिकारी जानवर दिनभर माद मे पडे रहते है, और शाम या रात को शिकार के लिए बाहर निकलते है। उस समय भूखे होने के कारण शिकार की खोज मे वे कुपित होकर दहाडते हैं।

इसी प्रकार मछली पकडने वाले मछुओ को मात्सिक या मैनिक कहा जाता था। मछली के नाम से भी उसका नाम पडता था। जैसे शाफरिक जो सहरी नाम की छोटी

मछली जाल मे फसाकर बेचे, शाकुलिक जो शकुल या सौल नामकी मछली पकडे। जाल के लिए आनाय शब्द भी प्रयुक्त होता था।

अक्षक्रीडा-

अक्षो के खेलने का उल्लेख ऋग्वेद मे ही मिलता है। पासो का खिलाडी आक्षिक या शालाकिक कहलाता था। पासे का खेल अक्ष और शलाका से खेला जाता था। आजकल की अपेक्षा पुराने समय मे पासो की सख्या मे भेद था। इस समय दो पासो से खेला जाता है, किन्तु ब्राह्मण युग मे पॉच पासो का यह खेल था।

तैतरीय ब्राह्मण मे लिखा है कि खिलाने वाले राजा को पॉच पासे देता है क्योकि सब इतने ही पासे होते है। पासे के खेल मे शकुनि को कृत हस्त कराया गया है, अर्थात् जो सदा जीत का दाव ही फेकता था।
शकुनि ने कहा कि पासे का खेल बहुत ही शुद्ध और बढिया है। हार जीत के दाव के कारण की वह निन्दित मान लिया गया है।

वैदिक साहित्य, जातक, महाभारत, कौटिल्य आदि सब इसमे एक मत है कि अक्षद्यूत सभा मे खेला जाता था। सभा अवश्य ही कोई सार्वजनिक या राजकीय स्थान होना चाहिए।

समज्या या गोष्ठियॉ-

समज्या वे विशेष प्रकार की गोष्ठियॉ थी, जिसमे स्त्री-पुरुष, बाल-बृद्ध एकत्र होकर अनेक प्रकार के खेल-तमासे, नृत्य, सगीत, हस्तियुद्ध, मेषयुद्ध, अजायुद्ध, दण्डयुद्ध, मल्लयुद्ध आदि खेल या क्रीडाए करते थे। इन्हे समाज भी कहा जाता था। अशोक के अभिलेखो मे समाज नामक उत्सवो के विषय मे लिखा है के अच्छे और बुरे दो प्रकार के समाज होते थे।

घृतराष्ट ने पाण्डवो को यही भुलावा देकर वारणावत भेजा था कि वहॉ एक समाजोत्सव होने को है, तुम लोग उसे जाकर देखो। समज्या या समाज महाजनपद युग के नागरिक जीवन की बहुत बडी विशेषता थी। महाभारत मे द्रौपदी के स्वयबर के अवसर पर द्रुपद के जो समाज किया था, उसे भी समवाय कहा गया है।

पंचदश परिच्छेद

सगीत

मर्गात और वाद्यकर्म को वैदिक युग मे शिल्प माना जाता था जिसे अव ललित कला का पद दिया जाता है, न केवल मड्डुक, झर्झर जैसे बाजो का बजाना शिल्प है, बल्कि नृत्य और गायन को भी शिल्प कहा गया है।

अर्थशास्त्र मे भी गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य को सगीत का अग माना गया है। अभिनय के लिए नाट्य शब्द अस्तित्व मे आचुका था।

तूर्यांग-

वृन्दवाद्य के लिए तूर्य शव्द आया है। तूर्य मे भाग लेने वाले तूर्याग कहलाते थे। वृन्दवाद्य के लिए दो मिलते हुए बाजो की जोड मिलाई जाती थीं, जैसे- मृदग और पणव साथ बजाने वालो की जुट को "मार्दगिक- पाण विक्रम" कहते थे।

सम्मद-

भरहुत स्तूप के एक शिलावट पर अकित दृश्य को सम्मद कहा गया है, जिसमे गीत और वाद्य के साथ सदृक प्रयोग दिखाया गया है। इस दृश्य मे कुछ गाने वाले है, चार स्त्रिया नृत्य कर रही है और एक वृन्दवाद्य या तूर्य है जिसमे वीणावादिनी स्त्री, पाणिवादक, माड्डुकिक और झार्झरिक अकित किए गये है। इससे ज्ञात होता है कि सम्मद विशेष उत्सव का प्रकार था जिसमे नृत्य गीत और वादित्र का सहयोग रहता था।

वाद्य-

तत्री वाद्यो मे वीणा का उल्लेख हुआ है। गाने के लिए वीणा के विना गायन अपवीण कहलाता था। वीणा के तारो से उत्पन्न स्वर लहरी निक्वण या निक्वाण कहलाती थी।

षष्ठदश परिच्छेद

काल विभाग

दिन का परिमाण सूर्योदय से सूर्यास्त तक या मध्यरात्रि से मध्य रात्रि तक माना जाय? वर्तमान किस क्षण समाप्त होता है और भविष्य कहाँ से आरम्भ होता है? अद्यतन क्या है? कितना समय बीतने पर परोक्ष माना जाय? इस प्रकार की ऊहापोह पुराने समय के विद्वानो के लिए सिरदर्द थी। भाष्य ने बाल के खाल खीचने वाले कालविद् शाब्दिको की कुछ बानगी दी है।

अपर आह, नास्ति वर्तमान काल इति। अपि चात्र श्लोकनुदाहरति
न वर्तते चक्रमिषुर्न पात्यते न स्पयन्दते सरित सागराय।
कूटस्थोऽय लोको न विचेष्टिताऽस्ति योह्ये व पश्यति सोऽप्यनन्ध ।।
अनागतमतिक्रान्त वर्तमानभिति त्रयम्।
सर्वत्र च गतिर्नास्ति गच्छतीति किमुच्यते।।
अगर आह, अस्ति वर्तमान काल इति। आदित्यगतिवन्नोपलभ्यते।।
{भाष्य- 3/2/123}

किसी का मत था वर्तमान काल कुछ नहीं, दूसरे कहते है वर्तमान काल हे, अवश्य पर उसका भाव अति सूक्ष्म होने से अनुमान से ही जाना जा सकता है। जन्म होते ही प्रत्येक व्यक्ति काल रूपी परिमाण की नाप मे आने लगता है। इसी आधार पर उसे द्वयहजात, त्रहजात, मासजात, सवत्सर आदि कहा जाता है। एक नक्षत्र मे जन्म लेने वाले कई व्यक्ति सज्योति कहलाते थे। विधुन्तुद शब्द राहु द्वारा चन्द्रग्रहण की कथा की ओर सकेत करता है। जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य मे है।
{ताण्ड्य ब्राह्मण- 6/6/8}

अहोरात्र-

अहरोत्र को इकाई मानकर काल गणना की जाती थी। नक्तन्दिव, रात्रिन्दिव शब्द फ्लीट के मत मे कुछ विचित्र से लगते है, क्योकि भारतवर्ष मे दिन की गणना सूर्योदय से की जाती है, जिसमे दिन के बाद रात्रि का स्थान है। सम्भवत सन्धि की सुविधा के लिए नक्त और रात्रि का पूर्व निपात इन शब्दो में हुआ हो। कीथ का मत है कि ये दोनो शब्द उस प्राचीन काल मे बन चुके थे जब अहोरात्र का परिमाण सूर्यास्त से निश्चित किया जाता था। अर्थशास्त्र मे लिखा है कि तीस मुहूर्त के दिन-रात में पन्द्रह मुहूर्त का दिन और पन्द्रह

मुहूर्त की रात्रि होती थी। यह स्थिति चैत्र ओर आश्विन मे आती हे। पर अयनो के कारण रात और दिन तीन मुहूर्त तक घटते वढते हे। ग्रीष्म मे तीन मुहूर्त तक दिन की वृद्रि और जाडे मे तीन मुहूर्त तक रात की वृद्रि इन्ही छह मुहूर्तो का नाम चराचर मुहूर्त था।

मास-

मास के पक्षो मे पक्षान्त की तिथि अमावस्या ओर पौर्णमासी कहलाती थी। पक्ष का प्रथम दिन पक्षति कहा गया है।

सावन मास-

सावन मास के पन्द्रहवे ओर तीसवे दिन के लिए अर्धमासतम् ओर मासतम् इन दो विशेष शब्दो का प्रचलन हुआ, जिनका वैदिक काल मे उल्लेक आया हे। वेतनिक लोगो के वेतन के निर्धारण के लिए ओर भुगतान के लिए तीस दिन के मास की व्यवहारिक आवश्यकता थी।

चन्द्रमास-

अमावस्या और पौर्णमासी इन दो पक्षों से बनने वाला चन्द्रमास वैदिक काल का आधार है। ज्ञात होता है कि शतपथ काल मे पूर्णिमा के दिन चन्द्रमास की समाप्ति मानी जाती थी। यह इसी बात से सूचित है कि मास का नाम उसमे होने वाली पौर्णमासी से माना जाता था।

नक्षत्र-

नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति न+क्षत्र है। शतपथ ब्राह्मणो मे भी यही है {2/1/2/18}। नक्षत्र इसीलिए कहे जाते है क्योकि सूर्य उदित होते ही उनके क्षत्र या ज्योति को हर लेता है। दूसरी व्युत्पत्ति "नक्ष-गतौ" से मानी जाती थी।

"यो वा इह यजते, अमु सलोक नक्षते तन्नक्षत्राणानक्षत्रत्वम्"
{तै0ब्रा0- 1/5/2/5}

निरुक्त मे शतपथ को उद्घृत करते हुए भी दूसरी व्युत्पत्ति को स्वीकार किया गया है।

"नक्षतेर्गतिकर्मणा।"
{निरुक्त- 3/20}

ऋतु और वर्ष-

वर्ष, समा, सवत्सर, हायन शब्द सवत्सर के लिए प्रयुक्त होते थे। अर्थशास्त्र मे पॉच वर्षो के युग का उल्लेख है जिसमे हर एक वर्ष का अलग-अलग नाम होता था। वर्ष के विभागो मे दो षण्मास माने जाते है।

इसी क्रम मे ऋतुओ के नामो का उल्लेख है- वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर प्रत्येक ऋतु दो मास की होती थी। पहिला महीना पूर्व ओर दूसरा अपर कहलाता था। जैसे वर्षा ऋतु के पहले मास के लिए पूर्ववार्षिक तथा दूसरे के लिए अपरवाषिक प्रयोग थे। अर्थशास्त्र मे भी उत्तरायण भाष्य की तरह शिशिर से ही आरम्भ माना है और माघ, फाल्गुन उसके महीने कहे गये है।

सप्तदश परिच्छेद

मनुष्य नाम

मनुष्य नाम और स्थान नाम ये नामो के दो वडे समूह हे। दोनो मनुष्यो की भाषा के अग है और दोनो से ही मनुष्य के भूताकलीन इतिहास ओर सस्कृति पर प्रकाश पडता है। पश्चिमी देशो मे स्थानीय नामो का ब्योरेवार वर्णन किया गया है, जिससे जातीयो की भाषा, प्रसार और रहन-सहन पर पर्याप्त प्रभाव पडता हे। भारतीय स्थान नामो का अध्ययन भी उतना ही महत्वपूर्ण सिद्ध होगा क्योकि मुडारी भाषा, द्रविण भाषा, आर्य भाषा और म्लेच्छ परिवार की भाषाओ ने स्थान नामो की रचना मे भाग लिया है। किन्तु अव हम केवल मनुष्य नामो का उल्लेख कर रहे है, जो इस प्रकार है-

भारतीय मनुष्य नामो का इतिहास वैदिक काल से आरम्भ होता है। जिसका क्रम इस प्रकार से है-

(1) ऋग्वैदिक नाम।
(2) ब्राह्मण कालीन या उत्तर वेदिक नाम।
(3) बौद्ध कालीन नाम।
(4) मौर्य, शुग और कुषाण कालीन नाम।
(5) गुप्त कालीन ओर सस्कृत साहित्यगत् नाम।
(6) अपभ्रस भाषा, प्राकृतिक और सस्कृत से प्राप्त मध्य कालीन नाम।
(7) आधुनिक नाम।

इस प्रकार भारतीय मनुष्य नामो का अध्ययन प्रत्येक योग सास्कृतिक इतिहास का ही एक टुकडा है। भाषा और धार्मिक एव सामाजिक विस्वासो के अनुसार माता-पिता बालक का नाम रखते है। नाम प्रत्येक मनुष्य के लिए वहुत ही प्रिय वन जाता है। प्रत्येक के जीवन मे वह सवसे अधिक व्यवहार मे आने वाला शब्द होता है। अतएव नामो मे एक प्रकार की जातीय और वेयक्तिक सुरूचि, आस्था और सस्कृति की छाप पायी जाती है।

चरक के अनुसार नाम दो प्रकार के होते है। नाक्षत्रिक नाम और अभिप्रायिक नाम। बालक का जन्म जिस नक्षत्र मे होता है उसके अनुसार रखा हुआ नाम नाक्षत्रिक कहलाता है।

(नक्षत्रदेवतासमानाख्य) जेसे स्वाति नक्षत्र से स्वातिक्त जिसका छोटा रूप स्वातिल होगा। इसी प्रकार अभिप्रायिक नाम को ही पुकारने का सच्चा नाम कहना चाहिये, जेसे- यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि।

ऋग्वेद के समय अधिकाश नाम केवल अभिप्रायिक थे। उनके साथ पिता से प्राप्त होने वाला पैतृक नाम भी जुड़ा रहता था, जेसे मेधातिथि कण्व। कालातन मे गोत्रनाम की प्रवृति बहुत बड गई। ब्राह्मण, आरण्यक ओर उपनिषदो के समय में जितने नाम मिलते है उनमे गोत्र नाम का रिवाज बहुत अधिक था।

उस काल मे एक दूसरे प्रकार के नाम की भी काफी प्रथा प्रचलित थी। जैसे आज जयपुर के निवासी जयपुरिया औश्र खण्डाला गाव के पारसी अपने को खण्डालवाला तथा तारापुर के निवासी तारापुरवाला कहत है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्थानवाची नामो का महत्व भी उस काल मे प्रचलित था। स्थान के नाम के कारण जो व्यक्ति का नाम पडता था उसके दो कारण है। स्वय मथुरा में रहने के कारण भी "माथुर" और पूर्वजो के यहाँ रहने के कारण 'माथुर' विशेषण व्यक्ति के नामो के आगे जोडा जाता था। यहीं स्वाभाविक प्रथा लोक मे आज तक देखी जाती है। कोई व्यक्ति किसी एक स्थान से हट कर जव दूसरी जगह जाता है या बसता है, तब वह स्वय पहले स्थान के नाम से पुकारा जाता है और उसकी सताने भी उसी के नाम को जारी रखती है। जो स्वय जयपुर मे रहा हो या रहता हो वह जयपुरिया कहलाता है, और जिसके पूर्वज वहाँ रहे हो, वह भी 'जयपुरिया' कहलायेगा।

शतपथ काल मे कुछ धार्मिक परिवर्तन समाज मे आ चुका था। इन्द्रदत्त, वरूणदत्त, देवदत्त जैसे नाम उसी अवस्था मे सभव हुए। एक ओर तो पुराने वैदिक देवताओ की भक्ति की ओर जनता का ध्यान था और यज्ञ के अतिरिक्त अन्य उपायो से भी लोग उन्हे प्रसन्न करने का उपचार करने लगे थे, दूसरी ओर नक्षत्रो के अधिपति अथवा दिशाओ के अधिपति लोकपालो को देवता का पद प्राप्त हो रहा था। पाली साहित्य मे "चातु महाराजि" (चार लोकपाल देवताओ की) भक्ति का प्राय उल्लेख आता है। यह "महराज" कुबेर का ही नाम था जो लोकपालो और यक्षो मे बडे समझे जाते थे। सस्कृत साहित्य मे कुबेर को इसीलिए 'राज-राज' कहा गया है।

"अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।"
{1/3, मेघदूत}
"राजानो यक्षा राज्ञा राजा राजराजा कुबेर ।"
{राजराज परमल्लिनाथ की टीका}

बुद्ध के उदय से पहले ही लोक में यक्षो और कुबेरो की मान्यता प्रचलित हो गयी थी और वह बराबर बढ रही थी। बौद्ध धर्म ने यज्ञ पूजा के साथ की बडी भलमनसाहत का समझौता किया और जनता के जये हुए विश्वासो के साथ धक्का-मुक्की करने के बदले उन्हे अपना कर उनके कन्धो पर अपने लिए आदर का स्थान बना लिया।

धर्म की छाप नामो पर अवश्य पडती है। देवताओ के नाम मनुष्यो के नामो मे घुल मिल जाते है ओर पुरातत्व की सामग्री की तरह बचे रह जाते है। षष्ठिदत्त नाम गुप्तकाल की मुहरो पर बचा हुआ एक सकेत हे जो उस युग मे अत्यन्त प्रिय षष्ठी देवी की पूजा की सूचना देता है। मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षो को जिस युग मे लोग पूजते थे उसी युग मे उनके भक्त अपने पुत्रो के नाम भी मणिभद्रगुप्त या मणिभद्रदत्त रखने की बात सोच सकते थे।

यद्यपि ईसाई धर्म ने इगलिस्तान के पुराने धर्मो और विश्वासो को उखाड डाला, परन्तु फिर भी पुराने देवी-देवताओ और पहाड नदी नालो को पवित्र रखने वाले छुटभैए थे, प्राचीन अग्रेजी नामो मे अभी तक बचे पडे है। यही सत्य अन्य जातियो ओर देशो मे भी चरितार्थ होता हे। प्राचीन भारतीय मनुष्य नाम ओर स्थान नामो की पडताल करने से मुडा, शबर, द्रबिड आदि जातियो के देवी देवताओ का कुछ परिचय प्राप्त हो सकेगा।

वेद मनुष्य जो जातिवाचक शब्दो के लिए गए हो, जैसे- व्याघ्रक, हिसक। वैदिक काल मे व्याघ्र, सिह ऋक्ष, वराह, कुम्जर आदि पशु मनुष्य के बलवीर्यादि के लिए उपमान मान लिए गये थे।

"पुरुषोऽय व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्र पुरुषसिह ।"

सिहो का पैदल शिकार करना हाथ मे तलवार लेकर व्याघ्र या सिह के मुकाबले मे अकेले डट जाना, इस प्रकार के विनोद और आखेटो का समाज मे काफी प्रचार हो चुका था। सिह शब्द का भारतीय नामो पर बहुत प्रभाव पडा। वस्तुत इस शब्द मे भारतीय नामो के उत्तरपद मे जो स्थान प्राप्त किया है, वह अन्य किसी शब्द को नही मिला। आज भी राजस्थान और पजाब के प्राय शतपतिशत नाम सिहात सुने जाते है। शुगकालीन ब्राहनी लेखो मे सिह से निकले हुए नाम इस प्रकार मिलते है।

सीह, सिहा, सीहा, सिहदत्त, सीहदेव, सिहक, सिह, सिह मित्र, सिहनादिक, सिहरखित, सीहरखित आदि।

इस प्रकार अब हम देखते है कि नामो को छोटा करने की प्रवृति मे सब तरह की छूट दे दी गयी थी, किन्तु वेदिक काल मे यह प्रथा नही थी, अथवा उसका साहित्यिक प्रमाण नही पाया जाता। उस काल मे नामो को सक्षिप्त करने की एक विशेष प्रक्रिया थी। यह प्रक्रिया भारतीया नामो के साथ सदा के लिए जुड गयी। कालान्तर मे भी प्यार का नाम बनाने के लिए सक्षेप विधि से काम लिया जाता रहा। मध्यकाल मे इसका वडा प्रचलन था। आज भी गॉवो के अधिकाश नाम भाषा की दृष्टि से अपभ्रश का चोला पहने हुए है।

अष्टदश परिच्छेद

मानव आयु

"शतायुर्वै पुरुप ।" को0ब्रा0- ।।/¯।।

अर्थात मनुष्य की आयु सो वर्ष की हे। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है।

"अपि हि भूया सि शताद्वर्षेभ्य पुरुषो जीवति।"
श0 ब्रा0- 1/9/3/19।।

अर्थात् सौ वर्ष से भी वहुत अधिक पुरुष जीता हे।

पूर्ण आयु भोगने के उपाय-

पूर्ण आयु भोगने के जो उपाय ब्राह्मण ग्रन्थो मे दिये गये है उनमे से कुछ इस प्रकार हे।

(1) मर्त्या पितरा पुरा हायुषो म्रियते योऽनुदिते मन्थम्यप

"हतपाप्मानो देवा अप पाप्मान हतेऽमृता देवा नामृतत्व स्याशास्ति सर्वेमायुरेति।।"
श0 ब्रा0- 2/1/4/9

अर्थात् रात्रियॉं = पितर मरणधर्मा है। (पूरी) आयु से पहले मर जाता है। जो सूर्योदय से पहल अग्नि मन्थन करता हे। दिनो = देवो ने अपने अन्दर से (सूर्य द्वारा) पाप का नाश कर दिया है, (जो सूर्योदय के पश्चात अग्निमन्थन) करता है। वह पाप का नाश करता है। दिन अमृत है (सूर्योदय के पश्चात अग्नि मन्थन करने वाले को यद्यपि) अमृत की आशा नहीं है (पर वह) पूरी आयु को प्राप्त करता है।

(2) "नैव देवा अतिक्रामन्ति। न पितरो न पशवो मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणा मेद्यत्यशुभेमेद्यति। विहूर्छति हि न ह्ययनाय च न भवत्यनृत् कि कृत्वा मेद्यति। तस्मादुशायप्रातराश्येवस्यात्स यो हैव विद्वान्साय प्रातीराशी भवति सर्वे हैवायुरेति।।"

अर्थात् अग्नि, वायु, रश्मियाँ, दिन आदि देव (प्रजापति परमात्मा के बनाये नियमो का) अतिक्रमण नही करते। ऋतु, रात्रि आदि पितर भी (ऐसा) नही (करते) नही पशु। मनुष्य ही उल्लघन करते हे। इसलिए मनुष्यो मे जो मास बढाता हे (बहुत मोटा हो जाता हे) वह लडखडाता है, चलने योग्य नही रहता है। अनृत करके (अनेक बार खाकर) वह मोटा होता हे। इसलिए साय प्रात (दो काल) खाने वाला की खावे। इस प्रकार जो विद्वान् साय प्रात खाने वाल होता है सारी ही (सौ वर्ष की) आयु प्राप्त करता है।

इसका यह अभिप्राय हे कि स्वस्थ पुरुष को साय, प्रात दो काल खाना चाहिए। इतना मोटापा शरीर मे बढने नही देना चाहिये, जिससे चलना, दोडना आदि भी कठिन हो जाए।

(3) "साय प्रातवै मनुष्याणा देवहित मशन।"
मै0 स0- 3/6/3

(4) "आयुषे कमग्निहोत्र हूयते। सर्वमायुरेति य एव वेद।।"
मै0 स0- 1/9/5।।

अर्थात् आयु के लिए ही अग्निहोत्र की आहुतियाँ दी जाती है। सारी आयु प्राप्त करता हे जो ऐसा जानता है।

(5) "यो ह वे देवानामायुष्मतश्चायुष्कृतश्च वेद
सर्वमायुरेति न पुरायुष प्रर्मायते।"
मे0 स0- 2/3/5

अर्थात् निश्चय ही जो अग्नि वायु आदि देवो को आयु वाला ओर आयु देने वाला जानता है सारी आयु को प्राप्त करता है। पूरी आयु से पहले नहीं मरता। इससे आगे कहा है।

(6) "एते वै देवा आयुष्मन्तश्चायुष्कृतश्व यदि मे प्राणा ।।"

अर्थात् यही देवता आयु वाले और आयु देने वाले है। जो ये प्राण है। इसका अभिप्राय यही हे कि पुरुष प्राणायाम आदि करके भी अपनी आयु को बढावे।

(7) "जरा वै देवहितमायुस्तावतीर्हि समा जीवति।
आयुषा वा एष वीर्येण व्यृध्यते योऽग्निमुत्सादयते।
शतायुर्वै पुरुषश्शतवीर्यं आयुर्वीर्य हिरण्य शतमान
ददात्यायुरेव वर्य पुनरालभते।"

का0 स0- 9/2।।

अर्थात् बुढापा देवो मे रखा हुआ आयु है, उतने की वर्ष जीता है। आयु मे और वीर्य से वह नष्ट होता है। जो अग्नि को बुझाता है। सौ वर्ष की आयु वाला पुरुष है और सौ प्रकार के बल वाला, आयु बल हिरण्य (एक ही है) जो सुवर्ण सो मान वाला (सौसुवर्ण मुद्रा) देता है, आयु और बल ही पुन प्राप्त करता है।

(8) "पूर्ण गृहणीयाद्य कामयेत सर्वमायुरियादिति पूर्णमेवास्मा आयुर्गृहणाति सर्वमायुरेति।।"

का0 स0- 28/1।।

अर्थात् पूर्ण ग्रहण करे, जिस की इच्छा करे, सारी आयु प्राप्त करे, पूर्ण की इसके लिए आयु ग्रहण करता है, सारी आयु प्राप्त करता है।

(9) "हिरण्यमभिव्यनित्वायुर्वै हिरण्यमायुषैवात्मा न मभिधिनोति।"

काठक स0- 29/6/

अर्थात् स्वर्ण पर श्वास फेकता है। आयु की सोना है। आयु से ही अपने आप को तृप्त करता। वैदिक ग्रन्थो मे स्वर्ण और आयु का बडा सम्बन्ध माना गया है। सोने का दान, सोने का शरीर से स्पर्श यह बहुत कल्याणकारी माने गये है।
अथर्ववेद मे लिखा है।

(10) "यो विभर्ति दाक्षायग हिरण्य य जीवेषु कृणते दीर्घमायु।"

अथर्ववेद- 1/35/2।।

अर्थात् जो सोना धारण करता है, वह प्राणियो मे अपनी आयु लम्बी करता है।

(11) "य कामयेदायाविन जीवेदति त ब्यादायाभिव्यन्याद मृतेनैवैनमभिव्यनिति जीवति सर्वमायुरेति न पुरायुष प्रमीयते।।"

काठक स0- 37/10

अर्थात् जिस रोगी को चाहे कि वह जीता रहे, उसका मुख खोलकर उस पर श्वास फेके। अमृत से ही उस पर श्वास फेकता है। वह (रोगी) जीता रहता है। सारी आयु प्राप्त करता है। न ही आयु से पहले मरता है।

शतपथ ब्राह्मण के 4/6/1/6 मे भी इसका उल्लेख किया गया है।

इन प्रमाणो से निश्चित होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थो के आचार्य मानव आयु का सौ वर्ष तथा उससे भी अधिक होना बडा आवश्यक समझते थे। शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख इस प्रकार है।

"स हैष दाक्षायण हस्त। यद्वात्सप्र नस्माद्य जात कामयेत सर्वमायुग्यादिनि वात्सप्रेणैनमभिमृशेत्तदस्मै जातायायुष्य करोति तथो ह स सर्वमायुरेत्यथ य कामयेत वीर्यवान्त्स्यादिति विकृत्यैन पुरस्तादभियन्त्रयेत तथो ह स वीर्य वान्भवति।।"

श0 ब्रा0- 6/7/4/2

अर्थात् यह जो वात्सप्र है वह स्वर्ण हाथ वाला (अग्नि) ही है। इसलिए यदि किसी प्राणी की दीर्घ आयु करनी हो तो उसे वात्सप्र द्वारा छुये।

इस प्रकार वह उस उत्पन्न हुए प्राणी के लिए दीर्घ आयु कराता है, ओर वह पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। यदि किसी को वार्यवान कराना हो तो उसको विकृति मन्त्रो से अभिमन्त्रण करे, इस प्रकार वह वीर्यवान् बन जाता है।

द्वितीय अध्याय

आर्थिक दशा

आर्थिक दशा शीर्षक के अर्न्तगत शतपथ ब्राह्मण मे पर्याप्त मात्रा मे उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है।

परिच्छेद प्रथम

कृषि

वार्ताशास्त्र का सम्बन्ध कृषि, वाणिज्य, पशुपाल्य आदि मनुष्यो की जीविका के साधन या वृत्तियो से है। जनपदो मे फेले हुए आर्थिक जीवन के इस ताने बाने के लिए जानपदी वृत्ति यह सुन्दर शब्द प्रचलित था। इस जानपदी वृत्ति का उल्लेख यास्क ने इस प्रकार किया है-

"जानपदीषु विद्यात पुरुषो भवति।"
{निर्स्त- 1/16}

अर्थात् जनपद सम्बन्धी वृत्तियो या शिल्पो मे कुशलता प्राप्त किया हुआ पुरुष विशेष समझा जाता है।

खेती के लिए शतपथ मे कृषि से सम्बन्धित शब्द पाये जाते थे। मूलरुप मे कृषि शब्द का अर्थ केवल हल चलाना था, जैसा कि महाभारत मे भी पाया जाता है।

"पण्याना शोभन पण्य कृषीणा बाद्यते कृषि ।
बहुकार च सस्याना ब्राह्मे ब्राह्म तथा गवाम्।।"
{शान्ति पर्व- 186/20}

अर्थात् विक्री का वस्तुओ मे वह अच्छी है जो दुकान मे रखी है। खेती की सब प्रक्रियाओ में हल चलाना उत्तम कहा जाता है। हरी फसल के लिए निराना उत्तम है। वाहनो मे बैल का वाहन बढिया है। यहाँ एक ही श्लोक मे कृषि के दोनो अर्थ प्रयुक्त हुए है।

कात्यायन और पतञ्जलि मे कृषि के व्यापक अर्थ पर विचार किया गया है-

कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन या हल चलाना नही है, बल्कि बीज, बैल एव कर्मकर आदि के लिए भोजन का प्रबन्ध करना भी कृषि धातु के अन्तर्गत है।

"नाना क्रिया कृषेरथा नावश्य कृषिर्विलेखन एव वर्हते। कि तर्हि, प्रतिविधानेऽपि वर्तते यदसौ भक्त बीज बलीवर्दे प्रतिविधान करोति स कृष्यर्थ ।"
{भाष्य- 3/1/26}

हल्य-

एक हल की जोत के लिए पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी। एक परिवार के भरण पोषण के लिए पर्याप्त भूमि की इकाई को द्विहल्या कहते थे। इसे ही मध्यकाल मे दोहली या डोहली कहने लगे जो भूमि मन्दिर आदि के साथ राज्य की ओर से लगा दी जाती थी। मनु ने 'कुल' परिमाण भूमि का उल्लेख किया है।
{मनु0- 7/119}

सीता-

यह शब्द ऋग्वेद और उत्तर कालीन सहिताओ मे कृषि के देवता और हल की खूड या फाड के लिए प्रयुक्त हुआ है। शनै शनै पहला अर्थ बिलुप्त हो गया, अर्थशास्त्र मे केवल स्थान पर पुराना अर्थ है। कई स्थानो पर सीता का अर्थ विशेष रूप से राजा की भूमि की उपज है।

खेतों की नाप जोख-

किसानो के निजी खेत नाप जोख के आधार पर एक दूसरे से बँटे हुए थे।

"प्रमाण विशेष काण्डम्।"
{काशिका}

जिसकी लम्बाई सोलह हाथ मानी जाती थी।

"षोडशा रत्न्यायामो दण्ड काण्डम्।"
{बाल मनोरमा}

क्षेत्रकर-

"खेत बनाने वाला" यह उस अधिकारी की सज्ञा थी, जो खेतो की नाप जोख करता था। मेगस्थनीज ने ऐसे राजपुरुषो का उल्लेख किया हे, जो भूमि का लगान निश्चित करने, अर्थात बन्दोबस्त के लिए खेतो की नाप जोख करते थे। जातको मे जिसे रज्जुग्राहक कहा गया है, वही यह हो सकता है।

कृषि कर्म-

शतपथ के अनुसार खेती का पूरा स्वरुप इस प्रकार है। जोतना, वोना, काटना और मणनी करना है।

"कृषन्त , वपन्त , लुनन्त मृणन्त ।"
{शत0 1/6/1/3}

प्रत्येक के विषय मे सामग्री इस प्रकार है-

(1) जोतना-

जोतने के लिए कृषतिधातु थी। आज कल हिन्दी मे काढना, खैचना, दोनो कृया जोतने के अर्थ मे व्यवहृत होती है। भाष्य मे लिखा है कि किस प्रकार खेत का स्वामी एक ओर बैठा रहता है और उसके मजदूर पॉच-पॉच हलो से उसके लिए खेत जोतते थे।

"एकान्ते तूष्णीमासीन उच्यते पचभिर्हलै कृषतीति।
तत्र भवतिव्य पचभिहलै कर्षयतीति।"
{3/1/26, वा0 3}

खेतिहर मजदूरो को खेत का स्वामी उचित समय पर भोजन देता है।

यूनानी लेखक भारत मे आने पर यहॉ की भूमि की उपजाऊ शक्ति और किसानो के कौशल को देखकर स्तब्ध रह गये थे। उन्होंने जुताई के विषय मे लोगो की सावधानी का भी उल्लेख किया है।

(2) बोना-

जुताई के बाद खेत बोने लायक हो जाता है, पहले खेत को दो-तीन बाह कर छोड देते है फिर जब बोने का समय आता है तब जोतकर बीज डालते है। जुताई के

लिए धरता बिल्कुल तैयार है तत पर आ गयी है, बोना आवश्यक हो गया है। किसान मानते है कि जैसे ऋतु पर गाय, भैस हरी होने के लिए आतुर होती है, वैसे ही धरती भी। बुआई के कई प्रकार है जैसे- बैर, पवेड या छींट और चोवली। हल चलाते समय खूड मे बीज गिरता जाय, इसे बैर की बुआई कहते हे। खेत मे बीज छीट कर हल चलाने का नाम पवेड की वुआई है। जोती हुई धरती मे वीज को हाथ से गाडना चोबली कहलाता है।

कृषि कर्म का सम्बन्ध पृथ्वी माता से है। उसके लिए शुभ मुहूर्त देख कर बुआई की जाती है। कौटिल्य ने भी मूग, उडद आदि छीमी धान्य को मध्यवाप अर्थात् सावनी और कातिकी के बीच की बुआई के योग्य माना है।

{अर्थ0-2/23}

(3) कटाई-

जो खेत कटाई या लवनी के लिए बिल्कुल तैयार हो वह लाव्य कहलाता था। लवनी को अभिलाव कहते थे। आजकल खेतिहरों की भाषा मे इसे लाव कहते है। लाव के समय खेतो मे बडी चहल-पहल रहती है। कटाई करने वाले लावक, कहलाते थे, जिन्हे आज कल लावा कहते है। कटाई शुरु होने को वाड लगना माना जाता है। कभी-कभी यह बाड एक ओर से न करके छिट-पुट की जाती है जिसे "उपस्किरति" कहते है।

"उपस्कार मद्रका लुनन्ति, उपस्कार काश्मीरका ललन्ति।"
{काशिका}

(4) मणनी-

फसल काट कर खलिहान मे ले जाते थे। खलिहान के लिए चुना हुआ खेत खल्य कहलाता था। वह पडती रखा जाता था। इसीलिए खलीकृत का अर्थ हो गया पडती छोडा हुआ। मडनी के बाद अनाज की बरसाई की जाती थी।

वृष्टि-

बरसात को प्रावृष और वर्षा कहा गया है। वर्षा के पूर्वभाग के लिए प्रावृष् विशिष्ट शब्द था। सावन, भादो के महीनो मे पहले को पूर्व वर्षा और दूसरे को अपर वर्षा कहा जाता था। वह दो तरह की थी, एक तो जिसमे खेत की खूडें पानी से लबा लब भर जायें और सारे खेत मे पानी उतिराने लगे-

"सीतापूर वृष्टो देव"

दूसरे जिससे खेत मे पडे हुए खुर के निशान मात्र पानी से भरे।

"गोष्पदपूर वृष्टो देव।"
{भाष्य- 2/4/33}

कौटिल्य ने जागल अनूप आदि प्रदेशो मे वर्ष प्रमाण का उल्लेख किया है। वृष्टि का न होना या सूखा पड जाना (वर्ष प्रतिबन्ध) अवग्रह कहलाता था।

"खेती के अन्य विघ्न, आखूत्थ, शलभोत्थ, श्येनोत्थ चूहे, टिड्डी, बाज आदि मे भय।"

मेगस्थ ने लिखा है कि भारत मे दो बार वृष्टि और फसले होती थीं।

सिचाई-

वैदिक काल मे कई बडी छोटी नदियो के नाम दिये गये है जिनसे सिचाई होती होगी। भाष्य ने नहर या गूलो से धान के खेत सीचने का उल्लेख किया है। मद्र देश की देविका नदी के तट पर बरसात मे छोडी हुई रौसली मिट्टी की तह शालि के लिए बहुत अच्छी समझी जाती थी। कुओ से भी सिचाई होती थी। चरस या मोट का उल्लेख मिलता है। जिसकी आवश्यकता कुए की सिचाई मे बैलों को जोतने और मोट उठाने के लिए होती है।

फसलें सा सस्य-

फसले दो प्रकार की होती थी। कृष्टपच्य जो खेती से उत्पन्न हो, अकृष्टपच्य जैसे नीवार आदि जगली धान। बोने के समय और पकने के समय के आधार पर भी फसलो का नाम पडता था। बोने के हिसाब से फसले तीन प्रकार की होती थीं।

(1) आश्वयुज या आश्विन में बोई गई औसजी।
(2) ग्रीष्म में बोई गई गैष्म या गैष्मक।
(3) बसन्त मे बोई गई वासन्त या वासन्तक।

औसजी मे जौ गेहू प्रधान है। जो कार्तिक मे बोए जाते है, और बसन्त मे पकते है। बसन्त की बोई फसल बरसात मे पकती है। ग्रीष्म मे बोई हुई शरद् या अगहन मे पकती है।

कौटिल्य मे भी ऋतु के अनुसार कई फसल होने का उल्लेख है। वहाँ हरी खेती को सस्य और पकी फसल को मुष्टि कहा गया है।

खेती की उपज-

वैदिक युग मे धान्यो की उपज का निम्नलिखित उल्लेख है- ब्रीहि और शालि के खेत पृथक-पृथक होते थे, जो ब्रैहेय और शालेय नामो से पहचाने जाते थे। ब्रीहि बरसात मे बोया जाने वाला धान था।

शालि-

अर्थशास्त्र मे भी शालि को ब्रीहि से भिन्न माना गया है। यह उखाड कर फिर से रोपा जाता था। शालि की फसल शीत ऋतु मे पकती थी।

बाल्मीकि मे हेमन्त ऋतु में शालिका का वर्णन इस प्रकार है-

"खर्जूर पुष्पपाकृतिभि शिरोभि पूर्ण तडुलै ।
शोभन्ते किचिदालम्बा शालय कनक प्रभा ।।"
{अरण्य काण्ड- 16/1}

शालि की अपेक्षा ब्रीहि प्राचीन शब्द था। उसे ग्राम्य धान्य या कृष्ट पच्य अन्नो मे सबसे पहिला मानते थे।

{यजु0 18/12}

महाब्रीहि-

यह उस युग का प्रसिद्ध धान्य था जिसका उल्लेख तैतरीय सहिता मे भी आया है।

{3/1/5/2}

इसके अतिरिक्त हायन, षष्टिक, नीवार धान्यो का भी उल्लेख है। कात्यायन के अनुसार साठी विशेष चावल का ही नाम था।

इसके अतिरिक्त अन्य धान्यो मे जौ, मूँग, माष, तिल, अणु, कुलत्थ आदि का उल्लेख है। यवानी को कात्यायन ने निकृष्ट जौ कहा है।

द्वितीय परिच्छेद

औषधि और वनस्पति

औषधि और वनस्पतियो का उल्लेख शतपथ काल मे मिलता है पुप्प, पत्र फल, मूल आदि के आधार पर औषधियो के नामकरण का जो अध्याय प्राचीन भाग्त मे आरम्भ हुआ था, उसकी भी हल्की सी रेखा इस चित्र मे हे। औषधि वनस्पतियो के जगल और वनो का भी उल्लेख आया है।

वन-

इस शब्द के दो अर्थ थे, एक तो प्राकृतिक अरण्य जैसे- पुरगावण, मिश्रकावण और वृक्षो और फलो के जगल या उद्यान, जैसे- आम्रवण, खदिरवण, इक्षुवण जो सामान्य नाम थे।

वन दो प्रकार के थे-

(1) ओषधि, जैसे- मूर्वावन, मूर्वाविन।
(2) वनस्पति वन, जैसे- शिरीष वन, देवदारुवन।

ओषधि वनस्पति-

वनस्पति जगत के दो विभाग किये गये है- ओषधि और वनस्पति। वनस्पति और वृक्ष दोनो एक दूसरे के पर्याय थे। शतपथ मे भी पर्ण, पुष्प, फल, मूल के आधार पर ओषधियो के नामकरण के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है।

उदाहरणार्थ-

ओदनपाकी, शुगकुकर्णी, शालपर्णी, शखपुष्पी, दासीफली, दर्भमूली आदि। ये सब जडी बूटी और लताओ के नाम थे। फलो के नाम प्राय वृक्षो के नाम से पडता था, जैसे आमलकी वृक्ष का फल आमलक, जम्बू बृक्ष का फल जम्बू।

पुष्प-

कुमुद, पुष्कर, पुष्करादि गण मे पद्म, उत्पल, बिस मृणाल पर्यायो का भी उल्लेख है। हरीतक्यादि गण मे शेफालिका का नाम है। अर्थात् (पारिजात या हरसिगार)।

पतञ्जलि ने उससे रंगे हुए शैफालिक वस्त्र का उल्लेख किया है। पुष्पो के नाम उनके फूलने की ऋतु से रखे जाते थे। जैसे बासन्ती, कुन्दलता आदि।

फल–

वैदिक युग मे फल को वृक्षो से सम्बन्धित मानते है। किन्तु भाष्य मे चावल, जौ, दाल, तिल आदि वार्षिक पोधो की उपज भी उनका फल माना गया है। मनु के ओषधियो को फल पाकान्त कहने का भी यही भाव है। फल वाले वृक्षो को फलेग्रहि कहा जाता था। भाषा के उस नियम की ओर सकेत किया गया है। जिसके अनुसार वृक्ष और उसके फल का नाम प्राय एक सा होता है।

तृतीय परिच्छेद

पशुओं की दवा

ऊपर भूमि के तत्व को समझने के लिए पशुपद का आधि दैविक अर्थ जानना आवश्यक है। पशु का अर्थ है जो नेत्रेन्द्रिय से देखा जाय अथवा जो 'चतुष्पाद' हो। द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक से उत्पन्न वे कण अथवा पासु (समूढमस्य पासुरे) ऋ0(1/22/17।।) जो अधेरी रातो के समय अथवा अन्य किसी प्रकार से देखे जॉय पशु है।

(क) (प्रजापति) तेषु (पशुषु) एतम् (अग्निम्) अपश्यत्, तस्माद्वैवैते पशव ।
6/2/1/4 ।। श0 ब्रा0

अर्थात् प्रजापति ने इन पशुओं मे अग्नि को देखा इसलिए ये पशु है।

सम्भवत इनमे भौतिक अग्नि और सौर अग्नि दोनो का योग है। अग्नि योग से ही ये दृष्टि का विषय बने। इस प्रकार अन्यत्र भी लिखा है।

(ख) आग्नेयो वाव सर्व पशु । ऐ0 ब्रा0 2/6।।

(ग) आग्नेया पशव । तै0 ब्रा0 1/1/4/3।।

अर्थात् पशुओ में अग्नि का योग है।

इसीलिए शतपथ ब्राह्मण 6/4/1/2।। मे कहा गया है-

(घ) पृथ्व्यिा उपस्थाद् अग्नि पशव्यम्।।

अर्थात् पृथ्वी के उपस्थ से पशुओ के लिए हितकारी अग्नि को ही पशु कहा है।

(ड) पशुर्वा अग्नि । अग्नि मुखान् प्रजापति पशून सृजत्।
कपिष्ठल- 31/19

अर्थात पशु ही अग्नि हे। प्रजापति मे अग्निमुख (अग्नि प्रधान) पशुओं को उत्पन्न किया।

(च) "सर्वे पशवो यद्ग्नि । तस्मादग्नौ पशवो रमन्ते।"
शo ब्राo- 6/1/4/12।।

अर्थात् सब पशु जो अग्नि हे। इसलिए अग्नि मे पशु रमण करते है।

(छ) वायु प्रणेता वै पशव । शo ब्राo- 4/4/1/15।।
(ज) अन्तरिक्ष देवत्या खलु वै पशव । तैo ब्राo 3/3/1/3।।
(झ) तस्मादन्तरिक्षायतना वै पशव । शo ब्राo 8/3/2/9।।
(ञ) पशवो वै मरुत । ऐo ब्राo 3/19।।
(ट) पशवो वै वयासि। शo ब्राo 9/3/3/7।।

इन सभी पदो का भाव यह है कि अन्तरिक्ष स्थानीय वायु, मरुत्, तथा वयासि (पार्थिव पक्षी नहीं) आदि का पशुओ के साथ सम्बन्ध है।
रुद्र भी अन्तरिक्ष स्थानीय है। रुद्र का विद्युत के साथ सम्बन्ध है। अन्तरिक्ष पशु रुद्र से आग्नेय योग प्राप्त करते है। इसलिए पशु रुद्र पशुपति कहा जाता है। रुद्र का वाहन आखु भी अन्तरिक्षस्थ पशु है। शतपथ ब्राह्मण मे उल्लिखित है।

आखुस्ते (रुद्रस्य) पशु । 2/6/2/10 शo ब्राo।।

(ठ) "दैव्या वा एता विशो यत् पशव"। शo ब्राo 3/7/3/9।।

अर्थात् द्युलोक की प्रजाएँ हैं जो पशु हैं।

अत स्पष्ट है पृथ्वी के ऊपर भाग केवल पार्थिव परिणाम नहीं है। प्रत्युत द्यु और अन्तरिक्षस्थ पशुओ का इनमे योग है।

वर्तमान विज्ञान वेत्ता इस ऊषर को सोडियम नाइट्रेट (Sodium Nitrate) अथवा पोटैशियम नाइट्रेट (Potassium Nitrate) का नाम देते हैं। लवण मे भी सोडियम की प्रधान भाग होता है। आयुर्वेद का सुश्रुत आदि सहिताओ मे षडरस के व्याख्यान मे लवण को आग्नेय कहा है।

"कटु - अम्ल - लवण आग्नेय ।"
सूत्र स्थान - 42/7।।

चरक सहिता मे भी लिखा गया है-

"सलिलाग्नि-भूयिष्ठितवाल्लवण ।" सूत्र- 26/40।।

समुद्री जल मे लवण का अत्याधिक भाग इन पशुओ से सम्बन्ध रखता हे।

पृथ्वी का विस्तार-

ऊषरो के बनने से पूर्व ही पृथ्वी का विस्तार पर्याप्त हो चुका था। यद्यपि पृथ्वीस्थ उपलब्ध ऊष-स्थान वर्तमान मन्वन्तर की कई घटनाओ का फल है, तथापि उनका पृथ्वी की प्रथमोत्पत्ति के समय से विद्यमान था।

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है। खेती के काम को सुचारु रूप से चलाने के लिए किसानो को अच्छे बैलो की आवश्यकता पडती थी। ऐसी परिस्थिति मे खेती के साथ पशुपालन स्वाभाविक काम है, क्योकि पशुपालन से हल खींचने वाले बैल और घोडे ही नहीं अपितु स्वाद की भी प्राप्ति को जाती है, जो खेतो को उपजाऊ बनाने के लिए अपेक्षित है। प्राचीन भारत मे पशुपालन बहुत सरल काम था। इसका कारण यह है कि इस देश मे घास प्राय सर्वत्र उगती है, और पुराने समय मे जनसख्या कम होने के कारण घासो के मैदान पर्याप्त मात्रा मे मिलते थे जिनमे पशु बिना देखभाल के चर सकते थे।

सिन्धु सभ्यता के युग मे लोगो को पशुपालन का बडा चाव था। यहॉ से पशु दूसरे देशो को भी भेजे जाते थे। कूबड बाले बैल सिन्ध से ही भारतवर्ष के सभी प्रान्तो मे पहुँचते थे। यहॉ की खुदाई मे बैल, भैस, भेड, हाथी और ऊट की ठटरियॉ मिली है। सिन्ध के प्राचीन निवासी प्राय इन्हीं पशुओ को पाला करते थे। सभवत घोडे भी यहॉ पाले जाते थे। पशुओ मे सबसे अधिक गाय तथा बैल पाले जाते थे।

शतपथ ब्राह्मण मे इसका उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है।

"पुरुषमश्व गामविमज यद्पश्यन्तस्मादेते पशव ।।"
श0ब्रा0- 6/2/1/।।

इस प्रकार पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज आदि पशुओ का उल्लेख भी शतपथ मे मिलता है। वैदिक काल के आर्य भी प्राय कृषि के साथ पशुपालन करते थे। जिसमे अश्व, गाय, बैल, घोडे, बकरियॉ और भेडे आदि पशु मुख्य रूप से पालते थे।

शतपथ मे आगे लिखा गया है कि -

"पुरुषोऽश्वो गौरविरजो भवन्ति।"
शO ब्राO- 6/2/1/15।

अर्थात् पुरुष, अश्व, गौ, अवि तथा अज यही सब पशु होते हे।

इस प्रकार वैदिक काल मे जिन पशुओं का उल्लेख मिलता है वे इस प्रकार है-

(1) **गौ ही जीवन गाथा-**

यज्ञादि कार्यो मे गायो की विशेष आवश्यकता होती है। वैदिक काल मे आश्रम वासियो के यहाँ गायो के बडे बडे झुड होते थे। जिन्हे उनके शिष्य चराया करते थे। गाय के विषय में कुछ उल्लेख शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है जो इस प्रकार है।

"गब्यानुत्तमेऽहन्नालभतऽएते वै सर्वे पशवो यद् गब्या।"
शO ब्राO- 13/3/2/3।।

अर्थात् गाय आदि ओ कहलाते है, अन्तिम दिन गाय आदि का आलभन (यज्ञो) मे होता है। क्योकि वे सब पशु है। जो गाय आदि है।

अकेले सत्यकाम को उनके गुरु हारिद्रुयत ने 400 गाये चराने के लिए दीं, जिनको पाल-पोष कर सत्यकाम ने शीघ्र ही 1000 कर दिया। राजाओ के अधिकार मे भी आश्रम वासियो की तरह सहस्रो गाये रहती थीं। वृहदारण्य उपनिषद् मे लिखा है कि एक बार राजा जनक ने एक सहस्र गौवो की सींगों मे सोना लगवाकर उनको सबसे बडे वेद के पडित याज्ञवल्क्य को दे दिया।

राजा जानश्रुति ने एक सहस्र गाये रैक्व को देकर उनसे शिक्षा ली थी।

"इसी क्रम में प्राचीन भारतीय भाषा में गौ से सम्बन्धित विभिन्न शब्दावली का होना भी स्वाभाविक है। गाय के जन्म और जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ उन-उन शब्दो से प्रकट की गयी है।"

ओसर बछिया जो हरी होने फलने और बरदाने के लिए तैयार हो "उपसर्या" कहलाती थी। "उपसर्या कल्या प्रजनने" अर्थात् वह प्रजनन या बूने साहने के लिए काल प्राप्त समझी जाती थी। उसका पहला बरदाना उपसर कहा जाता था। बछिया तीन

वरस या तिवरसी होने पर पूरी पट्ठी मानी जाती थी। विराट पर्व मे उसे त्रिहायर्नी माहेयी कहा है।

गाभिन होने के बाद यदि वह वह जाय या तृ-निदा जाय तो उस चुई-चुई को वेहत् कहते थे। (वेहत् गर्भ पातिनी)

गाभिन् होने पर जो ठहर जाती थी वह गर्भ पूरा होने पर पुडे तोडने लगती थी, जिससे सूचित होता था कि वह आज कल मे बिआने वाली है। उसकी अवस्था का द्योतक अद्यश्वीना शब्द था।

वैदिक भाषा मे इसे ही प्रवत्या कहते थे। "भय्यप्रवय्ये च छनदसि वत्सरी प्रवय्या।"

बिआने के बाद पहलवन बिआई या पहलौटी गाय गृष्टि कहलाती थी। यह उस प्रकार की गौथी जो एक ब्यात के बाद लगभग तब तक दूध देती थीं, जब तक दूसरी ब्यात न करे। इसी के लिए वैदिक भाषा मे नैत्यिकी शब्द चलता था। स्वाभाविक है कि ऐसी गाय बहुत धन्य तथा शीलवती मानी जाती है। इसे ही मध्य कालीन सस्कृत मे नित्यवत्सा तथा बृजभाषा मे नैचकी कहा गया है। इस प्रकार जो गाय बरस-वरस या बरस ब्यवर होती थी उसके लिए पाणिनि कालीन भाषा मे समासमीना यह सुन्दर शब्द चल गया था।

पतजलि ने ऐसी गौ के विषय मे अपने युग की कल्याणी भावना को प्रकट करते हुए लिखा है-

"गौरिय या समा-समा विजायते।
गोतरय या समा-समा विजायते स्त्रीवत्सा च।।"
भाष्य- 5/3/55

वह गौधन्य है जो बरस-बरस पर बियाती है। उससे भी उत्कृष्ट वह है जो वरस-बरस पर विआती तथा बछिया जनती है।

जग तक गाय दूध देती रहे वह धेनु कहलाती थी। जिसे आज भी हिन्दी मे धेन कहते है। इसे ही कात्यायन ने "अस्तिक्षीरा" कहा है।

बिआने के छ सात माह बाद दूध गाढा होने तथा कम होने लगता है, और गाय बष्कयणी हो जाती है। जिस गाय को उसके दूध से ऋण पटाने के लिए बन्धक रख दिया जाय वह धेनुष्या कहलाती है। इस प्रकार वैदिक काल मे गाय की जीवन गाथा प्रचलित थी।

"अथो गौरिति ब्रूयात्। इमै वै लोका गौर्यद्धि किच गच्छतीमास्तल्लोकान्गच्छतीम ऽउ लोका ऽएषो ऽग्निश्चितस्तस्माद्गौरिति ब्रूयात।।"

शतपथ ब्रा0- 6/1/3/35।।

अर्थात् या कहे कि गौ। गौ ये लोक है। क्योकि जिस किसी की 'गति" है उसकी पृथ्वी मे ही गति है और यह लोक भी स्वय अग्नि है, इसलिए कहे 'गो' है।

रासभ-

वैदिक काल मे गधो का भी पालन होता था। इनको भी अन्य पशुओ की भॉति पालते थे। शतपथ ब्राह्मण मे भी इनके सम्बन्धित उल्लेख मिला है।

"तऽएतमेक पशु द्वाभ्या पशुभ्या प्रत्यपश्यन्रासभ गोश्चावेश्च तद्यदेतमेक पशु द्वाभ्या पशुभ्या प्रत्यपश्यस्तस्मदेषऽएक सन्द्विरेता ।।"

श0 ब्रा0- 6/3/1/23।।

अर्थात् इसलिए दो पशुओ के बजाय एक पशु लिया। अर्थात् गाय और भेड के बजाय गधा। चूकि उन्होंने दो के बजाय एक लिया, इसलिए (गधा) दुहरे वीर्य वाला होता है। (द्विरेता)।।

गधो के लिए खरशाला नामक अलग अस्तबल बनाए जाते थे। गधा भी अश्व की भॉति होता था अर्थात वह अश्व ही है। इस के उदाहरण शतपथ मे इस प्रकार दिये गये है।

"अश्वप्रथमोश्ररासभोऽथाज ऽएव ह्ये तेऽनुपूर्व यद्वै तदश्रु सक्षरितमासीदेष सोऽश्वोऽथ यत्तदरसदिवैष रासभोऽथ।।"

श0 प0 ब्रा0- 6/3/1/28।।

अर्थात् यह वही अश्व है। जो आरम्भ मे अश्रु सुरक्षित किया गया था, और जो "अरसत" अर्थात् चिलाया इसलिए रासथ हुआ।

"अथरासभम् युञ्जाथा रासभ युवमित्यध्वुर्यं चैतद्य जमान चाहास्मिन्यामे वृषण्वसूऽइत्यस्मिन्कर्मणि वृषण्वसूऽइत्येतदग्नि भरन्तमस्मयुमित्यगिन, भरन्तमस्मत्प्रेषितमित्येत तद्रासभें वीर्यं दधाति।।"

श0 प0 ब्रा0- 6/3/2/3।।

अर्थात् अब गधे को-

"युजथा रासभ युवम्।।"
यजु0- 11/13।।

अर्थात् तुम गधे को जोतो।

वह यह अध्वर्यु और यजमान से कहता है-

"यस्मिन् यामे वृषण्वसु"
यजु0- 11/3

इस मार्ग पर धन को बरसाते हुए अर्थात् इस यज्ञ मे धन की वर्षा करते हुए-

"अग्नि भरन्तमस्मयुम"
यजु0- 11/3

अग्नि को रखते हुए और हम से प्रेरित हुए। इस प्रकार वह गधे मे पराक्रम स्थापित करता है।

अब वह गधे से कहता है-

"अथ रासभ । स्थिरोभव वीड्वङऽआशुर्भव
वाज्यर्वन्निति स्थिरश्च भववीड्वङ्गश्चाशुश्च
भव वाजी चावन्नित्येतत्पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्ने
पुरीषुवाहणऽइति पृथुर्भव सुशीमस्त्वग्ने
पशब्यवाहन इत्येतत्तद्रासभे वर्य दधाति।।"
श0 प0 ब्रा0- 6/4/4/3

अब गधे मे पराक्रम भरने सम्बन्धी विषय में वह गधे से कहता है, इस सम्बन्ध मे यजुर्वेद में कहा गया है-

"स्थिरोभववीड वङ्गऽआशुर्भव वाज्यर्वन।।"
यजु0 11/44

हे दृढ अगो वाले वीर्यवान स्थिर और शीघ्र गामी हो।

"पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्ने पुरीषवाहण।।"
यजु0 11/44

"अग्नि के सामान को लेचलने वाले तू चौडा चकला तथा अच्छे स्थान वाला हो, इस प्रकार वह गधे मे पराक्रम भरता है।"

इसी प्रकार शतपथ मे गधे के विषय मे कहा गया है-

"अथरासभस्य। वृषाऽग्नि वृषण भरन्निति वाऽआग्नर्वृषा
रासभ स वृषा घृषाणा भरत्यपा गर्भ समुद्रियमित्यपा
ह्येषगर्भ समुद्रियस्तदेन रासभेन सम्भरति।।"
श0ब्रा0- 6/4/4/8।।

अर्थात् अब गधे को- "वृषाग्नि वृषण भरन।"
यजु0- 11/46

मे नर अग्नि नर को धारण करते हुए, अग्नि नर है और गधा भी नर है, नर नर को ले जाता है।

"अपा गर्भं समुद्रियम।"
यजु0 11/46

अर्थात् "जलो का समुद्रोत्पन्न गर्भ" यह जलो का समुद्रोत्पन्न गर्भ है। इस प्रकार गधे को ठीक करता है (सजाता है)।

अवि-

अवि के लिए आविक अर्थात् भेड शब्द आया है जिसे भेडो का बडा झुड और भ्रक कहलाता था। जिन पशुओ का वर्णन शतपथ मे आता है उनमे से भेड भी एक पशु ही है जिसका उल्लेख शतपथ मे इस प्रकार मिलता है। जिसका क्रम से आलभ किया गया है-

पुरुष प्रथम् आलभते। पुरुषो हि प्रथम पशूनामथाश्व पुरुष ह्यन्वश्वोऽथ गामश्व ह्यनु गौरथावि गा ह्यन्वविरथाजमवि ह्यन्वजस्त देनान्यथापूर्वं यथा श्रेष्ठमालभते।
श0 ब्रा0- 6/2/1/18।।

अर्थात् पहले पुरुष का आलभन होता है क्योकि पशुओ मे पहला पुरुष है। फिर अश्व क्योकि पुरुष के पीछे अश्व है। फिर गौ का क्योकि अश्व के पीछे गौ है। फिर अवि का क्योकि गाय के पीछे अवि है। और फिर अज का क्योकि अवि के पीछे अज है। इस प्रकार यथाक्रम अर्थात् श्रेष्ठता के हिसाब से आलभन करता है।

कात्यायन ने भेड के दूध के लिए "अविदूस", 'अविमर्गीस' "अविसोढ" आदि शब्द दिये है। जो जनपदीय बोली के लिए ज्ञात होते है। अजापाल को जावाल और भेड, बकरियो के बहुत बडे रेवड पालने वाले को 'महाजाबाल' कहा जाता था। जाबाल का सम्बन्ध म्लेच्छ भाषा के भेड वाची शब्द योबिल या जोबिल (भेड की सीग) से ज्ञात होता है, जिससे अग्रेजी का जुबिली शब्द बना है। पाणिनि मे और भी दो एक विदेशी शब्द आये है, जैसे- अरबी भाषा का हलाहिल, ईरानी का दिष्टि और शक भाषा का कन्था आदि शब्द आये है, जो प्राचीन काल मे प्रचलित थे।

ऊँट-

शतपथ ब्राह्मण मे ऊटो के समूह को औष्ट्रक, बच्चे को करभ और छोटे बच्चे को श्रृखलक कहा गया है। प्राचीन काल मे ऊँट और खच्चर की मिली-जुली टुकडी उष्ट्रवामि कहलाती थी। इससे यह ज्ञात होता है कि सेना मे शीघ्र प्रयाण के लिए इनका उपयोग होता था।

वैदिक काल मे ऊँट के बाल, खाल या ऑतो से बने हुए पदार्थ या बर्तन औष्ट्रक कहलाते थे। ऊँट बालो से बनायी गयी गोणी और उनकी ऑतो से बनाए हुए कुप्पे या कुप्पियो आदि की इस शब्द से की जाती थी।

अज-

भेड-बकरी दोनों को शतपथ मे अजाबि सा अजैड और बकरो का रेवड आज तक कहलाता था।

शतपथ ब्राह्मण में बकरे से सम्बन्धित जो उल्लेख मिले है वे इस प्रकार है-

शुक्ल तूपर मालभते
श0प0ब्रा0- 6/2/2/6।

अर्थात् शुक्ल बकरे का आलभन करता है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के 6/3/1/28।। मे जो उल्लेख बकरे से सम्बन्धित मिला है, वह यह है-

"अश्व प्रथमोऽथ रासभोऽथाज"।
शoपoब्राo- 6/3/1/28

अर्थात् पहले अश्व फिर गधा उसके वाद बकरा।

बकरे के सम्बन्ध मे फिर शतपथ का यह वाक्य-

"अथाजम्। पृथिब्या सधस्थादग्नि पुरीष्यमड गिरस्वदाभरेति पृथब्याऽउपस्थादाग्नि पशब्यमाग्नि वदाभरेत्येतन्तदेनमजेनान्विच्छति।।"
शoपoब्राo- 6/3/2/9

अर्थात् अब बकरे की-

"पृथिब्या सघस्थादग्नि पुरीष्यमडगिरस्वदाभर।"
यजुo- 11/16

पृथिवी के आसन से अगिरा के समान पुरीष्य अग्नि को ला।

पृथिवी के आसन से पशु सम्बन्धी अग्नि को अग्नि के समान ला। ऐसा तात्पर्य और इस प्रकार वह उसको बकरे के द्वारा तलाश करता है।

अब शतपथ के माध्यम से अब बकरे को सुसज्जित करता है।

"अथाजस्य। ऋत सत्यमृत सत्यमित्ययवाऽअग्नि ऋर्तमसावादित्य सत्य यदिवाऽसावृतमय सत्यमुभयम्वेतदयमग्निस्तस्मादाहऽर्तं सत्यमृत सत्य मिति त देनमजेन सम्भरति।।"
शoपoब्राo- 6/4/4/10।।

अर्थात् अब बकरे के ऊ पर-

"ऋत सत्यमृत सत्यम्।"
यजुo- 11/46

अर्थात् ऋत सत्य है अमृत सत्य है।

यह अग्नि ऋत है। यह आदित्य सत्य है। या आदित्य ऋत है, अग्नि सत्य है। परन्तु यह अग्नि दोनो है, ऋत भी सत्य भी। इसलिए कहा ऋत सत्य है अमृत सत्य है।

इस प्रकार वह बकरे को सुसज्जित करता है।

अश्व-

शतपथ ब्राह्मण मे घोडे तथा घोडी का सयुक्त नाम अश्व पाया जाता है। इसे ही वैदिक काल मे अश्व के नाम से पुकारा जाता था। अश्व की अनेक जातियों का वर्णन शतपथ मे मिलता है। इसमे उत्तम जाति के अश्व कम्बोज, बाल्हीक, सौवीर तथा सिन्धु से लाये जाते थे।

हरण-

घोडी के गरमाने को अश्वस्यति कहा गया है। गर्भाधान करने के बाद नर घोडे को जो रातिब आदि दिया जाता था, उसे हरण कहा जाता था। यह नेग दस्तूर से बधा हुआ होने के कारण धर्म्य था और उसका देना आवश्य था।

आश्वीन-

एक घोना दिन भर मे जितनी मजिल तय करे वह दूरी आश्वीन कही जाती थी। अथर्वेद मे इसे आश्विन कहा गया है।

शतपथ ब्राह्मण में घोडे की उत्पत्ति के विषय में उल्लेख मिले है, वे इस प्रकार है-

"अथाश्वानद्भिरभ्युक्षति। स्नपनायाभ्यवनीयमानात्तस्व पितान्वोदानीतानद्भयोह वाऽअग्रेऽश्व सम्बभूव सोऽद्भ्य सम्भवन्न सर्व समभवदसर्वो हि वै समभवन्तस्मान्न सर्वे पदिभ प्रतितिष्ठत्येकैकमेव पादमुदच्य तिष्ठति तद्यदेवास्यात्राप्स्वहोयत ते नैवैनमेतत्समर्द्धयति कृत्सन करोति तस्मादश्वानद्भिरभ्युक्षतिस्नपनायाभ्यवनीयमानान्त्स्नपितान्वो दानीतान्।।"
श0प0ब्रा0- 5/1/4/5।।

अर्थात् अब वह घोडो पर जल छिडकता है, या तो उस समय जब पानी पिलाने ले जाते है, या जब उस समय जब पानी पिला कर लाते है। पहले घोडा जल से ही उत्पन्न हुआ था। जब वह जल से उत्पन्न हुआ, तो अपूर्ण उत्पन्न हुआ। अपूर्ण तो हुआ ही, क्योकि वह सब पैरो से बराबर नहीं खडा होता। एक पैर एक ओर को उठाकर खडा होता था। अब जो कुछ जल मे शेष रह गया, उसकी पूर्ति जलो से करता है, इसलिए घोडो पर जल छिडकता है, चाहे उस समय जब पानी पिलाने ले जा रहे हो, चाहे उस समय जब पानी पिलाकर ला रहे हो।।

वह इस मत्र से जल छिडकता है-

"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वाश्वा भवति वाजिन ।"
यजु0- 9/6

जलो मे अमृत है, जलो मे भोषध है, जलो की प्रशमा से ही हे घोडो तुम शक्तिशाली हो जाओ।

"प्राचीन काल मे घोडे रथ मे जोते जाते थे, इसका उल्लेख शतपथ मे भी इस प्रकार मिलता है।"

"अथ रथ युनक्ति। सदक्षिणायुग्यमेवाग्रे युनक्ति सब्यायुग्य वाऽअग्रेमानुषेऽथैव देवत्रा।।"
श0 ब्रा0- 5/1/4/7।।

अब रथ मे घोडे जोतता है। पहले दाहिना। मनुष्य लोग पहले बाया जोतते है। परन्तु देवताओ की प्रथा विपरीत है।

शतपथ में आगे ही घोडे के विषय मे कहा गया है-

"यन्तूप केसरवास्तदश्वस्य रुप तूपरो हि केसरवानश्वो यद्ष्टाशफस्तद्गो।"
श0 ब्रा0- 6/2/2/15

यह जो गर्दन के बाल (अयाल) है वह अश्व का ही रूप है, घोडे के दाढी नहीं होती।

अब घोडे मे किस प्रकार पराक्रम सीापित होता है। उसे शतपथ मे इस प्रकार दर्शाया गया है-

"तदेन मेता देवता करोत्यग्नि वायुमादित्य तदश्वे वीर्य दधाति।।"
श0 ब्रा0- 6/3/2/2।

इस प्रकार वह उसको तीन देवता अग्नि, वायु और आदित्य बनाता है, और इस प्रकार अश्व मे पराक्रम स्थापित करता है।

वह घोडे से कहता है-

"प्रतूर्न्त वाजिन्नाद्रव।"
यजु0- 11/12

इसी क्रम में वह घोडे से कहता है-

सोऽश्वमभिमन्त्रयते।

"सजातो गर्भोऽअसि रोदस्यो ।"
यजु0 11/43,
ऋ0 10/1/2

तू इन दोनो लोको का उत्पन्न हुआ गर्भ है। रोदसी है ये पृथ्वी और द्यौ । उनको यह उत्पन्न हुआ गर्भ है।

"ओषधयोवाऽएतस्य मातरस्ताभ्यऽएष कनिक्र दत्प्रैति तदश्वे वीर्यं दधाति।।"
शत0ब्रा0- 6/4/4/2

औषधियाँ उसकी माताएँ है। वह इनसे शोर करता हुआ भागता है। इस प्रकार वह घोडे मे पराक्रम देता है।

बैल-

वैदिक काल मे भारतीय किसानो के जीवन मे बैल का जो महत्वपूर्ण स्थान है उसकी तस्वीर सस्कृत भाषा तथा हिन्दी भाषा के सैकडो शब्दो से मिलती है, जो वैलो के रूपरग, आयु स्वभाव और दु ख-सुख पर प्रकाश डालते है। शतपथ मे दूध पीते हुए बच्चे को शकृत करि कहा जाता था। वैदिक भाषा मे बच्चे को आतृणाद भी कहा जाता था। फिर वही वत्स या बछडा कहलाता था। बछडे का समूह वात्सक था। प्राचीन काल मे जब गाये जगल मे चली जाती थीं तो जिस विशेष स्थान में बछडे रखे जाते थे, उसे वत्सशाला कहते थे।

लगभग दो वर्ष के बछडे को वैदिक काल मे दित्यवाह कहा जाता था। उसे निकालने के लिए जो लकडी के लट्ठे का खटखटा बनाया जाता है, सभवत उसकी सज्ञा दित्य थी। उसमें जोत कर जिस बछडे को निकालते थे उसकी सज्ञा दम्य होती थी।

बैल पहले बत्स, फिर दम्य और अन्त मे बलीबर्द बनता था।

चतुर किसान अपने बछडो मे से पहले ही यह पहचान लेते है कि किसे सॉड या विजार बनाना है। ऐसे चुने हुए बछडो को आर्षभ्य कहा जाता था। ऐसे वछडो को चौखने के लिए किसान प्रारम्भ से ही गाय के थनो मे अधिक दूध छोड देता है ओर प्राय दो थनो का दूध उन्हे देता है। कभी-कभी तो ऐसे बछडे को अपनी मॉ का पूरा दूध की मुखामेल या मुहछुट्ट पीने दिया जाता है।

इस प्रकार ऋषभ बनने वाला बछडा जब कुछ वडा हो कर वढने लगता हे, तब उसे जातोक्ष कहते थे। जतोक्ष बधिया नहीं किया जाता था। यौवन काल मे उसे महोक्ष यह सम्मानित पद मिलता था। बृद्धावस्था मे उसे बृद्धोक्ष कहते थे। अत्यधिक सम्मान देने के लिए उसे ऋषभतर कहा जाता था।

जिस बछडे को शकट आदि मे जोतने के लिए बधिया करते थे वह पूरा जवान होने पर उक्षा और अधेड होने पर उक्षतर कहा जाता था।

बछडों का दॉतना तथा उनकी उम्र-

बैलो का दॉतना तथा उम्र	दॉतो की सख्या
2 से 2।। वर्ष	दो दॉत
तीन वर्ष	चार दॉत
साढे तीन वर्ष	छह दॉत
चार वर्ष	आठ दॉत

अर्थात् दो से ढाई वर्ष के बीच में बछडे के दूध के दॉत गिर कर दो पक्के दॉत निकल आते है, तब वह द्विदन् कहलाता है। जिसके दूध के दॉत नहीं टूटे हो उसे उदन्त कहते है। तीन वर्ष की आयु मे वह चतुर्दन् या चौदन्ता होता है। इस समय उसकी नाक छेद कर नाथ डाली जाती है और तब से वह नाथहरि हो जाता है लगभग साढे तीन वर्ष की आयु मे दो दॉत और निकल आते है, तब वह षोडन् अर्थात् छद्दर कहा जाता है। पूरे चार वर्ष की आयु मे सब दॉत भर जाते है और तब तरुण वैल अष्टदन हो जाता है। जिसके एक दॉत कम हो उसे सप्तदन् या सद्दर कहते थे।

बैल के क्रय तथा विक्रय के समय उसके दॉत देखकर उसकी आयु का अनुमान किया जाता है। ऐसे ही सींगों की नाप से भी आयु की पहचान होती है।

काम बैलों को रथ, गाडी, तॉगा, हल आदि जिसमें जोतना हो उसी के अनुसार उनका अलग-अलग वर्गीकरण करके दाने-चारे तथा टहल का प्रबन्ध किया जाता था। रथ के लिए पूरी नाप का ठाढा बैल पसन्द किया जाता था। हल और गाडी मे चाहे

जैसा भी हो जोत लेते थे। शौकीन लोग रथ के बैलो को पालने मे काफी ध्यान देते थे क्योकि शतपथ काल मे बैलो के रथ की सवारी सबसे अधिक सम्भ्रान्त मानी जाती थी।

रथ खींचने वाला बैल रथ्य, जुवा खींचने वाला युग्य। बोझ ढोने वाला धुर्य या धौरेय, पूरी गाडी या सग्गड खींचने वाला शाकट और हल खींचने वाला हालिक या सौरिक कहलाता था। गाडी मे केवल एक और जुतने वाला अभ्यस्त बैल एक धुरीण और दोनो ओर जुतकर जुआ खींचने वाला सर्वधुरीण कहलाता था। वह बैल सब से अच्छा माना जाता था जो छकडा खींचता था। तथा जो छकडे और हल दोनो मे चलता है वह और अच्छा माना जाता था।

बैलों की प्रसिद्ध नस्लें-

शतपथ मे नस्ल के बैलो को सल्वक कहा जाता है। उत्तरी राजस्थान के बीकानेर से अलवर तक फेले हुए बडे भू-भाग का नाम साल्व था। मेडता और जोधपुर इलाका भी उसी के अर्न्तगत था। इस प्रदेश के नागौरी बैल आज तक प्रसिद्ध है, जो चलने मे ततैया होते है। नागौर के उत्तर पश्चिम मे दूर तक फेला हुआ जो जगल है उसी मे यह नस्ल प्राचीन काल से पनपती आयी है।

शतपथ में, वाहीक, कच्छी बैलो का तथा रकु जनपद के राकव और राकवायण बैलो का उल्लेख मिलता है। इनमें पहली दो नस्ले आज तक मशहूर है।

काठियावाड मे दैवतक पर्वत की तलहटी मे बैलो तथा गायो की एक विलक्षण जाति अभी भी जीवित है। यहॉ की गाये अत्यन्त दुधार और सुहावनी होती है तथा बैल अत्यन्त चलने वाले होते हैं।

यही प्राचीन कच्छी तथा काठियावाडी नस्ल होनी चाहिये, जिसका रग सिह के समान तथा नेत्र सुभग होता है।

शिल्प कला-

शतपथ में शिल्पी शव्द चारु शिल्पी तथा कारुशिल्पी दोनो के लिए प्रयुक्त हुआ है। नर्तक, गायन, वादक जिस नित्य सगीत की साधना करते है, उस ललित कला को भी शतपथ काल में शिल्प कहा जाता था। कुम्हार आदि के मोटे हुनर को भी शिल्प कहते थे।

बौद्ध साहित्य मे ठीक यही अर्थ सिप्प का है। वहाँ नट, लघक आदि की कलाबाजी को भी सिप्प कहा गया है।

अर्थशास्त्र मे सैनिक शिक्षा भी एक शिल्प है, और राजा द्वारा सेना का निरीक्षण शिल्प दर्शन कहा गया है। कौषीतकी ब्राह्मण मे नृत्य और गीत को शिल्प माना गया है। हाथ से शिल्प या उद्योग करने वाले के लिए शतपथ काल मे कारि शब्द प्रयुक्त होता था।

शिल्पियों के भेद-

वैदिक काल मे प्रत्येक गॉव मे कम से कम पॉच प्रकार के शिल्पी अवश्य पाये जाते थे।

(1) कुम्हार
(2) लोहार
(3) बढई
(4) नाई
(5) धोबी।

कुशल शिल्पियों राज शिल्नी कहा जाता था। सभवत ये लोग राजकुल से सम्बन्धित होने के कारण प्रशसित और कर्मकुशल समझे जाते थे। बढई राजा के लिए काम करता था, वह फिर निजी काम अर्थात् घर पर बैठ कर जनता का काम नहीं करता। राजकुल के कर्मो मे नियुक्त शिल्पियों को जनता का काम करने का निषेध पहले से ही चला आता था। इसके विपरीत जो सर्व साधारण के लिए काम करते थे, उनमे भी दो प्रकार के शिल्पी थे।

(1) जो अपने ठीहे पर बैठ कर ही काम करते थे।
(2) जो बुलाए जाने पर किसी के भी घर जाकर काम कर आते थे।

विशेष रूप से बढइयो के लिए आज भी यह बात ठीक घटित होती है।

शिल्पियों के नाम-

कुलाल, कुम्भकार उसके बनाये गये मिट्टी के बर्तन कौलात्मक कहलाते थे। तक्षा का मुख्य कार्य रन्दे, बसूले से लकडी को छीलना या गढना था। उसके उपकरणो मे उद्घन वह ठीहा था, जिसपर रखकर वह अदद तैयार करता था।

शतपथ काल मे तक्षा या बढई का महत्व पूर्ण स्थान था। जातक कथाओं मे पॉच-पॉच सौ बढइयो के गाओ के उल्लेख से काष्ठमय वास्तु का महत्व सूचित होता हे।

धनुष्कर, सामान्य धनुष और महेष्वास नाम के विशेष धनुप का उल्लेख है। धनुष ताड की लकडी के बनाये जाते थे। महेष्वास बडा धनुष था जो पूरे छ फुट का मनुष्य की लम्बाई के बराबर होता था। यूनानी इतिहासकारो के अनुसार उसका एक सिग भूमि पर टेक कर वाण चलाया जाता था।

शतपथ मे कई प्रकार के रगो से रगे हुए वस्त्रो का भी उल्लेख है। लाल रग से रगा हुआ वस्त्र लोहित तथा काला रग से रगा कालक कहलाता था। लाक्षा या लाखी रग जिसे जतु भी कहते है वस्त्र रगने के लिए और लकडी पर चढाने के लिए इस देश मे सदा से अत्यन्त प्रिय माना जाता रहा है। उसके रग हुए सामान को लाक्षिक या जातुष कहते थे।

इसी प्रकार मञ्जित, नीली तथा रोचना या गोराचन इन चटकीले रगो से भी वस्त्र रगे जाते थे। शकल और कर्दय से भी वस्त्र रगने का रिवाज था, जिन्हे शाकलिक या कार्दमिक कहते थे। शतपथ मे हरिद्रा और महारजन नामक रगो का भी उल्लेख मिलता है।

धातु और रत्नों का उल्लेख-

शतपथ मे धातु और रत्नो का भी उल्लेख मिलता है। कालायस् (लोहा) और लोहितायस् (ताबा)। रजत आदि गण मे लोहे और शीशे का उल्लेख है। उनकी बनी वस्तुए लौह और शैश कहलाती थीं।

मणि-

लोहित सभवत माणिक्य या लाल की सज्ञा थी। अनुमानत पद्मराग रत्न का नाम था और लोहतिक केवल सग या उसकी अपेक्षा घटिया किस्म का पत्थर होता था।

> "लोहिताख्यस्य मणे पद्मरागस्य चान्तरम्।
> यत्र नास्ति कथ तत्र क्रियते रत्नविक्रय ।।"
> पञ्चतन्त्र- 1/85

यह हकीक या तामडे की कोई जाति होनी चाहिये। सासग या सस्यक का नाम अनुमानत पन्ने का प्राचीन नाम था, जिसे बाद में कुषाण गुप्तकाल के लगभग मरकत कहने लगे।

श्री मोतीचन्द्र जी का विचार है कि-

"लाल सागर मरकत बन्दरगाह से आने के कारण पन्ने का नाम मरकत पडा।"

किन्तु वैद्र्यमणि के विषय मे कहा गया है कि यह मणि वालवाय पर्वत मे होती थी किन्तु विदूर नगर के वैकटिक उसे तराशते या उसका सस्कार करते थे, अतएव वह वैदूर्य नाम से प्रसिद्ध हुई

तन्तुवाय-

जहाँ कपडा बुना जाता था, उस स्थान को आवाय और करघे को तन्त्र और ढरकी को प्रवाणी कहते थे। जो वस्त्र अभी नया-नया करघा से उतरा हो, उसे तन्त्रक, नवक या निप्रवाणि कहा जाता था। शतपथ मे वस्त्र के लिए प्राय आच्छादन शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसमे कुछ वस्त्रो के नाम दिये गये है, जैसे-

शैफालिक (हरसिगार या पारिजात का रगा हुआ), काशिक (काशि जनपद का बना हुआ, जिसे जातको मे कासेय्यक या वाराणसेय्यक कहा गया है)।

माध्यमिक अर्थात् चिन्तौण के पास प्राचीन मध्यमिका नगरी का बना हुआ वस्त्र।

कम्बलकार-

शतपथ मे इस देश मे अनेक प्रकार के कम्बल बनाए जाते थे, विशेषत उत्तर-पश्चिम भारत के सब प्रकार के ऊनी वस्त्र और कम्बल बनकर मध्य प्रदेश मे आते थे। जिनका उल्लेख इस प्रकार मिलता है।

(1) प्रावार- इसका उल्लेख महाभारत आदि में बहुधा आता है।
(2) पाण्डु कम्बल
(3) पण्य कम्बल

काशिका में रावक भी एक प्रकार का कम्बल माना गया है। यह रकु नाम की बकरियो के लम्बे बालो से बनता था। पण्य कम्बल निश्चित नाप और तौल का बाजार मे चालू कम्बल था। उसमे जो ऊन लगती थी, उसे उस कारण कम्बल्य कहते थे। सौ पल या 5 सेर ऊन का सज्ञा कम्बल्य थी।

पाण्डु कम्बल-

वैदिक काल मे इस कम्बल से मढे हुए रथ पाण्डुकम्बली कहलाते थे। काशिका ने इसे गजसिहास पर बिछाने के लिए बढिया मेल का रगीन कम्वल कहा है। इन्द्र के हाथी और आशन पर बिछाने के लिए जातको मे इसका उल्लेख है। वहॉ यह भी कहा गया है कि चटकीले लाल रग का कम्बल गन्धार देश मे वनता था।

"महावाणिजजातक" मे उड्डियान कम्बल का उल्लेख है-

"काशिकानि च वत्थानि उड्डियाने च कम्बले।"
4/352

स्वात की द्रोणी प्राचीन गान्धार या उड्डियन के नाम से प्रसिद्ध थी। आज भी वहॉ विशिष्ट प्रकार के कम्बल बनते है, जो सम्पूर्ण उत्तर पश्चिम भारत मे स्वाती कम्बल के नाम से प्रसिद्ध है।

श्री आरेल स्आईन ने- स्वाती की अपनी पुरातत्व परायण मात्रा मे पता लगाया कि ये कम्बल वहॉ की स्वाती स्त्रिया अभी तक बुनती है। इनके किनारे अत्यन्त सुहावने चटकीले लाल रग के होते हैं।

चर्मकार-

शतपथ ब्राह्मण मे चमडे की बनी हुई कई वस्तुओ का उल्लेख है। जैसे- नध्री, वह तस्मा जिससे बैलों को जुए में नाधते हैं। वर्ध (हिन्दी बद्धी), चमडे की दुबाली या रस्सी।

इससे ज्ञात होता है कि कभी-कभी मोटी बरत या कुऑ चलाने की रस्सी या शकट गाडी मे बॉधने की रस्सी भी चमडे की बनायी जाती थी।

प्राय कुऍ से पानी उठाने के लिए मोट, चरस, पुर के बनाने मे गाय भैस के चमडे का पूरा थान लग जाता था।

लोक मे जूता बनवाने के दो प्रकार है। पहला मोची को बुलाकर पैर की नाप देकर और दूसरा स्वय बाजार में जाकर जो भी अपने पैर की नाप का हो पहन लेते हैं। पहले प्रकार की पनही के लिए लोक में अनुपदीना शब्द चलता था जिसे गॉवो मे अच्छी और मजबूत मानते है।

कर्मकार या लोहार-

वैदिक काल मे औजारो का उल्लेख इस प्रकार से है-

(1) भस्त्रा, अयोधन या घन नामक हथौडा।
(2) कुटिलिका या ऑकुडा, जिसके कारण लोहार के लिए कौटिलक शब्द चल गया। वह गॉव मे नाना प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ तैयार करता था, जैसे लोके की बनी हुई हल की कुशी या फाल, एव दुघन या कुल्हाडी।

सुवर्णकार-

शतपथ मे कर्णिका, ललाटिका, ग्रैवेयक, अगुलीयक आदि आभूषणो के नाम आये है। उन्हे सुनार तैयार करते थे। वे कसौटी पर सोना कसने में कुशल होते थे, जिसके कारण उन्हे आकर्षिक कहा जाता था। कसौटी लेकर जो लोग घरों में जाकर सोना कसते और उनका बान बताते थे, उन्हे भी आकर्षिक कहा जाता था।

शतपथ मे सुनारों के लिए एक विशेष भाषा का प्रयोग मिलता है।

"निष्टपति सुवर्णम्"

वह सोने को ऑच मे केवल एक बार तपाता है। अपनी भट्टी और घरिया के सामने बैठा हुआ सुनार तीन तरह के ग्राहको का काम भुगतता है।

(1) जो गहने बनाने के लिए उसके पास नया सोना चॉदी लाते थे।

(2) जो पुराने आभूषण लाकर देते है कि उन्हे गलाकर फिर नए गहने बनाए जाय।

इन दोनों के सोने को लेकर वह उसे बार-बार तपाता और पीटता है या बढाता है।

(3) तीसरे प्रकार के ग्राहक वे होते है जो अपने गहने गलाने के लिए नहीं बल्कि सफाई और चमकाने के लिए लाते हैं।

सुनार उन्हें लेकर एक बार अग्नि मे तपाता है, और रगड कर या बुझाकर उन्हे फिर नये जैसा चमकीला कर देता है। इस तीसरी प्रक्रिया के लिए ही "निष्टपति सुवर्णं सुवर्णकार" प्रयोग चलता था।

बन्धानी-

अपने देश मे पत्थर का काम बहुत पुराने समय से चला आ रहा है। पत्थर की शिलाओ और खम्भे आदि उठाने के लिए बन्धानी होते थे। जो लकडी की सोटो या टुण्डो से और रस्सियो से भारी बोझ उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे या पहुँचाते थे। वे लोग रस्सियो मे कई तरह की मोटी तथा मजबूत गाठे लगाते है। उन्हे प्राचीन भाषा मे बन्ध कहते थे।

काशिका ने कुछ पुराने बन्धो का उल्लेख किया है। जैसे-

क्रौञ्च वन्ध, मयूरिका बन्ध, अट्टालिका बन्ध आदि। इसी प्रकार अर्थशास्त्रो मे वृश्चिकबन्ध नाम आता है, ये बन्धानियो की गाठो, फन्दो या फॉसो के नाम थे।

धातुओ को टाका लगाना-

गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग मे लिखा है-

"लवणेन सुवर्ण सदध्यात्।"
गो0 ब्रा0-1/14।।

अर्थात लवण से सोने को टाका लगावे।

पुन गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग मे ही लिखा है-

"सुवर्णेन रजतम् सदध्यात्।"
गो0 ब्रा0- 1/14।।

अर्थात् सोने से चॉदी को टाका लगावे। इत्यादि

रेखागणित-

ब्राह्मण काल मे रेखागणित का ज्ञान भी पर्याप्त बढा हुआ था। शतपथ ब्राह्मण के 10/2/2/5-8।। में चतुरश्रश्येनचिति का कुछ वर्णन पाया जाता है।

इसमे मध्य मे चार अश्र, पक्षो के दो अश्र (Triangle) और पृछ का एक अश्र होता है। इस प्रकार सब मिलकर सात अश्र हो जाते है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण कहता है-

"स वै सप्तपुरुषो भवति।"

चत्वारो कि तस्य पुरुषस्यात्मा त्रय पक्षपुच्छानि।।
शाण्पण्ब्राण- 10/2/2/5।।

अर्थात् वह वेदि सात पुरुष वाली होती है।

चार (अश्र) उस पुरुष का शरीर और तीन (अश्र) पक्ष और पूछ के।

इस वेदि का आकार श्येन पक्षी के समान होता है। इसका उदाहरण इलाहाबाद के निकट कौशाम्बी की खुदाई मे मिला है।

इसके बनाने वाल को अश्रो (Triangle) का पूरा ज्ञान होना चाहिए। साधारण लोग इस कठिन रुप वाली वेदि को न बनाकर एक अश्र वाली वेदि ही बनाते थे। उनका शतपथ ब्राह्मण खण्डन करता है।

"तद्धैके। एकविध प्रथम विदधाति न तथा कुर्यात।"
श0 ब्रा0- 10/2/3/17।।

"तस्मादु सप्तविधमेव प्रथम विदधीत।"
श0 ब्रा0- 10/2/3/18।।

अर्थात् कई एक (साधारण लोग) एक बिध अर्थात् एक की अश्र पहले बनाते है। वैसा न करे इसलिए पहले ही सात प्रकार की बनावे।

काठक सहिता के 21/4।। मे वेदियों के और भी रूप कहे गये है-

(1) प्रउगचित चिन्वीत।
अर्थात प्रउगचित रूप वाली अग्नि का चयन करे।

(2) उभयत प्रउग चिन्वीत।

अर्थात् दोनो ओर (Squares) रूप वाली अग्नि बनावे।

(3) रथचक्रचित चिन्वीत।

अर्थात् रथचक्र के समान गोलाकार अग्नि चयन करे।

(4) द्रोणचित चिन्वीत।

अर्थात् द्रोणाकार (Trough) चिति चिने।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार की वेदियॉ शतपथ ब्राह्मण, तैतरीय सहिता, काठक सहिता आदि मे कही गयी है। इनके बनाने वालो को रेखागणित के कई कठिन रहस्यो का भी ज्ञान था। इस बात का विशेष उल्लेख जर्मन विद्वान बर्क ने किया है।

Z D M G सन् 1901

चतुर्थ परिच्छेद

वाणिज्य या व्यापार

शतपथ मे वाणिज्य व्यापार के सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री का उल्लेख हे। ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। वाणिज्य, निमान, क्रय-विक्रय, आपण, पण्य, शुल्क, देय ऋण आदि।

साधारणत कोई भी मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ नहीं बना पाता है और जो कुछ वह स्वय बनाता है वह उसकी आवश्यकता से बढकर होती है। ऐसी परिस्थिति मे लोगो मे लेन-देन का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। व्यापार का क्षेत्र पहला अपना कुटुम्ब ही होता है, और फिर बढते-बढते गॉव, नगर, प्रान्त, देश और विदेशो तक विस्तृत हो जाता है। आज-कल सारा ससार व्यापार के बधन मे गुथा हुआ है। प्राचीन काल मे भारतवर्ष का विदेशो के साथ व्यापार जल के मार्गो से सीपित हुआ था।

व्यापारिक सम्बन्ध का सर्वप्रथम परिचय मोहन जोदडो और हडप्पा की खुदाई से मिला है। पुरातत्व के पडित इस निश्चय पर पहुँचे है कि यहॉ के निवासी व्यापार भी करते थे और इनके व्यापार का सम्बन्ध विभिन्न देशो मे स्थापित हो चुका था। 3000 ई0पू0 मे भारत और बबीलोन का व्यापारिक सबन्ध था। इसीक्रम मे भारतवर्ष का मध्य एशिया से व्यापार के लिए खैबर के दर्रे से होकर आने जाने का मार्ग बना हुआ था।

सिन्धु सभ्यता के निवासी व्यापार करने के लिए नाव, गाडी तथा रथो का प्रयोग करते थे। कौटिल्य के समय मे जलमार्ग की अपेक्षा स्थल मार्ग और द्वीपो की अपेक्षा समुद्र तट व्यापार के लिए अच्छे समझे जाते थे।

व्यवहार शब्द - व्यापार - वाणिज्य के लिए सामान्यत व्यवहार का प्रचलन था उसे पण भी कहा गया है। व्यवहार का मुख्य लक्षण क्रय-विक्रय है। ज्ञात है कि व्यवहार आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यापक व्यापार के लिए और पण स्थानीय क्रय-विक्रय के लिए प्रयुक्त होता था। आपण अर्थात् दुकान या बाजार में क्रय-विक्रय के लिए प्रदर्शित वस्तुएँ पण्य कहलाती थीं।

वाणिज-

शतपथ मे व्यापारियों के लिए वणिक् और वाणिज् ये दोनो शब्द प्रयुक्त होते थे। किसी भी जाति का व्यापारी हो वह वाणिज् कहलाता था। वैश्यो के लिए वह शब्द सीमित न था। जैसे-

मद्रवाणिज, मद्र देश के साथ व्यापार करने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता था।

व्यापारियो के नाम कई पडते थे, उनके व्यवसाय की विशेषता मे, व्यापार की वस्तुओ से, पूँजी के आधार पर अथवा वे जिन देशो से वाणिज्य करते हो उनके नाम से।

क्रय विक्रयिक-

वह व्यापारी था, जिसका मुख्य काम लेवा-बेंची या खरीद फरोख्त था। यह थोक व्यापारी हुआ। जो सामान एक जगह से भरकर दूसरी जगह ले जाकर बेचता था, उस व्यापारी का सज्ञा वस्निक होती थी, जो रोकड पूजी व्यापार मे लगाता हो, चाहे स्वय उसकी देखभाल न भी करता हो। एक प्रकार से क्रय-विक्रय औश्र वस्निक का यही परस्पर भेद था कि एक की पूजी या रोकड लगती थी और दूसरा मुख्यत काम काज देखता था।

प्राचीन भारत मे आर्थिक जीवन की तीन मुख्य सस्थाएँ थीं।

(क) शिल्पियो के सगठन को श्रेणी।
(ख) व्यापारियो के सगठन को नियम
(ग) एक साथ माल लाद कर वाणिज्य करने वाले व्यापारियो को सार्थवाह कहते थे।

सार्थवाह और श्रेणी दोनो ही महाभारत मे प्रयुक्त हुए है। सार्थवाह का विशेष उल्लेख जातको मे मिलता है। सार्थ या समूह मे व्यापार करने वाले लोगो का सार्थवाह शब्द के जन्म के पहले सास्थानिक कहा जाता रहा हो ऐसी सभावना है।

वैदिक काल मे दो प्रकार के व्यापारियो का उल्लेख है। प्रास्तारिक एव काठिनिक। पहले व्यापारी खनिज धातुओ में और दूसरे बॉस, बबई, बाध आदि के जगलो की उपज की ठीकेदारी का काम करते थे। व्यापारिक वस्तुओ के नाम से भी व्यापारी लोग प्रसिद्ध हो जाते थे। जैसे- अश्ववाणिज, गोवाणिज। इसी प्रकार उन देशो के नाम से जिनके साथ वे प्राय व्यापार करते थे, व्यापारियो का नाम पडता था। जैसे-

काश्मीखाणिज, मद्रवाणिज, गान्धारवाणिज। व्यापारियो मे जो उच्चस्थानीय या चोटी के होते थे। इन उदाहरणों से प्राचीन काल के अन्तर प्रान्तीय व्यापार का सकेत मिलता है।

प्राचीन काल मे प्राच्य देशो के व्यापारी उत्तर-पश्चिम भारत मे जाकर व्यापार करते थ, जैसे- विदेह के व्यापारी कश्मीर और गन्धार मे तथा मगध के व्यापारी धुरपश्चिम के सौवीर देश मे, एव वाराणसी के व्यापारी उज्जैन या श्रीवास्ती मे।

भाषा की प्रकृति से ज्ञात होता है कि दूरस्थ प्रदेशो के साथ व्यापार करने वाले व्यक्तियो के लिए इस प्रकार के विशेष शब्दो की आवश्यकता पडती होगी।

आपण-

शतपथ काल मे दुकान या वाणिज्य के लिए आपण शब्द का प्रयोग किया जाता था। बिक्री की वस्तुओ को पण्य और पणितब्य कहा जाता था। पण्य सामान्य शब्द था। कोई वस्तु भाण्डशाला मे विक्री के निमित्त रखी हो तो भी पण्य हो सकती थी। किन्तु जो वस्तुएँ विक्री के निमित्त दुकान मे सजाकर रखी जाती थीं, उनके लिए क्रय शब्द प्रयुक्त होता था। महाभारत मे क्रय के विशिष्ट अर्थ मे पण्य का भी व्यवहार हुआ है, जैसे-

"पण्याना शोभन पण्यम्"
शान्ति पर्व 186/20

इसका अर्थ है कि जो विक्री की वस्तुएँ है, उनमें वे उत्तम है जो उस निमित्त से पण्य रुप मे दुकान या बाजार मे सजाई हुई है।

तेन-क्रीतम-

इसमें सोने, चॉदी और तॉबे की मुद्राओ का उल्लेख है, जो शतपथ काल मे व्यवहार मे आती थीं। बाजार में माल खरीदने के लिए सिक्कों का चलन आम बात थी। पहले उस स्थिति से लोग आगे बढ गए थे, जिसमे वस्तुओ की अदला बदली की व्यापार का मुख्य साधन होती थी। वस्तुओ का मूल्य दुकानदार और ग्राहको के बीच सिक्को मे ही, चुकाया जाता था। इसके बडे सौदे भी होते थे। जो सामान का एक सहस्र कर्षायण से खरीदा जाय वह साहस्र कहलाता था। हर बडी सख्या से भाषा मे शब्द नहीं बना करता, पर शत् और सहस्र ऐसी सख्याए है, जो प्राय भाषा मे व्यवहृत होती है। अतएव उनके सम्बन्ध मे ही सत्य और साहस्र शब्द प्रचलित हो गये। बाजार मे सोने के निष्क से लेकर तॉबे के माष तक बीसो प्रकार के सिक्के चलते थे। उनके आधार पर छोटे-बडे मूल्य की अनेक प्रकार की क्रीत वस्तुओं के लिए बहुत ये शब्द लोक मे चालू थे।

अनेक प्रकार के शब्दो में उस समय के उस क्रय-विक्रय की झॉकी मिलती है, जो तॉबे के धेले-पैसे से लेकर हजार - दो हजार - तीन हजार की लागत की वस्तुएँ

लेवा बेची के रुप मे प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त निमान या अदला बदली की भी प्रथा थी।

साई या सत्यानप द्रव्य-

बाजार मे किसी चीज की विक्री पक्की करने के लिए दुकानदार ग्राहक से कुछ साई लेता है। इसके लिए सत्याकरोति एव सत्यापयति ये दो शब्द भाषा मे प्रचलित थे। साई का उद्देश्य ग्राहक की ओर से सौदा नक्की करना था। पक्का करने की क्रिया को सत्यकार कहते थे। यज्ञवल्क्य स्मृति मे लिखा गया है कि-

"सत्यकार कृतम्"
या0 स्मृति- 2/61

मूल और लाभ-

पूजी मूल थी। लाभ सहित पूजी या लागत को मूल्य कहते थे। लाभ वह है जो मूल द्वारा प्राप्त होता है। पहले मूल्य का अर्थ लागत और लाभ तथा दूसरे मूल्य का अर्थ है वह वस्तु जो लागत के समतुल्य हो, अर्थात् उसमे लागत भाई है, उसके अनुरुप या बराबर कीमत की हो।

भाषा मे ऐसे शब्द भी चलते थे, जिनसे यह प्रकट हो कि अमुक वस्तु की विक्री से कितना लाभ हुआ। जैसे- पञ्चक, सप्तक, शत्यशतिक, साहस्र जिसमे पॉच, सात, सौ या हजार का मुनाफा हो।

वस्न-

वैदिक काल से ही इस शब्द का आरम्भ हो जाता है। वस्न का अर्थ सर्वत्र पूजी है। वस्निक शब्द के अर्थों को इस प्रकार समझना चाहिये-

वस्निक वह व्यापारी था, जो स्वय खरीदने-बेचने का काम न करके केवल पूजी लगाता और लाभ का उर्पाजन करता हो। वस्निक का उल्टा क्रय-विक्रयिक था, जो स्वय लेता बेंचता था।

जो व्यापारी माल बेचने के लिए शकटों पर भाड लादकर निकलता था, वह जाते समय द्रव्यक कहलाता था। वही अपना माल बेचकर पूजी और लाभ कमाकर घर की ओर लौटता था तब वस्निक कहलाता था। वस्निक और द्रव्यक इन दोनों शब्दों के तीन अर्थ

थे। जिन्हे वैदिक साहित्य मे हरति, वहति आवहति- इन तीनो शव्दो से प्रकट किया है। उदाहरणार्थ-

"एक व्यापारी वाराणसी से तक्षशिला तक जाकर अपना माल वेचने के लिए घर से निकलता है, जब वह काशी से चला, तो काशी के व्यापारियो का भाषा मे वह 'हरति 'देशान्तर' प्रापयति, माल लादकर चला है, इस अर्थ मे द्रब्यक कहलाता था। मार्ग मे जब वह मथुरा पहुँचता, मथुरा के व्यापारी उसे 'वहति' अर्थ मे द्रव्यक कहते, अर्थात् उनके नगर से होता हुआ माल ले जा रहा है। वही वाणिज् जब अपने गन्तव्य स्थान तक्षशिला मे पहुँचता, तब वहॉ के व्यापारी उसे 'आवहति' अर्थ मे द्रव्यक कहते अर्थात् वह हमारे नगर मे माल ले आ रहा है।"

इस प्रकार वह माल बेचकर पूजी कमाता हुआ चलता था। तक्षशिला मे बिक्र समाप्त करके वह अपनी पूजी लेकर वाराणसी की ओर लौटता था, तब वह वस्निक कहलाने लगता था। तक्षशिला के व्यापारी 'हरति' अर्थ मे उसे वस्निक कहते अर्थात् वह बिक्री से मिली हुई आय, जिसमे पूजी और लाभ दोनों शमिल थे, ले जा रहा है। यहॉ भी-

"हरति देशान्तर प्रापयति"

मार्ग मे मथुरा के व्यापारी उसे 'वहति' अर्थ मे वस्निक कहते, अर्थात् वह बिक्री द्रव्य लेकर उनके नगर से जा रहा है। जब वह वाराणसी पहुँचने को होता, तब वहॉ के लोग उसके लिए 'आवहति' अर्थ मे वस्निक शब्द का प्रयोग करते, अर्थात् वह विक्री की रोकड ला रहा है।

द्रव्यक व्यापारी अर्थात् माल लादकर ले जाने वाले सार्थवाह कितने भिन्न प्रकारो का माल ले कर चलते थे, उसका थोडा सा सकेत शतपथ मे इस प्रकार मिलता है, जैसे- वश (बॉस), कुटज, बल्बज (एक प्रकार का घास, बबई), मूल (कई प्रकार की औषधियॉ) अक्ष (गाडी या रथ के पहियो के धुरे), स्थूण (घरो मे लगाने के लिए लकडी के लट्ठो की बनी हुई थूनी या खभे), अश्म (पत्थर की पटिया या भोट और स्तभ), अश्व, इक्षु, खट्वा (खाट के पाये और पट्टियॉ) इत्यादि।

शुल्क-

व्यापारियों के माल पर शतपथ मे जगह-जगह चगी लगती थी। जिसे शुल्क कहते थे। जितना शुल्क माल पर पडता था, उसके आधार पर व्यवहार मे माल का नाम पडता था। जैसे- पञ्चक, वह माल जिस पर पॉच कर्षायण चुगी लगी हो। ऐसे ही सप्तक, सहस्रक आदि।

चुगी घर को शुल्क शाला और वहाँ से प्राप्त होने वाली आय को शौलक शालिक कहा जाता था। शुल्क शाला राज्य के लिए प्रमुख आय स्थान थी। वस्तुत शुल्क से ही दक्षिणी भाषाओ मे सुक हुआ जिससे बिगड कर चुगी शव्द वना है। छोटे या फुटकर माल पर चुगी रकम कम ही होती थी। जिस पर आधा कार्षापण या अठन्नी चुगी लगे उसके लिए चुगी की भाषा मे अर्धिक या भागिक, ये दो शब्द प्रचलित थे। अर्ध या भाग शब्द का अर्थ आधा कर्षापण या अठन्नी होता था।

वैदिक काल मे परम्परा से चले आते हुए कुछ करो का उल्लेख मिलता है। जिन्हे वैदिक भाषा में 'कार' कहते थे।

भाष्य मे- "अविकटोरण" उदाहरण मे कहा गया है कि भेडो के हर एक झुड या रेवड के पीछे एक भेड चुगी के रूप मे वसूल की जाती थी। नदी या घाट पार करने वाले हर दूधिये से एक छोटी दोहनी दूध उतराई या चुगी वसूल किया जाता था।

वणिज्य पथ-

शतपथ काल मे एक नगर को दूसरे नगर से मिलाने वाले पथो का उल्लेख मिलता है।

"तद्गच्दति पथि दूतयो " देव पथादिगण आदि मे कई प्रकार के विशेष पथो का उल्लेख है। जैसे- वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, अजपथ, शगुकुपथ, राजपथ, सिहपथ, हसपथ, देवपथ आदि अन्तिम दो पथो का सबन्ध वायु मार्ग से है।

पालि महानिद्देस मे इन पथो का प्राचीन उल्लेख रह गया है। उस सूची मे ये नाम है जैसे- वण्णुपथ, अजपथ, मेण्ढपथ, शकुपथ, छत्तपथ, वशपथए सकुणपथ, मूसिकपथ, दरीपथ, वेत्तचारपथ आदि। इस प्रकार से इन नामो का प्राचीनता सिद्ध होती है।

अजपथ से आने वाला माल "अजपथेन आहृतम्।" अथवा उस रास्ते से जाने वाला व्यापारी "अजपथेन गच्छति" आज पथिक कहलाता है। ऐसे ही शकुपथ से आने वाला शाकुपथिक था। जिस पथ मे केवल एक बकरी के चलने की गुजाइश हो वह तग रास्ता अजपथ हुआ। आज भी पहाडी प्रदेशों में बकरी और भेडो पर छोटे थैलो मे माल लाद कर ले जाते है। ये ही अजपथ और मेण्ढपथ होने चाहिए।

शकुपथ और भी अधिक कठिन मार्ग था। पहाडी मार्गों मे जहाँ बीच मे चट्टाने आ जाती थीं, वहाँ शकु या लोहे की कीले चट्टानो में ठोंक कर चढना पडता था। एक जातक मे शकुपथ का उल्लेख आया है।

मूषिकपथ वे पहाडी मार्ग थे, जिनमे चट्टान काटकर चूहो के बिल जैसी छोटी सुरगे बनानी पडती थीं। दरीपथ वे मार्ग थे जिनमे कुछ चौडी सुरगे काटी जाती थी। वशपथ और वेत्राचार उन मार्गो को कहते थे, जहाँ नदी के एक किनारे पर लगे हुए लम्बे बाँस या बेतो को झुकाकर उनकी सहायता से दूसरी ओर पहुँचा जा सके। अत्यन्त घने जगलो मे इस प्रकार के उपाय काम मे लाये जाते थे।

कालिदार ने भी खगपथ, घनपथ, सुरपथ या देवपथ इन तीन मार्गो का उल्लेख रघुवश महाकाव्य के 13/19 श्लोक मे किया है।

कौशाम्बी से भवन्ति होकर दक्षिण मे प्रतिष्ठान और पश्चिम मे भरुकच्छ को मिलाने वाला विध्याटवी या विन्ध्य के बडे जगल का मार्ग प्राचीन भूगोल मे कालान्तर पथ के नाम से प्रसिद्ध था।

मधूक (मुलहठी) और मिर्च स्थल पथ नामक मार्ग से उत्तर मे लाई जाती थी। यह स्थल पथ दक्षिण भारत के पाण्ड्य देश से पूर्वी घाट और दक्षिण कोसल होकर आने वाला मार्ग हो सकता है।

कालिदास ने भारत से ईरान को जाने वाले खुश्की के रास्ते को भी सीलपथ कहा है। पैतवल्यु की परमत्थदीपनी टीका के अनुसार-

"द्वारका से मरुभूमि के रेगिस्तान को पार करता हुआ एक मार्ग सौवीर की राजधानी रोरुक को चला जाता था। वहाँ से फिर वही उत्तर की ओर मुडकर बाहीक, कम्बोज की तरफ चला जाता था।"

(परमत्थ भाग- 3, पृ0 113)

वहीं दूसरी ओर पश्चिम मे ईरान को जाता होगा, जो आज भी वैसी ही है।

उत्तर-पथ -

वैदिक काल में उत्तर-पथ का उल्लेख मिलता है। जो माल उत्तर-पथ से आता था, या जो लोग उस मार्ग पर जाते थे, उनके लिए औन्तरपथिक शब्द का प्रयोग उस समय की भाषा मे होता था। उत्तर भारत मे यातायात और व्यापार की जो महाधमनी गन्धार से पाटिलपुत्र तक चली आयी है, अशोक, शेरशाह, अकबर आदि के समय में भी जो बराबर चालू रही, उसी महामार्ग (राहे आजम) का प्राचीन नाम उत्तर-पथ था।

मेगस्थनीज आदि यूनानी लेखको ने इसे “नार्दन रूट” कहा है, जो उत्तरपथ का ठीक अनुवाद है। उन लेखको के अनुसार इस मार्ग के दो बडे टुकडे थे। एक तो वक्षु से काश्यपीय सागर तक जो ब्लैक सी होकर यूरोप तक चला जाता था। उसी रास्ते मे भारतीय माल नदियो के वारिपथ से होता हुआ पश्चिमी देशो मे पहुँचता था।

इस मार्ग का दूसरा भाग भारतवर्ष में था, जो गान्धार की राजधानी पुष्कलावती से चलकर तक्षशिला होता हुआ मार्ग मे सिन्धु, शुताद्रि और यमुना पार करके हस्तिनापुर और कान्यकुब्ज प्रयाग को मिलाता हुआ पाटलिपुत्र एव ताम्रलिप्ति तक चला जाता था।

इस मार्ग पर यात्रियो के ठहरने के लिए निषद्याए, जल के लिए कुए और छायादार वृक्ष लगे हुए थे। सर्वत्र एक-एक कोस की दूरी पर सूचना देने वाले चिन्ह वने थे। इसी मार्ग का बीच का टुकडा वह था जो तक्षशिला, पुष्कलावती से कापिशी होता हुआ बाल्हीक तक जाता था और वहाँ पूरब मे कम्बोज की ओर से आते हुए चीन के कौशेय पथो से मिलाता था।

इस प्रकार चीन पश्चिमी देश और भारत इन तीनो को मिलाने वाला यह उत्तर-पथ महामार्ग विश्व के वाणिज्य-पथो मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण था।

पंचम् परिच्छेद

निमान

वैदिक काल मे एक वस्तु से बदलकर दूसरी वस्तु लेना "निमान' कहलाता था, जिसे आज कल अदला बदली कहते है। जो वस्तु दी जाती थी उसका उस वस्तु के साथ जो ली जाती थी। मूल्य का अनुपातिक सबन्ध निश्चित करना पडता था। या तो दोनो वस्तुओ का मूल्य बराबर होता था, जैसे- सेर भर गेहू के बदले सेर भर तिल लेना। किन्तु यदि सेर भर जौ देकर दो सेर मट्ठा मिले तो जौ का मूल्य मट्ठे के मूल्य से दुगुना होगा। उस समय कहा जायेगा कि-

"द्विमयमुदश्विद् यवानाम्"।

इसी प्रकार त्रिमयम्, चतुर्मयम उदाहरण भी थे अर्थात् दो भाग मट्ठे का मूल्य एक भाग जौ के बराबर हुआ। जो वस्तु बदले मे ली जाती है, वह निमेय और जो दी जाती है वह निमान कहलाती थी। निमेय के एक भाग के मूल्य की तुलना निमान के कई भागो से करने का नियम था।

निमान के कुछ उदाहरण -

निमान तथा निमेय के उदाहरण प्रतिदिन के काम मे आने वाली वस्तुएँ है जैसे- खाद्य पदार्थ, वस्त्र, छोटे पालतू पशु। वसन या वस्त्र को निमान का साधन माना जाता है। वसन देकर जो वस्तु ली जाती थी उसे वासन कहते थे। वसन नियत लम्बाई और मूल्य का शाटक या धोती थी। कोली जुलाहे वस्त्र देकर बदले मे वस्तुएँ लेते थे।

शतपथ काल मे गौपुच्छिक उस वस्तु को कहा जाता था, जो गोपुच्छ के बदले ली जाती थी। "डा0 भण्डारकर ने गोपुच्छ को अदला बदली या सिक्को की तरह क्रय-विक्रय करने का साधन माना है।" किन्तु गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूछ नहीं गाय ही है। गाय के लिए जो चराई का शुल्क दिया जाता था, उसे आज भी पुच्छी कहते है।

प्राचीन प्रथा के अनुसार गाय को बेचते समय उसका स्वाम्य परिवर्तन उसी समय पूरा होता था, जब बेचने वाला गाय की पूछ खरीदने वाले के हाथ मे पकडा दे। इससे ज्ञात होता है कि गोपुच्छ शब्द गौ के ही पर्याय रूप मे लिया जाता था। वैदिक काल से ही गाय अन्य वस्तुओ के साथ अदला बदली करने या मूल्य चुकाने का साधन थी। अतएव जो वस्तु एक गाय के बदले मे ली जाती थी, वह गौपुच्छिक कहलाती थी।

भाष्य मे इसे भी बडे सौदे का उल्लेख है।

"पञ्चभि गौभि क्रीत पञ्चगु ।"
1/2/44

आज भी प्रथा है कि मालिनो से हरी साग मब्जी या फल-फूल आदि लेने के लिए एक दो या तीन अञ्जलि भर अनाज दिया जाता है। उसी के लिए ये घरेलू शब्द थे।

दो या तीन आचित नामक तोल से ली गयी वस्तु द्वयाचिता, त्रयाचिता कहलाती थी। आचित पच्चीस मन के बराबर होता था, जो कि बडे सग्गड या लढिया गाडी का बोझ माना जाता था। पचास मन या पिचहत्तर मन अन्न देकर बदले मे ली जाने वाली वस्तु भूमि हो सकती थी। जिसे पहले द्विकाण्डा क्षेत्र भक्ति और त्रिकाण्डा क्षेत्र भक्ति कहा है। उतने नाप की भूमि मोल लेने के लिए पच्चास और पिचहत्तर मन अन्न सम्भवत दिया जाता था। उसके लिए द्वयाचिता, त्रयाचिता जैसे शब्द प्रयोग भाषा मे आए।

चरक सहिता के अनुसार दो द्रोण का एक शूर्प एव दो शूर्प की एक गोणी होती थी। पॉच गोणी और दस गोणी अन्न से क्रीत वस्तु के लिए भाष्य पञ्चगोणि, दशगोणि शब्दो का उल्लेख है। इतने ही अन्न से पट मोल लिया जाता था। साढे बारह मन या पच्चीस मन अन्न की तोल से जो पट लिया जाता था, वह किसी नियत नाप का होता होगा। वैदिक काल मे वसन देकर वस्तु मोल लेने की प्रथा का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार वस्तु के लिए वासन शब्द सिद्ध किया है। यह वासन पॉच गोणी अन्न के बराबर होना चाहिए।

कात्यायन ने लिखा है कि-

"वसन मोल लेने के लिए जो ऋण उधार लिया जाता था उसे वासानार्ण कहते थे।"

यह ऋण कितना होता था इस प्रश्न के उत्तर का सकेत "पञ्चगोणि पट ।" इस उदाहरण से मिलता है, अर्थात् पॉच गोणी अन्न से या उसके बराबर मूल्य उधार लेकर बसन या पट लिया जाता था। प्रश्न यह है कि यह पट कौन सा था और उसका क्या मूल्य होता था। पहले प्रश्न के उत्तर में अनुमान होता है कि धोती या साडी ऐसा वस्त्र है जिसकी नाप सदा से प्राय नियत रही है। जुलाहे उसी नाप की धोती बुनते हैं। ऐसा प्रतिमानित पट या वसन ही "वसनेन क्रीतम्" इस प्रकार के व्यवहार के लिए काम दे सकता था। इस प्रकार के नियत नाप वाले वस्त्र या शाटक के मूल्य पर पतञ्जलि के एक उदाहरण से प्रकाश पडता है।

"शतेन क्रीत शत्य शाटक शतम्"

भाष्य- 5/1/21

इससे विदित होता है कि पतञ्जलि के समय मे एक साडी या धोती का मूल्य एक कर्षापण था। यदि एक शाटक पञ्चगोणी या साढे बारह मन अन्न अथवा एक कर्षापण से मोल मिलता था तो इससे यह जाना जाता है कि पतञ्जलि के समय मे एक कर्षापण से साढे बारह मन अन्न आता था। शुग युग से पूर्व मौर्य युग और नन्दयुग मे भी वस्तु स्थिति इससे कुछ भिन्न न रही होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

जब वस्तुएँ इतनी सस्ती थी, तभी एक काकणी और अर्धकाकणी जैसे- छोटे सिक्के बाजारो मे चलते थे।

इस प्रकार पञ्चगोणि का अर्थ एक शाटक, एक बसन या एक पट या एक धोती के लिए सगत होता है।

इसी प्रकार दशगोणि शब्द आता है, अर्थात् वह पट जो 25 मन अन्न से खरीदा गया हो। इस वस्त्र के सम्बन्ध मे अनुमान करने का भी कुछ आधार प्राप्त होता है। इस देश मे अन्तरीय और उत्तरीय अर्थात् धोती और उपरहना, इन दो वस्त्रो के पहनने की प्रथा शतपथ काल से रही है। इस पर टिप्पणी करते हुए कात्यायन ने धारण किये जाने वाले वस्त्रो के जोडे को शाटक युग कहा है कात्यायन और पतञ्जलि के उल्लेख से ऐसा सकेत मिलता है कि उपरना और धोती, अन्तरीय और उत्तरीय परिधानीय और प्रावरणीय इन दोनो प्रकार के शाटको का नया जोडा एक साथ ही बाजारो मे बेचा या खरीदा जाता था। तभी पतञ्जलि ने लिखा है कि- एक साथ रखे हुए शाटक युग मे यह नहीं मालूम पडेगा कि कौन सा उत्तरीय (धोती) और कौन सा अन्तरीय (उपरना) है। फिर वे कहते है कि व्यक्ति समझदारी से देखेगा वह यह जान लेगा कि दोनों मे से कौन धोती है, और कौन सा उपरना है। इसी शाटक युग के लिए दशगोणि शब्द प्रयोग में आता था, जिसका मूल्य एक शाटक से दुगुना पच्चीस मन धान्य या दो कर्षापण होता था।

षष्ठम् परिच्छेद

प्रमाण और उन्माद

शतपथ मे परिमाण तोल या घनाकार वस्तुओ के लिए और प्रमाण लम्बाई के लिए आया है। पतञ्जलि के अनुसार तोल के लिए उन्माद, आयाम या लम्बाई के लिए प्रमाण और लम्बाई मोटाई चौडाई वाली घनाकृति (सर्वतोमान) वस्तुओ के लिए परिमाण शब्द का प्रयोग किया गया है।

"उर्ध्वमान किलोन्मान परिमाण तु सर्वत ।"

पतञ्जलि के अनुसार काल परिमाण अर्थात् समय की नाप बताने वाले शब्द परिणाम शब्द के अर्न्तगत नहीं आते। लम्बाई की माप के लिए सर्वत्र प्रमाण शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

तुला-

तराजू और उसमे तोली हुई वस्तुएँ तुल्य कहलाती थी। तराजू के डण्डी के ऊपर बॅधी हुई रस्सी बनियो की बोल चाल में प्रग्रह कहा जाती थी।

अथर्ववेद वे द्रुवय शब्द दुदुभि या नगाडे के बने हुए बाहरी खोल के लिए आया है।

"द्रुवयो विबद्ध।"
अथर्व0- 5/20/2

लगभग उसी प्रकार के गहरे लकडी के पात्र नाप-जोख के लिए काम मे आने लगे थे।

उस समय द्रुवय शब्द ऐसे ही नपैनों के लिए रूढ हो गया है-

"गडवाल मे नापने के वर्तन को पाथा कहते है। प्राचीन काल में सरकारी लगान इन्ही के द्वारा लिया जाता था। कई स्थानो मे इन्हें नाली भी कहा जाता है।"

ऐसे ही नपैने के बर्तनो में दो विशेष प्रकार से प्रसिद्ध थे। पाप्य अभी तक पजाब राजस्थान मे पादू तथा उत्तर प्रदेश मे प्या कहलाता था। बुन्देलखण्ड में प्या भगोने की

तरह का एक बर्तन होता है। भगोने मे कनौठे होते है, प्या मे नहीं होते। मणर्ना के बाद खलिहान मे एकत्र अन्न की रास को गॉवो मे अब भी प्या से नापते है। मब नहीं तो मागलिक रूप मे पॉच प्या भरकर नाप दिये जाते है।

एक पजाबी लोकोक्ति है-

"पाई पीसी चगी कुडी खडाई मदी।"

किसी का पाइली भर अनाज पीस देना सुगम है,
पर उसकी लडकी खिलाना टेढा काम है।

एक प्या अन्न का सवा प्या लेने के नियम को सवाई कहते है। प्या की नाप साधारणत पॉच, सात, दस सेर तक होती है।

"बम्बई मे पायली लगभग तीन सेर की नाप है।"

जातको मे खेत की रास को नापने वाले अधिकारियो को द्रोण मापक कहा गया है। हिन्दी भगौना, सस्कृत भाग, द्रोणक का ही रुप है। भाग द्रोणक का अर्थ खेत की रास से अलग निकाले हुए राज ग्राह्य अश या भाग को (इसे राज रास कहा जाता था) नापने का वर्तन हुआ। सुभक्षि की अवस्था मे प्राय यह उपज का छठा भाग होता था।

सम्भव है कि पाय्य और द्रोण की नाप प्राचीन समय मे एक की रही हो क्योकि दोनो ही रास नापने के काम मे आते थे।

"कुरूधम्म जातक मे द्रोण मापक यह एक राजकीय अधिकारी का नाम ही आया है।"

कुरूधम्म जातक- 3/276

प्राचीन काल मे नाप तौल के बट्टे सर्वप्रथम नन्द राजाओ ने निश्चित किए। अपने विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उन्हे ऐसा करना पडा था। तभी से मागध मान यह प्रसिद्धि हुई। क्योकि कलिग जनपद स्वतन्त्र था इसलिए कलिग मान की परम्परा अलग चलती रही। मान स्थिर हो जाने के बाद आढक (ढाई सेर), द्रोण (दस सेर), खारी (चार मन) इत्यादि शब्द बिल्कुल सही नाप तौल के लिए सर्वत्र प्रयुक्त होने लगे। जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है-

"अक्त परिमाणानामर्थाना वाचका भवन्ति नैवाधिके भवन्ति न च न्यूने।"

भाष्य- 1/4/14

प्राचीन काल मे उल्लखित तोल और नापवाची शब्द इस प्रकार है।

(1) माष-

यह एक तोल और एक सिक्के का नाम भी था। तॉबे का माष तोल मे पॉच रत्ती और चॉदी का दो रत्ती का होता था।

(2) निष्पाव-

जैन साहित्य मे सोना चॉदी रत्न आदि तौलने के लिए सूक्ष्म बटखरो की सूची मे निष्पाव भी है। प्रतिमानो मे गुजा काकणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक, स्वर्ण ये सोने चॉदी तोलने के काम आते है।

इस सूची मे गुजा (1 रत्ती), काकणी (सवा रत्ती), माषक (पॉच रत्ती) की तोल सोना तोलने के काम मे आती थी। जैन साहित्य में निष्पाव (प्रा0 निष्पाव) का पर्याय बल्ल दिया है। बल्ल या बाल तीन रत्ती की तोल का नाम था। अतएव निष्पाव भी बल्ल सा तीन रत्ती माना जा सकता है। अनुयोग-द्वार की सूची मे सवा रत्ती की काकणी और पॉच रत्ती के माषक के बीच मे निष्पाव पठित होने से यह सगत होता है।

(3) शाण-

चरक सहिता मे सुवर्ण का चौथाई भाग शाण कहा गया है। इससे शाण की तोल 20 रत्ती के बराबर हुई।

“2 शाण = 1 द्रक्षण, 2 द्रक्षण = 1 कर्ष या सुवर्ण या अक्ष।”

शाण की तोल के विषय मे आगे चलकर और भी कई विकल्प मिलते है। शाणार्ध उसका आधा दस रत्ती के बराबर ओषधि की स्वल्प मात्रा तोलने के काम मे आता था।

“महाभारत में शाण को शतमान का आठवॉ भाग कहा गया है।”
(आरण्यक पर्व- 134-140)

जिससे उसकी पुरानी तोल 12।। रत्ती ठहरती है।

(4) बिस्त-

अमरकोश मे बिस्त को कर्ष या अक्ष का पर्याय कहा गया हे। जो म्वर्ण तोलने के काम मे आता था। चरक मे कर्ष, सुवर्ण और अक्ष पर्याय है। अतएव विस्त सुवण का ही पर्याय ज्ञात होता है, जो तोल मे अस्सी रत्ती होता था।

(5) अञ्जलि -

द्वयञ्जलि, त्रयञ्जलि प्रयोगो मे अञ्जलि शब्द एक परिमाण ही ज्ञात होता हे। चरक के अनुसार सोलह कर्ष या तोले की एक अञ्जलि होती थी, जिसे कुडव भी कहते थे। दो पल की एक प्रसृति और दो प्रसृति या चार पल की एक अञ्जलि कही गयी है। गरूड पुराण मे इसका उल्लेख इस प्रकार है।

"अञ्जलि कुडव चै विद्यात् पलचतुष्टयम्।"
गरूड पुराण- 202/73

कौटिल्य के अनुसार इसकी तालिका इस प्रकार थी-

चार कुडव = एक प्रस्थ
चार प्रस्थ = एक आढक
चार आढक = 1 द्रोड = 200 पल = 800 कर्ष = 10 सेर
(अर्थशास्त्र- 2/19)

अतएव कुवड या अञ्जलि ढाई छटाक या 12-1/2 तोले के बराबर थी।

(6) कुलजि-

प्राचीन काल में इस शब्द का काफी प्रचार था। इस शब्द पर किसी अन्य स्रोत से अभी तक प्रकाश नहीं पड सका, केवल अथर्ववेद के कौशिक सूत्र मे यह शब्द दो बार आया है।

"उदकुलिज सम्पातवन्त ग्राम परिह्व्य मध्ये निनयत्येव सुरा कुलिजम"।
कण्डिका- 12,43

कौटिल्य के समय यह बहुत चालू शब्द था। साढे बारह पल या 50 तोले या ढाई पाव की तोल प्रस्थ कहलाती थी। अनुमान है कि प्राचीन काल मे उसी के लिए कुलिज शब्द का प्रयोग है।

(7) आढक-

चरक के अनुसार आढक और पात्र एक दूसरे के पर्याय है। वैदिक काल मे इसका उल्लेख मिलता है। आढक की तोल के दो प्रकार मिलते है। पहला चरक सहिता मे तथा दूसरा अर्थशास्त्र मे।

चरक का मान इस प्रकार है-

4 कर्ष	= 1 पल
2 पल	= 1 प्रसृति = (8 तोला)
2 प्रसृति	= 1 अञ्जलि या कुवड = 16 तोला
4 कुवड	= 1 प्रस्थ = 256 तोला
4 प्रस्थक	= 1 आढक
4 भाढक	= 1 द्रोण = 1024 तोला = 12-4/5 शेर।

इसके विरूद्ध कौटिल्य के चार प्रकार के द्रोण लिखे है। उसमे पहला दो सौ पल या आठ सौ तोले अर्थात् आज कल के दस सेर के बराबर होता था।

"अथ धान्यमाषाद्विपलशत द्रोणमापमानम्"

अर्थशास्त्र- 2/19

इस हिसाब से तोल की यह तालिका बन जाती है-

1 कुवड	= 12½ तोला	= 2½ छटाक		
4 कुवड	= 1 प्रस्थ	= 50 तोला		
4 प्रस्थ	= 1 आढक	= 50 पल	= 200 तोला	= ढाई सेर
4 आढक	= 1 द्रोण	= 200 पल	= 800 तोला	= 10 सेर
16 द्रोण	= 1 खारी	= 160 सेर = 4 मन		
20 द्रोण	= 1 कुम्भ	= 5 मन		
10 कुम्भ	= 1 वह	= 50 मन		

(8) कस-

चरक के अनुसार कस आठ प्रस्थ या दो आढक के बराबर था। अर्थशास्त्र की तालिका के अनुसार पॉच सेर तथा चरक की तालिका के अनुसार 6-2/5 सेर के बराबर हुआ।

(9) मन्थ-

मन्थ ही ठीक तौल किसी तालिका मे नही मिलती। सम्भव हे मन्थ द्रण का पर्याय है। चरक मे कलश और घट को द्रोण का पर्याय लिखा है। कौटिल्य के अनुसार द्रोण 10 सेर की तौल थी। वही सम्भवत मन्थ की भी तौल थी।

(10) शूर्प-

चरक ने द्रोण को शूर्प माना है, जिसे कुम्भ भी कहते थे। उनकी तालिका के अनुसार-

शूर्प = 4096 तोला = 1 मन 11 सेर 16 तोला

(11) खारी-

कौटिल्य के अनुसार सोलक द्रोण की एक खारी मानी जाती थी। उस हिसाब से उसकी तोल चार मन के बराबर हुई। पतञ्जलि ने भी खारी को द्रोण से बडी माना है।

"अधिको द्रोण खार्याम्।"
5/2/73 पतञ्जलि

खलिहान में रास की तोल खारी मे बताई जाती थी। कात्यायन के खारशतादि पर पतञ्जलि ने सौ खारी अर्थात् चार सौ मन और हजार खारी या चार हजार मन तोल की बडी रासो का उल्लेख किया है-

"खारशतिको राशि खारसहस्रिको राशि ।"
वा0- 5/1/58

यह बहुत ही बडी राशि हुई। इतनी थारी उपज के लिए लगभग पॉच सौ पक्के बीघे का खेत या चक भूमिधारी की जोत मे होना आवश्यक था। खलिहान मे मणनी हो जाने के बाद साफ किये हुए अन्न के ढेर को सदा से रास कहा जाता रहा है।

(12) गोणी-

चरक गोणी को खारी का पर्याय मानते हुए उसे बडी तोल लिखा है। तद्नुसार-

खारी = 8192 तोला = 2 मन 22 सेर 32 तोला।

(13) भार-

अर्थशास्त्र के अनुसार सौपाल या 5 सेर की एक तुला और 20 तुला या ढाई मन का एक भार होता था।

"विशति तौलिको भार ।"
2/19

अमरकोश मे भी यही तोल है। एक भार = 8000 कर्ष या ढाई मन। आज भी तराजू का एक घडा 5 सेर और एक पल्लेदार के लादने का बोझ ढाई मन होता है। इसी आधार पर ढाई मनी बोरी आज भी चलती है। महाभार एक अच्छी सग्गड गाडी का बोझ होना चाहिये, जो लगभग 25 मन माना जाता है। अत अनुमान होता है कि 10 भार का बोझ महाभार कहलाता था।

आदि पर्व मे 10 मनुष्य भार बोझे का उल्लेख आया है-

"कृताकृतस्य मुखस्य कनकस्याग्निवर्चस ।
मनुष्यभारान दाशार्हो ददौ दश जनार्दन ।।"
आदि0- 2/3/46

अर्थात् सुभद्रा को चायज मे श्रीकृष्ण के दस मनुष्य भार सोना दिया जिसमें ढले हुए सिक्के (कृत) और पासा सोना (अकृत) दोनो शामिल थे।

(14) आचित-

अमरकोश के अनुसार आचित सग्गड के बोझे को कहते थे।

"शाटको भार आचित ।"
2/9/87

जो 10 भार या 20000 पल या 25 मन का होता था। इससे ज्ञात होता हे कि आचित और महाभार दोनो पर्याय थे।

(15) कुम्भ-

अर्थशास्त्र के अनुसार कुम्भ 20 द्रोण के बगबर माना गया हे, जो 10 सेर प्रति द्रोण के हिसाब से 5 मन हुआ।

(16) वह-

अर्थशास्त्र के अनुसार 10 कुम्भ का एक वह होता था, जो 50 मन के बरावर था। कालान्तर मे वह ही वह कहा जाने लगा। कोशल जनपद मे 20 खारी या 80 मन का वह होता था।

"वीसति खारीको कोसलकोतिलवाहो।"
अगुन्तर (5/173)

सुबन्धु ने 2 खारी का ही मागधक तिलवाह कहा है।

आयाम या लम्बाई की नाप-

शतपथ मे सर्वत्र आयाम का अर्थ प्रमाण या लम्बाई ही आया है जिसे निम्नलिखित आयाम प्रमाणो से उल्लिखित है।

(1) अगुलि -

8 यवमध्य के बराबर प्रमाण की सज्ञा अगुलि थी। यह आज कल के पौने इच के बराबर हुआ।

(2) दिष्टि या वितस्ति-

ये शब्द एक दूसरे के पर्याय है। अर्थशास्त्र मे 12 अगुल की वितस्ति कही गयी है। प्रमाण अर्थ मे दिष्टि शब्द का प्रयोग सस्कृत साहित्य मे अत्यन्त विरल है। तथ्य यह है कि वितस्ति शब्द भारतवर्ष मे और दिष्टि ईरान और मध्य एशिया की भाषा में अधिक चालू हुआ। मध्य एशिया से मिले हुए खरोष्ठी लेखों के दिठि शब्द प्राय आता है जो कि ईरानी दिस्तय का पर्याय है। इसका अर्थ एक वितस्ति ही था।

गहराई की नाप-

शतपथ काल मे गहराई नापने के भी यन्त्र थे।

परुष-

गहराई नापने के सम्बन्ध मे परुष सज्ञक माप का प्रयोग किया जाता था। जैसे द्विपुरुषा-द्विपुरुषी, त्रिपुरुषा-त्रिपुरुषी, परिखा अर्थात् 2 या 3 पुरसा गहरा पानी। एक पुरुष प्रमाण के बराबर गहरी वस्तु पौरुष कहलाती थी।

अर्थशास्त्र मे पौरुष नाप तीन तरह की है-

(1) खात पौरुष, परिखा, रज्जु आदि की नाप के लिए 84 अगुल =1 ब्याम =5 फुट 3 इच।

(2) पौरुष, सभवत सेना मे रगरूटो की ऊँचाई नाप के लिए = 4 अरत्नि = 96 अगुल = 6 फुट। इसे दण्ड भी कहते है।

(3) अग्निचित्य पौरुष, अग्नि चयन की वेदी बनाने लिए =4½ अरत्नि = 108 अगुल = 6 फुट 9 इच।

इस प्रकार दो पुरषा गहरी 15-3/4 फुट होती थी। बौधायन मे वेदी निर्माण के लिए पुरुष माप के लिए पुरुष माप को 5 अरत्नि या 7½ फुट लिखा है।

हस्ति-

हस्ती की माप 40 वर्ष के उत्तम जातीय पट्ठे हाथी के प्रमाण से ली जाती थी। उसकी ऊँचाई 7 अरत्नि, लम्बाई 9 अरत्नि और घेरा 10 अरत्नि कहा गया है।

हस्थि-माप के सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि वह नाप हाथी की ऊँचाई से न लेकर लम्बाई के आधार पर ही ली जाती थी। यों नौ अरत्नि 13½ फुट हस्ति सज्ञक माप थी।

द्विहास्त या 27 फुट की माप किले के परकोटे की ऊँचाई होती थी। महासुत सोम जातक मे 18 हाथ ऊचे परकोटे का उल्लेख है। आज भी पुराने किले के परकोटे की ऊँचाई 18 हाथ मिलती है।

काण्ड-

खेतो की नाप के सम्बन्ध मे इसका उल्लेख आया है। द्विकाण्डी, त्रिकाण्डी रज्जु से ज्ञात होता है कि काण्ड रज्जु सज्ञक नाप का छोटा भाग था। वाल मनोरमा के काण्ड को दण्ड का पर्याय लिखा है, जो 16 हाथ या 27 फुट लम्बा माना जाता था। अर्थशास्त्र मे दण्ड को छह कस या 192 अगुल =(12 फुट) लिखा है, और 10 अगुल की रज्जु मानी है। खेतो का निर्वतन सज्ञक क्षेत्रफल 3 रज्जु के वराबर होता था। काण्ड शब्द दो प्रकार की नाप के लिए था।

लम्बी नाप के लिए जैसे- द्विकाण्डी रज्जु । तथा क्षेत्र भक्ति या क्षेत्रफल के लिए उसका प्रयोग होता था।

किष्कु-

पतजलि के पारस्करादि गण मे इसका पाठ प्रामाणिक माना है।

अर्थशास्त्र के अनुसार 32 अगुल या दो फुट का साधारण किष्कु होता था। आराकश एव राज बढई का किष्कु 42 अगुल या 31½ इच लम्बा माना जाता था। (क्राकचिक किष्कु) स्कन्धवार, दुर्ग, राजभवन आदि के निर्माण के समय इसी का प्रयोग होता था।

महाभारत मे भी किष्कु का उल्लेख है। किष्कु ही यहाँ का पुराना गज था।

योजन-

योजन की नाप 4 क्रोश या 4 गोरुत मानी जाती थी। एक क्रोश 4000 हाथ या 2000 गज का होता था। इस प्रकार योजन = 8000 गज = 4 54 मील या 4 मील 960 गज होता था।

आयाम प्रमाणो की तालिका इस प्रकार है-

8 यव	= 1 अगुल	= 3/4 इच
12 अगुल	= 1 विस्तति या दिष्ट	= 9 इच
2 विस्तति	= 1 अरत्नि	= 1½फुट
42 अगुल	= 1 किष्कु	= 2 फुट 7½ इच
84 अगुल	= 1 खात पौरुष	= 5 फुट 4 इच
216 अगुल	= 1 हस्ति आयाम	= 13 फुट 6 इच
192 अगुल	= 1 दण्ड या काण्ड	= 12 फुट
10 दण्ड	= 1 रज्जु	= 40 गज

सप्तम् परिच्छेद

मुद्राएँ

शतपथ काल मे मुद्राओ का प्रचलन था जिसके अर्न्तगत् अधिकाश सिक्को तथा मुद्राओ की दर से वस्तुओं का मोल-भाव करने के लिए जो नियम लागू थे उसका भी वर्णन मिलता है। मोल-भाव के लिए दो अर्थ प्रचलित थे।

पहला तो यह कि अमुक वस्तु इस दाम से मोल ली गयी। और दूसरा यह कि वह इतने 'कीमत' ही है। जैसे- जिस बनारसी दुपट्टे के लिए वैदिक काल मे दो निष्क लागत लगती थी वह द्विनैष्किक कहलाता था। और इतना मूल्य देकर जो खरीदा गया हो वह भी द्विनैष्किक कहा जाता था। स्वभावत एक का प्रयोग दुकूल के बाजार दर की दृष्टि से और दूसरे का उसकी असली कीमत की दृष्टि से भाषा मे होता होगा। यह उचित ही है कि ऐसे विषय से सम्बन्ध रखने वाले प्रकरण मे उस समय के बहुत से सिक्को का हवाला शतपथ काल मे दिया गया है। ये सिक्के अवश्य ही शतपथ काल मे चलते थे। उनमे से अधिकाश एक सदी बाद कौटिल्यके समय मे भी चालू थे। यहाँ हम सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्को का अलग-अलग वर्णन करेगे।

"आदरणीय श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय मे प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र [Ancient Indian Numirnratics] पर सन् 1921 मे एक व्याख्यानमाला दी थी। उसमें वैदिक कालीन सामग्री का अच्छा सन्निवेश था। हम उसके अनुगृहीत है।"

सोने के सिक्के

(1) **निष्क-**

निष्क वैदिक युग मे एक सुवर्ण का आभूषण था। श्री मैकडानल और कीथ का विचार था कि निष्क एक सिक्का भी रहा होगा। अथर्ववेद में सौ सुवर्ण निष्को का उल्लेख है।

"शत निष्का हिरण्यया ।"
20/131/5

"निष्क की तरह बाँध कर पहनो"

इस कथन से सूचित होता है कि निष्क मुख्यत कठ का आभूषण था। अथर्ववेद मे भी श्री निष्कग्रीव और ऐतरेय ब्राह्मण मे निष्क कण्ठी स्त्रियो का उल्लेख है। निष्क पहनने वाले पुरुष को निष्की तथा स्त्री को निष्किनी कहते थे।

(श0- 13/4/1/8)

वैदिक सहिताओ की सामग्री से निश्चित रूप मे निष्क को सिक्का मानना कठिन है। यद्यपि यह सम्भव कि निष्क गहने की तोल और आकृति व्यवहार मे निश्चित मान की हो गयी हो और तब लेन-देन या अदला-बदली या गिरवी रखने मे निष्क का व्यवहार होने लगा हो।

बाद के युगो मे तो निष्क नियत सुवर्ण मुद्रा बन गयी थी, ऐसा निश्चित ज्ञात है। जातक, महाभारत आदि की सामग्री का एक ही ओर सकेत है।

"डा0 भण्डारकर के मत से जातको मे जो निष्क का जिक्र है उससे निष्क सोने का सिक्का ही मालूम होता है।"

निष्क नाम से जिस सोने के सिक्के का वर्णन मिलता है क्या उसी के मेल मे उससे छोटे फुटकर सिक्के भी थे? अग्रेजी पौड सोने का सिक्का है। उसी के फुटकर सिक्को मे आधे पौड का सिक्का भी सोने का है। इसी तरह पहले समय मे निष्क के बाद अर्धनिष्क और पाद निष्क के अस्तित्व का अनुमान होता है।

मनु ने निष्क को तोल मे 4 सुवर्ण या 320 रत्ती के बराबर कहा है। अतएव पादनिष्क की तोल सुवर्ण के बराबर हुई।

"डा0 भण्डारकर का अनुमान है कि राजा जनक ने अपने यज्ञ में ब्राह्मणो को दक्षिणा के लिए गौओ के सींगो मे जो 20000 पाद सिक्के बॉधे थे।"

"गोसहस्र के प्रत्येक श्रृग में दस-दस पाद।" वे सोने के ही थे। यह सभव है, क्योंकि उस यज्ञ को "बहु दक्षिण" कहा गया है।

पण, कार्षापण का छोटा नाम था। उसके साथ पढा होने से पाद चादी के कर्षापण का चौथाई भाग था। पाद के बाद माप का सिक्का तॉबे का था। चॉदी के पण और ताम्र माष के बीच मे पढा हुआ पाद सोने के सिक्के का वाचक नहीं माना जा सकता। इससे 1/4 कर्षापण का अर्थ लेना अधिक सगत है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और जातकों मे पाद कर्षापण का उल्लेख भी है।

(2) सुवर्ण-

वैदिक काल मे सुवर्ण की मुद्राओ का प्रचलन था।

"द्वौ सुवर्णो परिमाणस्य द्विसुर्वणम्।
तदेव धनमिति द्विसुवर्ण धनम्।।"

अर्थात् दो सुवर्ण सिक्को की पूजी। वह पूजी जिसकी हो उसको भी द्विसुवर्णधन कहेगे। हिरण्य और सुवर्ण मे अन्तर है।

"डा0 भण्डारकर ने यह सिद्ध किया था कि अनगढ हुण्ड की सज्ञा हिरण्य थी। उसी के जब सिक्के ढाल लेते थे तब वे सुवर्ण कहलाते थे।"

{प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र से}

"कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण का भार एक कर्ष अर्थात् 80 गुञ्जा (लगभग 150 ग्रेन) के बराबर होता था। पुराने स्वर्ण तो मिले नहीं है, गुप्त युग के जो सुवर्ण सिक्के प्राप्त हुए है, उनका वजन प्राय इतना ही मिलता है।" साम जातक में "हिरञ्ञ सुवण्ण" दोनो शब्द साथ आते है।

"दासकम्मकारादयोऽपि हिरञ्ञसुवण्णादीनि गहेत्वा पलायिसु।"

{साम जातक सख्या- 540}

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे "हिरण्य सुवर्णम" पद का अर्थ करते हुए श्री शाम शास्त्री ने हिरण्य का अर्थ पासा (bar gold) और सुवर्ण का अर्थ सोने का सिक्का (eoined gold) किया है।

कर्षापण की तोल भी 80 रत्ती के बराबर थी इससे अनुमान होता है कि कौटिल्य के सुवर्ण का ही दूसरा नाम 'हाटक कर्षापण' है। जात रूप से सुवर्ण के पर्यायवाची शब्दो का ग्रहण होता है। सुवर्ण का परिमाण व्यक्त करने के लिए आवश्यक था कि सोने के निश्चित परिमाण के टुकडे हो, जिनकी आकृति पर उस परिमाण की निश्चयात्मक छाप हो। यह बात सिक्को से ही प्रकट हो सकती है। यह हाटक पद वहीं आ सकता है, जहा अगला पद, जो हाटक का विकार है, परिमाणवाची हों।

सोने के पात्र या सोने की बनी छडी के लिए हाटकमयम् या हाटकमयी कहना ठीक होगा।

कात्यायन ने कहा है कि सुवर्ण और शतमान का ग्रहण भी करना चाहिये-

"सुवर्णशतमानयोरूपसख्यानम्"

उससे अध्यर्ध सुवर्ण और द्विसुवर्ण जैसे प्रयोगो को सिद्ध किया गया है। पर इतना तो निर्विवाद हो जाता है कि कात्यायन के समय मे सुवर्ण नामक सोने के सिक्के का अस्तित्व था। कौटिल्य की साक्षी भी ऐसी ही है। पर इस सबन्ध मे आश्चर्य की बात यह है कि चाणक्य के समय का सुवर्ण का कोई भी सिक्का अभी तक नहीं मिला। यद्यपि उस समय के चॉदी के कर्षापण नामक सिक्के लगभग पच्चास हजार मिल चुके है।

(3) सुवर्ण माषक-

उदय जातक की कथा मे एक जगह सुवर्ण मासको से भरी हुई सुवर्ण पात्री का वर्णन मिलता है।

"सुवण्णमासकपूर एक सुवण्णपाति आदाय"
{उदय जातक- 458}

इस कहानी मे सुवर्ण माषको से भरी सोने की पात्री (तश्तरी), सुवर्ण माषको से भरी चॉदी की पात्री और चॉदी कार्षापणो से भरी तॉबे की पात्री को एक दूसरे से कम मूल्य की बतायी गयी है। ज्ञात होता है कि 32 रत्ते के चॉदी के कर्षापण का मूल्य सोने के एक माषक = (5 रत्ती) से कुछ कम था।

यो तो जातक युग मे सोने और चॉदी का आनुमानिक मूल्य 1 7 रहा होगा।

चॉदी की आहत मुद्राएँ-

चॉदी की आहत मुद्राए इस प्रकार थीं।

(1) **शतमान-**

"शतमानेन क्रीतम शातमानम्" अर्थात् शतमान मुद्रा मे मोल ली हुई वस्तु के लिए 'शातमान' पद का प्रयोग होता था।

शतपथ ब्राह्मण में शतमान मुद्रा का वर्णन इस प्रकार मिलता है-

"तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा"
{श० ब्रा० 5/5/5/16}

इसी प्रकार से-

"हिरण्य दक्षिणा सुवर्णशतमान तस्योक्तम्।"
{श0 ब्रा0 8/2/3/2}

सोने की दक्षिणा मे शतमान दिया जाता था पर समय क्रम से शतमान क्रम का अधिक सबन्ध चादी के सिक्के से होने लगा।

शतपथ मे कहा है कि-

"देवताओ के दोनो रूपो के कारण विचित्रता के लिए सोने और चादी दोनो की दक्षिणा देना चाहिए। वह दक्षिणा शतमान होनी चाहिए, क्योकि मनुष्य की आयु सौ वर्ष होती है।

"रजत हिरण्य दक्षिणा नानारुपतया शतमान भवति शतायुर्वे पुरुष ।"
{श0 ब्रा0- 13/2/3/2}

यहाँ सौ मान या भागों वाले राजत शतमान का उल्लेख है। कात्यायन श्रौत सूत्र मे सुवर्ण शतमान के साथ-साथ राजत शतमान का सुनिश्चित उल्लेख है-

"द्वादश कपालान्निर्वपति भिन्न तन्त्रान् शतमान दक्षिणान् मध्यमस्य राजत ।"
{का0 श्रौ0 20/2/5}

वैदिक सहिताओं मे ऐसा प्रमाण नही है कि शतमान सौ रत्ती का था। सहिता ग्रन्थो मे या रत्ती तोल का प्राय उल्लेख आया है। तैतरीय सहिता में कहा गया है कि बाजपेय यज्ञ मे एक-एक कृष्णल या रत्तिका बाटी जाती थी। अतएव यह अनुमान समीचीन है कि शतमान सिक्के की इकाई यही कृष्णल रहा हो। सौ रत्ती तोल का चादी का सिक्का 180 ग्रेन तोल मे रहा होगा।

यह ठीक है कि मनु-स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार शतमान की तोल 320 रत्ती कही गयी है। पर यह प्रमाण वैदिक युग और जनपद युग के लिए सत्य न था, बाद के युगो मे बनाया गया। जब भूमि का लगान 32 रत्ती वाले चादी के कर्षापणो मे दिया जाना निश्चित हुआ। (शुग-कुषाण तथा गुप्त युग) तब कर्षापण या पुराण या धरण की दस गुनी तोल की कल्पना की गयी और उसे शतमान नाम दिया गया। यह 320 रत्ती का कोई शतमान सिक्का न था, क्योंकि एक भी वैसा उदाहरण आज तक कहीं नहीं मिला।

वल्कि हिसाब किताब के लिए चॉदी की एक कल्पित तोल मान ली गई थी। लेकिन सौ रत्ती वाले चॉदी के वास्तविक सिक्के तक्षशिला की खुदाई मे प्राप्त हुए है। उनकी पहचान शतमान सिक्के से करना युक्ति सगत और प्रमाण सामग्री के अनुकूल है। ये मुद्राएँ शलाकाकृति है, और उनकी तोल 1773 ग्रेन या ठीक सौ रत्ती के लगभग है। ते सिक्के चौथी शदी ई0पू0 के है। सब विद्वान ऐमा मानते है। यह सम्भावित है कि मातवी शदी ई0पू0 से चौथी-तीसरी शदी ई0पू0 तक अर्थात् महाजनपद ओर नन्दयुग मे शतमान मिक्के चलते थे।

(2) शाण-

शतपथ मे शाण सिक्के से क्रीत वस्तुओ के लिए लोक मे प्रचलित कई शव्दों का उल्लेख आया है।

कात्यायन के समय मे भी यह सिक्का काफी चालू था जिसके कारण विविध शब्द रूपो का व्यवहार हो गया था।

महाभारत मे शाण सिक्के के मूल्य का सबसे निश्चित उल्लेख आया है-

"अष्टोशाणा शतमान वहन्ति।"
{अरण्यक पर्व- 134/14}

सौ रत्ती वाले शतमान मे आठ होते थे।

अतएव एक शाण की तोल 12-1/2 रत्ती = (25 ग्रेन) हुई। चरक ने शाण तोल को सुवर्ण या कर्ष का एक चौथाई लिखा है, जो 20 रत्ती हुआ। हो सकता है शाण सिक्के की पुरानी तोल को कुछ बढाकर यह नया मान बनाया गया, जैसा कि चरक की द्रोण आदि तोलो में भी बढाया हुआ मान मिलता है। शाण शतमान का अष्ट भाग था उसकी वास्तविक तोल पुराने चॉदी के सिक्के मिल गए है।

अष्ट भाग या पादार्ध शतमान का दुगुना अर्थातफ द्विशाण के बराबर पाद शतमान सिक्का, उससे बडा तीन शाण का सिक्का, उससे बडा चार शाण या अर्धशतमान सिक्का भी चलता था।

प्राचीन कोशल जनपद के कुछ सिक्के अर्धशतमान और सोनकर से प्राप्त सिक्के (तोल 21 ग्रेन) पदार्धशतमान या शण से मिलते है।

अध्याय तृतीय

शिक्षा और साहित्य

शतपथ कालीन शिक्षा की दशा का जो वर्णन किया गया है उसका उल्लेख इस प्रकार से है।

प्रथम परिच्छेद

शिक्षा

शतपथ काल के विभिन्न साहित्यिक रूप ग्रन्थ रचना के प्रकार, शिक्षा-सस्थाए, आचार्य और अन्त वासी छात्र, शिक्षण प्रणाली, अध्ययन के विषय एव ग्रन्थो के नामो के सम्बन्ध मे बहुत सी मूल्यवान सामग्री प्राप्त होती है।

छात्र-

शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी। इसलिए न केवल शिक्षा बल्कि ज्ञान सचय की चर्चा या आन्तरिक जीवन के निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। गुरू और शिष्य विद्या सम्बन्ध से परस्पर बँधे होते थे। यह सम्बन्ध योनि सम्बन्ध के सदृश ही पवित्र और प्रभाव पूर्ण था। शिष्य अन्त वासी के रूप में आचार्य के साथ निवास करते औश्र सच्चे अर्थो मे आचार्य के जीवन से प्रभावित होते थे। ब्रह्मचारी चरण नामक विद्या सस्थान से अन्य ब्रह्मचारियो के साथ विद्याध्ययन करते थे। शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र मे इन चरणो का व्यापक महत्व था।

आचार्य के जीवन का वेग और शक्ति उनके द्वारा सस्थापित चरणों के माध्यम से प्रकट होती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे। गुरू से पढने वालों के लिए छात्र यह सामान्य शब्द प्रयुक्त होता था। छात्र शब्द के मूल मे यह कल्पना बडी मधुर है कि वह आचार्य के जीवन पर छत्र के समान छाया रहता था। यह एक आध्यात्मिक भाव था जिसके कारण शिष्य गुरू के प्रति विशेष जागरूक रहकर अपना कर्तव्य पालन करने का बल प्राप्त करता था।

"गुरूकार्येष्ववहित ।"

जैसा काशिका ने लिखा है वह अपने गुरू की त्रुटियों की और मन को ले जाकर कभी अपनी शक्ति का क्षय नहीं करता था।

"ताच्छि द्रावरण प्रवृन्त ।"

ब्रह्मचारी को स्नातक बनाते समय आचार्य की भावना भी यही रहती थी कि जो मेरा सदाचार हो उसी पर ध्यान देना, त्रुटियो पर नहीं। छात्र दो प्रकार के होते थे।

(1) दण्डमाणव।
(2) अन्तेवासी।

दण्डमाणव को केवल माणव कहा जाता था। वह अभी छोटी श्रेणियो मे सीखतर छात्र होता था। जैसे पतञ्जलि ने लिखा है कि वेद की पढाई शुरू होने के पहले उसकी माणव सज्ञा होती है। तत्वबोधिनी के अनुसार दण्डमाणव वह था जिसका उपनयन न हुआ हो। दण्ड रखने के कारण वे छात्र दण्डमाणव कह जाते थे। पलाश का वह दण्ड आषाढ कहलाता था।

मतग जातक मे माणव को आयु मे बाल कहा है। वे अपना डण्डा लिए हुए आश्रम मे इधर से उधर फिरते दिखाई देते थे।

जब वेद पढने का समय आता है तो आचार्य माणव का उपनयन सस्कार कराते थे। उसके लिए माणवकमुनपते यह वाक्य भाषा मे प्रचलित था। इस विशेष कर्म को आचार्यकरण कहते थे। इस सस्कार के बाद वह माणव सच्चे अर्थों में आचार्य का सामीप्य प्राप्त करता था।

"आचार्यकरणमाचार्य किया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽत्मसमीप प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्य सपद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानमाचार्यी कुर्वन्माणवकमात्मसमीप प्रापयतीत्यर्थ ।"

{काशिका}

मनसा, वाचा, कर्मणा आचार्य के समीप पहुँचा हुआ ब्रह्मचारी अन्तेवासी इस अन्वितार्थ पदवी को धारण करता था। उपनीत हो जाने पर ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डलु धारण करता था। भाष्य मे कमण्डलुपाणि छात्र का उल्लेख है। चरण मे पढने वाले शब्द अन्तेवासी ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी कहे जाते थे।

छात्रों का कर्तव्य-

उपनयन हो जाने के बाद छात्र और गुरू दोनो के बीच जो नया विद्या का सम्बन्ध बनता था उससे वे दोनो एक दूसरे के लिए उपस्थानीय बन जाते थे। अर्थात् शिष्य

गुरु के समीप आकर उसकी सेवा करे और उससे अध्ययन करे। ओर गुरु अन्तेवासी को अपने समीप लाकर शिक्षित करे।

"उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरवे ।"

दोनो के लिए यह अत्यन्त मधुर सम्बन्ध बनता था। अध्यापन कराने की दशा मे आचार्य को अनूचान एव प्रवचनीय कहते थे। अपने पिता से ही अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी पितुरन्तेवासी कहलाते थे। आचार्य कुल मे आचार्य का पुत्र भी पर्याप्त महत्व रखता था। अतएव उसके लिए भाषा मे "आचार्य-पुत्र" इस विशेष शब्द की व्युत्पत्ति हुई। इसी प्रकार राजपुत्र और ऋत्विक पुत्र भी अपने पिता की पदवी से अभिहित होते थे। स्वाभाविक है कि दूसरे शिष्य आचार्य पुत्र का विशेष सम्मान करते है।

गुरु-

शास्त्रो मे चार प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया गया है जिसका वर्णन शतपथ मे इस प्रकार से मिलता है।

(1) आचार्य
(2) प्रवक्ता
(3) श्रोत्रिय
(4) अध्यापक।

(1) आचार्य-

इनमे आचार्य का स्थान सर्वोच्च माना जाता था। शिष्य का उपनयन कराने का अधिकार आचार्य को ही था। अथर्ववेद में आचार्य करण प्रक्रिया का वर्णन आया है जो इस प्रकार है।

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्त"

अर्थात् आचार्य उपनयन सस्कार कर के ब्रम्हचारी को अपने विद्यागर्भ के भीतर प्रविष्ट कराता है।

(2) प्रवक्ता-

आचार्य के बाद दूसरा पद प्रवक्ता का था। शाखाग्रंथ, ब्राह्मण, श्रौत सूत्र आदि का प्रवचन करने वाले आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। वेद और वेदागो का अर्थ सहित अध्यापन इनका कार्य था।

श्रोत्रिय-

छन्द या वेद की शाखाओ को कण्ठ करने वाले विद्वान श्रोत्रिय कहलाते थे। इनका सम्बन्ध विशेषत वेद के पारायण से था। वे सहिता, पद, क्रम, दण्ड, जटा, घन आदि के पाठो के अनुसार शाखा-ग्रन्थ और उनके ब्राह्मण आदि को स्वय कण्ठ करते थे एव विद्यार्थियो को कराते थे। इनके निर्देश मे रहकर विद्यार्थी का जो वर्ग पदपाठ कण्ठस्थ करता वह पदक कहलाता था।

"क्रमोदिभ्योबुन।"

वे श्रोत्रिय गुरु भी अपने कण्ठस्थ किये हुए वेद पाठ के आधार पर उस-उस नाम से प्रसिद्ध होते थे। ज्ञात होता है कि बडे-बडे चरणो मे भिन्न-भिन्न पाठ कण्ठस्थ कराने के लिए भिन्न-भिन्न अध्यापक होते थे।

अध्यापक-

वैज्ञानिक या लौकिक साहित्य का अध्यायन कराने वाले गुरु अध्यापक कहलाते थे। माणवक आदि बाल कक्षा को भी ये लोग पढाते थे। इन्हें आगे चलकर उपाध्याय कहा जाने लगा। भाष्य मे कण्डिकोपाध्याय नाम मिलता है।

कुत्सित छात्र-

नियमो का उल्लघन करने वाले छात्रो की निन्दा के लिए कई प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते थे। जैसे- तीर्थध्वाक्ष, तीर्थकाक अर्थात् जो अपने तीर्थ या गुरु में कौए की तरह चचल व्यवहार करे, या गुरुकुल मे पूरे समय तक निवास न करके शीघ्र बदलता रहे।

"यो गुरुकुलानि गत्वा न चिर तिष्ठति स उच्चते तर्थकाक इति।"
{भाष्य}

इसी प्रकार कट्वारूढ शब्द उस छात्र के लिए प्रयुक्त होता था जो समय से पहले ही ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके आराम का जीवन विताने लगा हो। बाल्मीकि रामायण में

कठकालाप चरण के माणवो के विषय मे कहा है कि वे लोग वडे जिह्वा लोलुप "स्वादुकामा" और आलसी थे, और पढाई का बहाना बनाकर कामकाज मे गुरु को धुन्ना दे जाते थे।

छात्रो के नामकरण-

छात्रो के नाम करण के तीन आधार थे।

(1) अध्ययन के विषय के अनुसार।
(2) जिस चरण मे शिक्षा प्राप्त करते हो उसके अनुसार।
(3) जिस गुरु के यहाँ शिक्षा या जिसके ग्रन्थ पढते हो उसके नाम के अनुसार।

विषय के अनुसार छात्रो का नाम करण का विधान था।

क्रतु या सोमयज्ञो का अध्ययन करने वाले छात्र उन यज्ञो के नाम से अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूचिक, वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करने वाले छात्र क्रमक और पदक इस प्रकरण मे उक्थादिगण महत्वपूर्ण है, जिसमें अनेक प्रकार के नए-नए अध्ययन विषयो का उल्लेख है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर आदि ऋतुओ मे भी छात्र अल्पकालिक अध्ययन के लिए कुछ विशेष या ग्रन्थ चुन लेते थे। ऐसे छात्रो को वार्षिक, शारदिक, हैमन्तिक और शैशिरिक कहा जाता था। वर्तमान मे कुछ इसी प्रकार से बसन्त, ग्रीष्म, शरद् आदि ऋतुओ मे मास दो मास की विशेष व्याख्यान मालाएँ आयोजित की जाती है।

वैदिक छात्रों का नामकरण-

चरणो के अन्दर भिन्न-भिन्न छन्द या शाखा ग्रन्थ पढाए जाते थे। उनके अध्येता छात्रो का नाम उस छन्द ग्रन्थो के नाम से रखा जाता था। जैसे तित्तिर आचार्य से प्रोक्त तैत्तिरीय शाखा के विद्यार्थी तैत्तिरीय कहलाते थे। वस्तुत स्थिति यह थी कि प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित छन्द और ब्राह्मण इन दोनो का कोई स्वतन्त्र नाम न था। बल्कि उनके पढने वाले छात्र और पढाने वाले गुरुओ के नाम से ही ग्रन्थों का नाम लोक मे प्रचलित होता था।

तद् विषयता का नियम-

शाखा और ब्राह्मण के पढने पढाने वालों के लिए किया जाता था। अतएव वैदिक मूल ग्रन्थो का नाम सदा उनके छात्रों का ही बोधक होता था, जैसे कठ आचार्य द्वारा प्रोक्त जो कठ शाखा थी, उसके पढने-पढाने वालों का नाम 'कठा' होता था। कठ जो

साधारणत कठ प्रोक्त पुस्तक का नाम होना चाहिये था, उन सव छात्र और गुरूओ का बोध कराता था, जो उसको पढते (अधीयान) और पढाते (तद्वेद) थे। मूल कठ शब्द आचार्य के नाम से और उसकी शाखा के नाम से एक सीढी आगे बढकर चरण का नाम बन गया और भी सैकडो बैदिक शाखाएँ और उनके ब्राह्मण ग्रन्थ थे, जिनको केन्द्र मानकर चरणो की स्थापना हुई। यही तद् विषयता का नियम था। अर्थात् छन्द और ब्राह्मण का नाम करण स्वतन्त्र न होकर अध्येतृवेदिक परक था होता था। जिस प्रधान आचार्य ने शाखा का प्रवचन किया था वह अथवा उसके शिष्य ब्राह्मण आदि नये ब्याख्या ग्रन्थो की रचना भी करते रहते थ। उनकी शिष्य परम्परा मे आगे आने वाले लोग भी उन व्याख्यानो और विमर्शो मे अपना भाग जोडते रहते थे, किन्तु उन सब का नामकरण स्वतन्त्र न होकर चरण के नाम से ही किया जाता था। जैसे- तिन्तिरि आचार्य के तैन्तिरीय चरण मे तैन्तिरीय शाखा, तैन्तिरीय ब्राह्मण, तैन्तिरीय आरण्यक, तैन्तरीय उपनिषत्, तैन्तरीय प्रातिशाख्य आदि समस्त साहित्य तैन्तिरीय चरण के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ था।

जब तक वैदिक चरणो का सगठन दृढ रहा नामकरण की यही पद्धति चालू रही। आगे चलकर वैदिक चरणो के अर्न्तगत कल्प साहित्य की भी रचना हुई, जिसमे श्रौत सूत्र आदि थे। कुछ चरणो मे धर्म सूत्रो का भी निर्माण हुआ। इन सब का नाम उसी पुरानी शैली से चरण के नाम के अनुसार रखा गया। स्वाभाविक है कि सब चरण या शिक्षण सस्थाओ का समान महत्व न था। उनमे कुछ प्रधान या बडे और कुछ छोटे चरण थे। प्रधान चरणो मे तो छन्द (शाखा), ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, प्रातिशाख्य, श्रौत सूत्र आदि पूरे या अधिकाश साहित्य का विकास हो गया था, पर छोटे चरण उसी परम्परा मे एकाध सूत्र ग्रन्थ की बना पाते थे। वैदिक शाखाओ मे कुछ का अधिक महत्व था, कुछ का कम था, कुछ में स्वतन्त्र सामग्री अधिक होती थी, कुछ मे नाम मात्र का पाठ परिवर्तन रहता था।

छात्रो का बढता हुआ एक नया वर्ग ऐसी भी था जो चरण या वैदिक शिक्षा सस्थाओ से स्वतन्त्र रहकर उन ग्रन्थो का अध्ययन करता था, जिनकी रचना चरणों की सीमित परिधि से बाहर बडे बेग से हो रही थी। वस्तुत यह महान् आचार्यो का युग था। जो विद्यार्थी जिस आचार्य के शास्त्र या ग्रन्थ का अध्ययन करता वह उसी के नाम से पुकारा जाता था। वैदिक चरणो का क्षेत्र बहुत ब्यापक था, किन्तु फिर भी इस प्रकार के स्वतन्त्र आचार्य और उनके शास्त्रो की सख्या उत्तरोत्तर बढ रही थी।

स्त्री शिक्षा-

वैदिक काल मे छात्रो के नामकरण के जो नियम थे वही छात्राओं के लिए लागू थे। उदाहरण के लिए आपिशलि व्याकरण का अध्ययन करने वाली ब्राह्मण जाति की स्त्री आपिशाला ब्राह्मणी कहलाती थी। भाष्य से ज्ञात होता है कि मीमासा जैसे क्लिष्ट विषय का अध्ययन भी स्त्रियों के लिए विहित था। जैसे- काशकृत्स्नि आचार्य के मीमासाशास्त्र का अध्ययन करने वाली छात्रा "काशकृत्सना" कही जाती थी।

"एवमपि काशकृत्स्ना प्रोक्तामीमासा काशकृत्सनी, काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्सना ब्राह्मणी।"

{भाष्य- 4/1/14}

भाष्य मे स्त्री छात्राओ के नामकरण जो प्रकरण है, उसकी पृष्ठभूमि ऐसी हे मानो स्त्रियो की उच्च शिक्षा समाज की एक सामान्य प्रथा हो। आचार्य की स्त्री तो आचार्यानी कही जाती थी किन्तु जो स्वय आचार्य के ही समान विद्या के क्षेत्र मे ऊँचे उठकर अध्यापन का कार्य करती थीं और छात्राओ के उपनयन आदि का भी अधिकार रखती थी उन्हे आचार्या कहते थे।

पतञ्जलि ने तो एक उदाहरण मे यहाँ तक सकेत किया है कि इन आचार्याओ से पुरुष छात्र भी पढते थे, जैसे औदमेध्या आचार्या से पढने वाले छात्र अपनी आचार्या के नाम से औदमेद्य कहलाते थे। षष्टिपथ और शतपथ का अध्ययन करने वाली स्त्रियाँ षष्टिपथिकी और शतपथिकी कहलाती थीं।

अध्ययन के नियम-

वैदिक काल मे शिक्षा सस्थाओ मे अध्ययन के दिन अध्याय कहलाते थे। इसी के आधार पर अनध्याय वह दिन था जिस दिन अध्ययन बन्द रहता था। काशिका मे ऐसे छात्रो का उल्लेख किया गया है जो श्मशान में या चौराहे पर अध्ययन करने के कारण श्मशानिक और चातुष्पथिक कहे जाते थे। जानबूझ कर श्मशान में जाकर तो कोई विद्यार्थी क्यो पढता? ज्ञात होता है कि जब श्मशान यात्रा में जाने के कारण सब छात्र पाठ बन्द रखते उस दिन भी जो वहाँ पढता उसके लिए ऐसा निन्दा भरा विशेषण प्रयुक्त होता था। ऐसे ही जब किसी हाट मेले मे जाने के कारण औरों का पाठ बन्द हो जाता तब जो भी पढता था वह चातुष्पथिक कहलाता था। चातुर्दशिक और आमावस्यिक उदाहरणो से सूचित होता है कि चतुर्दशी और अमावस्या को भी पाठ वर्जित था क्योंकि ये दर्शपौर्णमास इष्टि के दिन थे। इन शब्दो में जो निन्दा का भाव था वह स्थायी नहीं था, उसी काल तक के लिए होता था।

एक ही चरण में पढने वाले ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी कहे जाते थे। एक की गुरु के पास अध्ययन करने वाले छात्रो को सतीर्थ्य कहा जाता था। जिन सस्थाओं में अध्ययन के विषय और ग्रन्थों का इतना विस्तार था वहाँ यह आवश्यक था कि छात्रों को कक्षा या वर्गों में बाँटा जाय। यह वर्गीकरण दो प्रकार से होता था। एक तो जो छात्र एक विषय का एक समय मे अध्ययन करते उनकी एक कक्षा बना दी जाती थी।

कभी-कभी ऐसे एक से अधिक कक्षाओ के छात्र कार्य विशेष के लिए एक साथ मिलकर भी अपने विशेष वर्ग बना लेते थे। लेकिन शर्त यह थी कि उनकी कक्षाएँ पृथक होते हुए भी पाठ्यक्रम के पौर्वापर्य से एक दूसरे के बाद पडती हो, अर्थात् उनमे अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो। उदाहरण के लिए क्रमपाठ पढने वाले छात्र "क्रमका " कहलाते थे। ऐसे ही पदपाठ की कक्षा वाले पदका कहलाते थे। पदपाठ का अध्ययन पहले और उसके तुरन्त बाद क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता था। अतएव पदक और क्रमक ये दो कक्षाएँ एक दूसरे के सन्निकट थी। उनमे और किसी कक्षा का ब्यवधान न था।

जब कभी निमन्त्रण आदि के लिए छात्रो को बाहर जाना पडता था तो आचार्य इस प्रकार कहते थे- "पदक-क्रमक गच्छतु" अर्थात् आज पदक और क्रमक छात्र वहॉ जाएँ। पद पाठ के बाद क्रमपाठ पढने की प्रथा थी, वैसे ही क्रमपाठ के बाद वृन्ति का अध्ययन किया जाता था। क्रम और वृन्ति इन दोनो का प्रत्यासन्न पाठ किया जाता था।

प्राचीन काल मे सम्भवत युग सूत्र मे ऐसी प्रथा थी कि छात्रो की शिक्षा का प्रारम्भ व्याकरण से किया जाता था, और उसके बाद उन्हे वेद का पारायण कण्ठ कराया जाता था। बाद मे शिक्षा का स्तर कुछ नीचे आ गया और छात्रो की पढाई वेद पढने से प्रारम्भ होती और बाद मे वे लोग पढाई छोडकर अन्य धन्धो में लग जाते थे। वेद कण्ठ करने के बाद कुछ सख्या छात्रो की ऐसी थी जो अवश्य व्याकरण का अध्ययन करती थी।

गुरु मुख से सुनकर मन्त्रों का पाठ कण्ठ करने वाले छोटे छात्रो का एक चित्र पतञ्जलि ने इस प्रकार दिया है-

"जब आयु मे छोटे ऐसे छात्र पाठ कण्ठ करने या सुनाने मे अशुद्धि करते है तो कण्डिका घोखाने वाले उनके उपाध्याय चनकट रसीद करते हैं।"

पाठ्यक्रम-

भिन्न-भिन्न कक्षाओं के वर्गीकरण से सूचित होता है कि शिक्षण सस्थाओ मे पाठ्य विषयो का एक क्रम निर्धारित किया जाता था। माणव अन्तेवासी, चरक ये तीनों शब्द छात्रो के विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक थे। ऐसे ही अध्यापक, प्रवक्ता, आचार्य ये शब्द गुरुओ के क्रमिक पदो के सूचक थे, जिनका सम्बन्ध शिक्षण के क्रम मे था।

पाठ्यक्रम के अध्ययन में छात्र की जो प्रगति होती थी उसे ब्यक्त करने के लिए भाषा मे कुछ प्रयोग और शब्द चल पडे थे। ग्रन्थ के नाम से पढाई का दर्जा सूचित किया जाता था। किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति को प्रकट करने के लिए भाषा में विशेष शब्दो निर्माण हुआ था। जैसे- "साग्नि अधीते।" वह अग्नि ग्रन्थ की समाप्ति तक अध्ययन करता है।

{शतपथ ब्राह्मण काण्ड 6 से 9 तक की सज्ञा अग्नि थी क्योकि उसमे अग्नि चयन का विषय था।}

किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति के लिए 'वृत्त' कहा जाता था। "णेरध्ययने वृतम्।" जैसे देवदत्त ने कहॉ तक पढा है? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता था- "वृत्तो गुणो देवदत्तेन" (देवदत्त व्याकरण शास्त्र मे गुण प्रकरण तक पढकर समाप्त कर लिया है।) इस प्रकार या तो ग्रन्थ के नाम से या विषय के नाम से अध्ययन की प्रगति सूचित करने की प्रथा थी।

वर्ष भर के पाठ्यक्रम का विभाग ऋतुओ के अनुसार कर लिया गया था। प्रत्येक ऋतु में जो विषय पढाये जाते थे उनका सकेत ऋतु के नाम से सूचित किया जाता था और उसके अध्येता छात्र भी उसी नाम से पुकारे जाते थे। जैसे-

'बसन्त' सज्ञक ग्रन्थो से वासन्तिक, वर्षा से वार्षिक, शरद से शारदिक, हेमन्त से हैमन्तिक और शिशिर से शैशिरिक छात्र कहलाते थे। इस सूची मे ग्रीष्म का नाम नही है। सभवत आजकल की तरह उस समय में ग्रीष्म या जेठ अषाढ के तपते महीनो मे पढाई बन्द रहती थी।

अल्प काल के लिए शिक्षण सस्थाओ मे प्रविष्ट होकर किसी ग्रन्थ विशेष का अध्ययन करने की भी प्रथा थी। जो विद्यार्थी जितने समय के लिए गुरुकुल मे प्रविष्ट होकर ब्रह्मचर्य व्रत का नियम ले उससे उसका नाम पड जाता था।

उपनिषदों में इसका उल्लेख आता है कि केवल एक प्रश्न पूछने के लिए भी कोई जिज्ञासु आचार्य या तत्वज्ञानी के पास जाकर ब्रह्मचर्य से रहता था।

आरुणि ने अपने पुत्र श्वेत केतु से कहा "वस ब्रह्मचर्यम्" वह बारह वर्ष आचार्य के यहॉ जाकर रहा। प्राचीन काल में औपमन्यव आदि पॉच मित्र केवल वैश्वानर विद्या सीखने के लिए अश्वपति के पास गये और पूर्वाहृण में समित्पाणि होकर उसके सामने पहुँचे। समित्पाणी होना ब्रह्मचर्य के औपचारिक नियम का सूचक था। सत्यकाम जाबाल ने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा-

"ब्रह्मचर्य भगवति वत्स्यामि।"

अध्यापन-

चरण के अर्न्तगत नियम पूर्वक अध्यापन उपयोग और अध्यापन कराने वाला आख्याता कहलाता था। जो विषय धार्मिक अध्ययन के क्षेत्र से बाहर नए शुरू हो रहे थे उन्हे स्वभावत वह सम्मान प्राप्त न था जो चरणो मे अनुर्शीलित विषयों को था। स्वाध्याय सम्बन्ध विषयो (ग्रन्थो) का अध्यापन कराने वाला प्रवचनीया कहलाता था। जिन अध्यापन कराने वालो को प्रवक्ता कहा गया है वे ही वैदिक ग्रन्थो का प्रवचन करते थे।

माणवक का पिता या अभिभावक गुरु के पास आकर सत्कार पूर्वक निवेदन करता था-

"मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस माणवक को उपनीत करे।" जितने काल के लिए यह प्रार्थना की गई हो उसे व्यक्त करने के लिए भी भाषा में प्रयोग चलता था। जैसे एक मास तक अध्यापन के लिए जिससे अनुरोध किया गया हो वह मासिक अध्यापक कहा जाता था।

विद्यार्थी के छात्र जीवन में नियम और व्यवस्था का मुख्य स्थान था। अध्ययन की कठिनाई प्रकट करने वाले शब्द भी मिलते है। जैसे- कष्टोऽग्नि कष्ट व्याकरणम्, ततोऽपि कष्टतराणि सामानि।

{शतपथ काण्ड- 6-9}

अर्थात् अग्नि ग्रन्थ का अध्ययन कठिन है, ऐसे ही व्याकरण भी कठिन है। इन दोनो से कठिन सामगान का सीखना है।

पारायण-

वैदिक शाखा ग्रन्थ या छन्दों को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। कण्ठाग्र करने वाले विद्वान श्रोत्रिय कहलाते थे। सहिता पाठ (निर्भुज) पदपाठ (प्रहृण्ण) क्रम पाठ आदि कई प्रकार से वैदिक मत्रो का सस्वर पाठ करना वैदिक पारायण कहलाता था। नियमानुसार पारायण करने वाला पारायणिक होता था। श्रावणी या भाद्र पद पूर्णिमा को उपाकर्म करने के बाद साढे चार महीने तक वेद का पारायण किया जाता था। उस समय कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक था। बोधायन एव अन्य गृह सूत्रों में वर्णित नियत कर्म विधि के साथ पारायण का आरम्भ किया जाता था। व्रत के समय ब्रह्मचारी आहार में ही सयम करता था, कभी केवल दुग्ध की पीकर रह जाता था। तब उसके लिए "पयो व्रतयति" कहा जाता था। महीदास ने लिखा है कि- "एक से अधिक पारायण करने की प्रथा थी, जो जीवन में दो पारायण कर लेते थे। छात्रावस्था के बाद भी कभी कोई पारायण कर सकता था।

छन्दो को कण्ठस्थ करना उस समय की शिक्षा प्रणाली का आवश्यक अग बन गया था। पतञ्जलि ने लिखा है कि पढाई का आरम्भ ही वेद कण्ठस्थ करने मे होता था। उसके बाद किसी का मन हुआ तो व्याकरण पढता था। कण्ठ करते समय छात्र स्वय बहुत परिश्रम करते थे। अच्छी स्मृति वाले छात्रो को अधिक परिश्रम के बिना ग्रन्थ कण्ठस्थ होता जाता था। अध्ययन या पारायण सुनाते समय परीक्षा काल मे जिससे जितनी अशुद्रिया हो उनकी गिनती सूचित करने वाले प्रयोग भी चलते थे।

ज्ञान पूर्वक अध्ययन-

उपर्युक्त विधि से अध्ययन करना या कण्ठस्थ करना शिक्षण विधि का केवल एक अग था। उसके तत्कालीन ज्ञान साधन के यत्नो का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदो को कण्ठस्थ कर लेने मात्र से सतुष्ट होने वाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। पतञ्जलि ने भी आगे चलकर एक पुराने श्लोक का उद्धरण देते हुए इसमे अरुचि प्रकट की है। बिना समझे बूझे कण्ठ फाडकर घोखना ऐसा है जैसे अग्नि के बिना सूखे कडो का ढेर हो।

"यद्धीतम विज्ञात निगदेनैव शब्यते।
अनग्निाविव शुष्कैधो न तज्जवलति कर्हिचित्।।"
{पस्पशाहिनक}

ज्ञान के साधन के विशेष प्रकार-

शिक्षण और ज्ञान साधन के क्षेत्र में प्रयुक्त कई महत्व पूर्ण शब्दों का उल्लेख शतपथ मे है, जिससे ज्ञात होता है कि उनके समय में कितने प्रकार से शास्त्रो की ऊहापोह और प्रचार का वास्तविक प्रयत्न किया जा रहा था। गुरुओं से शिष्यों को प्राप्त होती हुई विद्या निरन्तर प्रथित होती या फैलती थी, उसे तायन कहते थे। शास्त्रों के विस्तार का यही सर्वोत्तम प्रकार इस देश में सदा से रहा है कि उस शास्त्र को गुरु-शिष्य पारम्पर्य मे डाल दिया जाय। फिर ऐसा होता ही रहेगा कि मेधावी शिष्य पूर्व प्राप्त अपनी प्रतिभा से ज्ञान का अभूतपूर्व विस्तार करेगे।

जिस समय आचार्य अपने बुद्धिशाली शिष्य के मन मे किसी शास्त्र की बीज वपन कर देता है, आचार्य का काम समाप्त हो जाता है ओर उस शास्त्र के भावी कल्याण के लिए वह अपने कर्तव्य से उत्रृण हो जाता है। प्राय ऐसा होता है कि चरणों के सस्थापक आचार्य स्वय अपने कार्य से ऐसे यशस्वीन बन पाते जैसे वे अपने शिष्यों के ग्रन्थों मे कीर्तिमान हो जाते थे।

चरण, वैदिक विद्यापीठ-

चरण उस प्रकार की शिक्षा सस्था थी जिसमे वेद की एक सस्था का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था, और जिसका नाम मूल सस्थापक के नाम से पडता था। इसका प्रबन्ध सघ के आदर्श पर होता था। वैदिक साहित्य के विविध अगो का विकास चरणो मे हुआ था। जैसे मूल सस्थापक ऋषि द्वारा प्रोक्त छन्द या शाखा मन्त्रो की अधिदेवत अध्यात्म अधिभूत और अधियज्ञ परक व्याख्या करने वाला ब्राह्मण ग्रन्थ एव श्रौत सूत्र आदि कल्प ग्रन्थ थे।

वस्तुत वैदिक शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थो का चरणो के साथ ऐसा तादाम्य सम्बन्ध माना जाता था कि इन दोनो प्रकार के साहित्य का नाम करण चरणो मे उसका अध्ययन-अध्यापन करने वाले विद्वान गुरु शिष्यो के नाम पर ही प्रसिद्ध होता था। जब धर्म सूत्रो का अध्ययन चरणो मे हुआ, उसी युग में कितने ही नए विषयो का अध्ययन चरणो के बाहर भी होने लगा था, जिनकी शिक्षा विधि के नियम चरणों की अपेक्षा सम्भवत सरल थे। एक बार जब गुरु शास्त्रज्ञ लोगो के स्वतन्त्र रीति से अध्यापन कराने की प्रथा शुरु हुई तो फिर चरणो की वह बॅधी हुई प्रतिष्ठा छिनती ही चली गयी। नये शास्त्रों कर रचना सबके वश की बात न थी। अतएव जहॉ भी चाहे उनका निर्माण हुआ हो सब चरणो को उन्हें अपने पाठ्यक्रम मे स्वीकार कर लेना पडता था।

दुर्गाचार्य ने लिखा है कि पार्षद ग्रन्थों ये तात्पर्य प्रातिशाख्यो का है जो चरणो की परिषदो मे बनाये गये थे। पतञ्जलि ने सामवेद की सात्यमुग्रि और राजायनीय शाखाओ के अर्ध एकार, अर्ध ओकार सम्बन्धी नियम को पार्षदकृति अर्थात चरण परिषत द्वारा निर्णीत नियम कहा है। परिषद या मन्त्रिपरिषद् में जो साधु हो अर्थात् उसमें सम्मिलित होने का अधिकारी हो वह पारिषद्य या पारिषद कहलाता था। वह निश्चित है कि परिषद चरण के अर्न्तगत् एक अति प्राचीन सस्था थी जो वहॉ की विद्या सम्बन्धी व्यवस्था करती थी औश्र जिसके अध्यक्ष आचार्य स्वय होते थे।

द्वितीय परिच्छेद

विद्या

समाज मे शिक्षा का क्रम किस रुप मे ढाला जाय यह बात प्रत्येक युग मे स्वीकृत शिक्षा के आदर्श पर निर्भर करती है। आचार्य और अन्तेवासी अर्थात् पढाने वाले और पढने वाले दोनो ही उस आदर्श से प्रेरित होते है। आकाश मे स्थित विष्णु पद नक्षत्र के समान उस ऊँचे आदर्श की ओर सब की ऑखे लगी रहती है। इसी प्रेरणात्मक शक्ति मे ही विद्या का मान दण्ड ऊँचा उठा रहता है। महाजन युग मे शिल्प-कौशल और शास्त्रीय शिक्षा इन दोनो के विषय मे यास्क ने अपने समय की भावनाओ के प्रकट करते हुए लिखा है-

"जनपदीषु विद्यात् पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भयो विद्य प्रशस्यो भवति।"

यहॉ दो प्रकार की शिक्षा पद्धति का उल्लेख है। एक तो पेशेवर लोगो की शिल्प शिक्षा का जिसे जानपदी कहा जाता था और दूसरा चरणों के परम्परा प्राप्त साहित्य की शिक्षा का। जनपदो मे फेले हुए जो सैकडो के प्रकार के शिल्प थे, उनमें कुशलता प्राप्त करने वाले पुरुष विशेष समझे जाते थे। अर्थातू पेशेवरों की विरादरी में सम्मान पाते थे। कोई वास्तु विद्या का श्रेष्ठ आचार्य होता, कोई धनुर्विद्या का, कोई नृत्य और सगीत का। इनके उल्लेख बहुधा जातको मे मिलते है।

इसी प्रकार चरण नामक शिक्षा सस्था में जो बौद्धिक शिक्षा या ज्ञान की साधना की जाती थी, उस क्षेत्र में भी जो व्यक्ति जितना ऊँचा उठता, वह उतना अधिक सम्मान पाता था। पीढी दर पीढी गुरु-शिष्य परम्परा के जो ज्ञान पर औश्र अवर अर्थात् पुराने और नये साहित्य के रूप मे सग्रहीत हो जाता था, उसे की यास्क ने पारोवर्य कहा है। इस पारोवर्य ज्ञान का उपार्जन करने वाले चरणों के अध्येतृ-वेदितृ विद्वान होते थे। उनमे भी अध्येतृ वर्ग का अर्न्तभाव आगे चलकर वेदृित विद्वानों में ही हो जाता था। ऐसे विद्वानों में जो भूयोविद्य होते थे वही प्रशस्य या श्रेष्ठ सम्मान के अधिकारी समझे जाते थे।

भूयोविद्य एक विशिष्ट शब्द है, इसका सकेत उन विद्वानों की ओर है जो चरण साहित्य के अनेक अगो में पारगामी होते थे। इस साहित्य का अपरिमित विस्तार शतपथ काल मे हुआ। भूयोविद्य का आदर्श उस बहुश्रुत विद्वान में चरितार्थ होता था जो इस वाड्मय की अधिक से अधिक विद्याओ में योग्यता प्राप्त करता था। वेद के सरहस्य ज्ञान के लिए आचार्य छन्दो के अध्ययन या कण्ठस्थ करने के लिए श्रोत्रिय, प्रोक्त साहित्य का प्रवचन

करने के लिए या पढाने के लिए प्रवक्ता, धार्मिक साहित्य के लिए आख्याता, वेदागो के लिए अनूचान और साधारण लौकिक ग्रन्थो को पढाने के लिए अध्यापक होते थे।

एक-एक विषय मे प्रवीण विशेषज्ञ विद्वानो की बाढ अपने-अपने विशेषज्ञ के रूप मे समाज मे प्रतिष्ठित होता था। इस प्रकार के तद्वेद विद्वानो को यास्क ने वेदितृ कहा है। एक-एक विषय के अनेक विद्वानो मे जो कोई बहुत सी विधाओ या विषयो का विद्वान होता था, वही भूयोविद्य इस सम्मानित पद का अधिकारी समझा जाता था। भूयोविद्य से ही उच्चतर कोटि मे सर्वविद्य ब्रह्म की उपाधि थी।

"ब्रह्ना सर्वविद्य सर्ववेदितुमर्हति।"
{निरुक्त- 1/1/3}

यास्क ने लिखा है के पार्षद ग्रन्थ या प्रतिशख्यो के उहापोह का मूल आधार पद पाठ था-

"पद प्रकृतीनि सर्वूचरणाना पार्षदानि।"
{निरुक्त- 1/18}

अतएव पद पाठ का विशेष अध्ययन करने वालों की आवश्यकता थी। ब्राह्मण और अनुब्राह्मण ग्रन्थो के विशेषज्ञ भी थे। वस्तुत शिक्षा के क्षेत्र मे नई प्रवृत्ति विशेषज्ञो का निर्माण था। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि बहुआ लोग एक-एक विषय मे प्रवीणता प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते थे। इसलिए भी भूयोविद्य व्यक्ति विशेष प्रशसनीय समझा जाने लगा। इस प्रकार के बहुश्रुत विद्वान चरणो के प्राचीन आदर्श के मूर्त रूप थे।

पतञ्जलि ने अग विद्या के जानने वालों के लिए अग विद्या, वायस विद्या या पक्षिशास्त्र के जानकर लोगों को वायस विद्यिक या वायोविद्यिक, गाय और घोडों के लक्षण ग्रन्थों का अध्ययन करने वालो को गौलक्षणिक, आश्वलक्षणिक, क्षत्रविद्या के विद्वानों को क्षात्रविद्य कहा जाता है। और अभी कई प्रकार का साहित्य शतपथ के समय बन चुका था, यहाँ तक कि एक-एक कथा ग्रन्थ या कहानी के विशेषज्ञ उस नाम से पुकारे जाने लगे थे। उदाहरण के लिए यवक्रीत का आख्यान जानने वाले याव्रक्रीतिक, ययाति के उपाख्यान के विशेषज्ञ यायातिक, वासवदस्ता की कहानी जानने या कहने वाले वासवदन्तिक नाम से लोक में प्रसिद्ध हो जाते थे। शौरि बसुदेव की पत्नी प्रियगु सुदरी की कथा के विशेषज्ञ प्रैयगविक थे। यहाँ तक कि सुमनोत्तरा नाम की विशेष कहानी जिसका बौद्ध साहित्य में उल्लेख है, जानने और कहने वाले शौमनोत्तरिक कहे जाते थे।

इन शब्दों की भाषा में क्यों आवश्यकता हुई इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि शतपथ काल से लेकर पतञ्जलि के पुत्र तक सब प्रकार की विद्याओं की शिक्षा

का इतना अधिक विस्तार हुआ था, और एक-एक विषय औग ग्रन्थ ओग ग्रन्थ मे जनना की रूचि इतनी अधिक जाग्रित हो गई थी कि समाज मे ऐसे विद्वानो की आवश्यकता प्राय पडती थी।

यह ऐसे हुआ जैसे अव से सौ वर्ष पूर्व अल्हा गाने वाले अल्हैत या लोरिकायन गाने वालो की विशेष माग देहातो मे रहती थी। न केवल खेल तमाशे वल्कि नाटक और कहानियो मे भी लोगो की जो बढी हुई रूचि थी उस पग जातको के माध्यम से प्रकाश पडता है।

माणव, अन्तेवासी और चरक इन तीन प्रकार के विद्यार्थी होते थे। माणव के लिए हितकारी इस अर्थ मे माणवीन और चरक के लिए हितकारी इस अर्थ मे चारकीण शब्द प्रयुक्त होते थे। वैशम्पायन का नाम भी चरक पड गया था। सम्भवत एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर ज्ञान का प्रचार करने के कारण उनकी यह सज्ञा हुई। अवश्य की वैशम्पायन के बहुत से अन्तेवासी शिष्य थे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानो में फेलकर स्वय अपनी शाखाओं का विकास किया और नये चरणो की स्थापना की। उनके नौ प्रमुख शिष्य प्रत्यक्षकारी अर्थात् स्वय शाखाओं प्रर्वतन करने वाले थे।

“आलम्बि, पलग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्डि, श्यामायन, कठ, कलापी। आदि वैशम्पायन के शिष्य भी चरक कहलाते थे।”

आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त कर लेने पर भी जो उच्चतर ज्ञान की खोज में निकलते थे, ऐसे उत्तम विद्वानों के लिए यह चरक नाम उस समय था।

जातको मे तक्षशिला विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए “चारिक चरन्ता” कहा गया है, जो अध्ययन समाप्त करके स्वय देशाचर का परिज्ञान करने के लिए यात्रा करते थे। वृह्दारण्यक उपनिषत् में भुज्यु लाह्यायनि में याज्ञवल्क्य से कहा कि वह मद्र देश मे अपने साथियो के साथ चरक बन कर विचर रहा था।

“मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम”
{वृ0उप0- <u>3/3/1</u>}

ग्रन्थ निर्माण-

अपने-अपने विषयों के विद्वान् नूतन ग्रन्थ रचना द्वारा अपनी विद्या को सफल बनाते थे। विभिन्न विषयों पर लिखे जाने वाले अथवा विशेष विद्वानों द्वारा अपने-अपने प्रयत्न से निर्मित ग्रन्थों का भी शतपथ में उल्लेख किया गया है।

(1) मन्त्रकार
(2) पदकार
(3) सूत्रकार
(4) गाथाकार
(5) श्लोककार।

आदि इतने प्रकार के रचयिताओ का नामोल्लेख किया गया है। जो इन शब्दो मे उन विभिन्न साहित्य रूप और शैलियो के नाम है, जो उस समय तक प्रचलित हो चुकी थीं।

आपिशलि, यास्क, शाकटायन और पाणिनि जैसे दिग्गज विद्वान अपने मौलिक चिन्तन और महान् प्रयत्न से नए-नए शास्त्रों की उद्‌भावना कर रहे थे और उन विषयो को नियम बद्ध करके शास्त्रों का रूप दे रहे थे। यही उस युग की सबसे बडी विशिष्ट साहित्यिक सम्पत्ति थी। ग्रन्थकर्ता ग्रन्थ निर्माण में जिस लगन से काम करते थे इसका कुछ सकेत भासन, ज्ञान, यत्न, वृन्ति, तायन, सम्मानन आदि शब्दों में पाया जाता है।

एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है। यह एक प्रकार से आशु कविता थी, जैसे "गाथा प्रकुरुते" से ज्ञात होता है कि गाथाकार से तत्काल ही छनदोबद्ध कविता करने की आशा की जाती थी। पारिप्लव आख्यान में कहा गया है कि वीणागाथी अथवा वीणागणगिन् अपनी बनाई गई गाथाओं को वीणा पर गाता था।

"स्वय सभृता गाथा गायति।"
{शतपथ ब्रा0- 13/4/3/5}

ग्रन्थों का नामकरण-

ग्रन्थो के नामकरण के दो हेतु आचार्यों ने कहा है। एक तो लेखक के नाम से जैसे वररुचि के बनाए गये श्लोक वाररुचा श्लोका। दूसरा जिस विषय का प्रतिपादन ग्रन्थ में होता था उसके नाम से भी ग्रन्थ का नाम रखा जाता था। जैसे- सौभद्र, सुभद्रा के आख्यान का गन्थ, यायात- ययाति के आख्यान का ग्रन्थ, गौरी मित्र- कोई अज्ञात कथा ग्रन्थ।

व्याख्यान-

शतपथ काल में व्याख्यान ग्रन्थों का निर्माण भी होने लगा था। उसका नाम मूल व्याख्यातव्य विषय के नाम से रखा जाता था। जैसे-

"सुपा व्याख्यान सौप ग्रन्थ।"

अर्थात् सुबन्त शब्दो की व्याख्या करने वाला सौप ग्रन्थ। ऐसे ही तैग अर्थात् तिङ्0त्त शब्दो का व्याख्यान ग्रन्थ। कार्त अर्थात् कृदन्त शब्दो पर व्याख्यान ग्रन्थ, षात्वणत्विक अर्थात् षत्वणत्व या मूर्धन्य प्रकरण का व्याख्यान ग्रन्थ, नातानतिक नत-अनत या अनुदत्त-उदात्त स्वरो का व्याख्यान ग्रन्थ। इसी प्रकार वैदिक काल मे अनेक विषयो के व्याख्यान ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है। जैसे-

अग्निष्टोमिक	- आग्निष्टोम सज्ञक सोम यज्ञ का व्याख्यान ग्रन्थ।
वाजपेयिक	- वाजपेय नामक क्रतु का व्याख्यान ग्रन्थ।
राजसूयिक	- राजसूय क्रतु का व्याख्यान ग्रन्थ।
यज्ञ	- गृह्य अग्नि में होने वाले छोटे यज्ञों या इष्टियों के व्याख्यान ग्रन्थ।
पञ्चहोतृक	- पञ्चहोतृसज्ञक यज्ञ विधि का व्याख्यान ग्रन्थ जिसमे पॉच देवो का आवाहन किया जाता है।
ब्राह्मणिक	- ब्राह्मण ग्रन्थ या उसके एक अश या प्रकरण का व्याख्यान ग्रन्थ।
आर्चिक	- ऋचाओ का व्याख्यान ग्रन्थ।
प्राथमिक	- सम्भवत प्रधानोपसर्जन विषय का व्याख्यान गन्थ।
आध्वरिक	- अध्वर या सोम यज्ञ का व्याख्यान ग्रन्थ।
पौरश्चरणिक	- पुरश्चरण या यज्ञ के लिए पूर्व तैयारी का व्याख्यान ग्रन्थ, जिसका शतपथ में उल्लेख है।
नामिक	- नाम या सज्ञा शब्दों का व्याख्यान ग्रन्थ।
आख्यातिक	- क्रिया रूपों का व्याख्यान ग्रन्थ।

नामकरण का नियम 30 और 40 अध्यायों वाले दो ब्राह्मण ग्रन्थों में भी लागू होता था। तीस अध्याय वाला त्रैश ब्राह्मण कौषतकी और चालीस अध्याय वाला चत्वरिश ब्राह्मण ऐतरेय था। शतपथ के विषय में हमें विदित है कि अध्यायों की सज्ञा का उसके विकास में महत्वपूर्ण स्थान था। इष्टि पशुबन्ध और अग्नि चयन अर्थात् हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ का व्याख्यान करने वाले पहले 9 काण्डों में 60 अध्याय होने से वह षष्टि पथ कहलाता था। पीछे 10वें से 14 वें काण्ड तक के 40 अध्याय और जोडकर उसका शतपथ नाम हुआ।

तन्त्र युक्ति-

किसी भी रचना के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले उसकी रूपरेखा निश्चित कर ली जाय। इसे तन्त्र युक्ति कहते हैं। कौटिल्य में 32 तन्त्र युक्तियों के नाम हैं। चरक सुश्रुत में भी यह प्रकरण है। चरक में तीन नाम अधिक हैं। मीमासको ने ग्रन्थ रचना की युक्तियों के विषय में सूक्ष्म विचार किया था। उनकी दृष्टि में सगति ग्रन्थ का सबसे बडा गुण है, जिसमे कि सारे ग्रन्थ की सगति के साथ प्रत्येक अध्याय, पाद, सूत्र, वाक्य और

शब्द की भी सगति मिलनी चाहिए। वे मगल भी मानते है। जिस विषय का ग्रन्थ हो उसी मर्यादा के भीतर उसके प्रत्येक भाग का सगत निरूपण होना चाहिए। सैकडो अधिकार और प्रकरण परस्पर सगत होते हुए सुव्यवस्थित है। विश्लेषण की कितनी सूक्ष्म शक्ति विषय का कितना अपरिमित विस्तार, कितनी अधिक दृष्टियो से भाषा की छानबीन ये सब शतपथ कालीन शिक्षा के महान् और सुविहित होने का प्रमाण देते है। उच्चारण के अनेक नियम, शब्दो के अर्थ और वृत्तियो और आख्याता के अनेक रूपो की साधनिका, स्वर, गणपाठ, प्रत्याहार अधिकार, स्वरित, अनुनासिक कितनी ही युक्तियो से शब्दो के अनन्त भण्डार शतपथ कालीन शिक्षा का महान् व्यवस्था का परिणाम है।

मगल ग्रन्थ के आरम्भ में किसी देवता की नमस्क्रिया या स्तुति अथवा आशिर्वादात्मक किसी शब्द का प्रयोग मगल था। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए दैवी सहायता या देव प्रसाद की प्राप्ति, यही उसका उद्देश्य था। भाष्यकार ने इस सम्बन्ध मे यहाँ तक कहा है कि मागलिक शास्त्र के पढने और पढाने वाले सब प्रकार के वृद्धियुक्त और दीर्घजीवी हो।

"मागलिक आचार्यों महत शास्त्रौघस्य मगलार्थं वृद्धि शब्द मादति प्रयुक्ते, मगलादीनिहि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्तयायुष्मत् पुरुष्काणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति।"

पतञ्जलि और कात्यायन ने अपने शास्त्र के अन्त में मगलात्मक वाक्य रखा है। भाष्यकार वार्त्तिककार के भी मागलिक आचार्य मानते हैं क्योंकि उन्होंने अपने वार्त्तिक के आरम्भ में इन मागलिक शब्दों का प्रयोग किया है।

चरणो के अर्न्तगत परिषदो में स्वाध्याय के आरम्भ ओम् शब्द का उच्चारण करने की प्रथा थी।

लिपि–

शतपथ काल लिपि का ज्ञान या प्रचार इस देश में था या नहीं इस विवादित विषय में पश्चिमी विद्वानों ने भी गोल्डस्टूकर का मत है कि उस काल में वैदिक साहित्य लिखित ग्रन्थों के रूप में आ चुका था यद्यपि उसे कण्ठस्थ करने वाले श्रोत्रिय विद्वान सहस्रों की सख्या में विद्यमान थे, जैसे कि कुछ तो आज भी हैं। एस समय की शिक्षा पद्धति मौखिक पारायण पर आश्रित थी। लिखित ग्रन्थों का अधिक चलन न था, पर यह कहना तथ्यहीन है कि लिपि का ज्ञान ही लोगों को न था। ग्रन्थ, लिपिकर, षवनानी, लिपि और गौओं के कानों पर सख्यावाची चिन्ह अकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है। ये सब लिपि ज्ञान के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण हैं।

लिपिकर-

मौर्य युग मे लिपि शब्द लेखन के लिए प्रयुक्त होता था। तृतीय शती ईर्स्वी पूर्व मे अशोक के अपने स्तम्भ लेख और शिला लेखों को धम्म लिपि या ध्रम दिपि कहा है। लघु शिला लेख सख्या दो मे लेख खोदने वाले को लिपिकार कहा गया है। कौटिल्य मे भी लिपि शब्द आया है। वहॉ साकेतिक लिपि को सज्ञा लिपि कहा है। ईरानी सम्राट दारा प्रथम ने बहिस्तून अभिलेख मे उत्कीर्ण लेखन को दिपि कहा है। अतएव यह नि सदेह है कि शतपथ काल के समय मे लिपि का अर्थ लेखन क्रिया और लेखन चिन्ह थे।

यवनानी-

यवनानी शब्द का अर्थ यवनों की लिपि ऐसा समझा जाता था।

"यवनाल् लिप्याम्।"

कात्यायन के केवल उस शब्द का विवरण दिया है।

कीथ ने लिखा है कि यवनानी लिपि से तात्पर्य सम्भवत आईओनिया देश के यूनानियों की लिपि से ही था।

गोल्डस्टूकर और स्पूनर ने यवनानी लिपि का अभिप्राय प्राचीन ईरान देश की कीलकाक्षर लिपि माना था, किन्तु यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यवन शब्द से ईरानियों की कभी कोई ग्रहण होता था। दारा प्रथम - ई0पू0 581-485 ने अपने प्राचीन अभिलेखों में योन देश और वहॉ के निवासी योनों का उल्लेख किया है। ये नाम ईरान या ईरानियों के लिए अप्रयुक्त थे।

अशोक ने भी अपने लेखों में यवन या यूनानियों के लिए योन शब्द का प्रयोग किया है, ईरानियों के लिए नहीं। यह भी प्रमाणाभाव से नहीं माना जा सकता कि प्राचीन ईरानी साम्राज्य की जो राजकीय लिपि थी उसी को यवनानी कहा गया है। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि चौथी शती ईस्वी पूर्व मे जब सिकन्दर भारत आया, उससे लगभग डेढ-दो सौ वर्ष पहले ही भारतवासी यूनानियों के सम्पर्क में आ चुके थे। यूनानी इतिहास लेखक "हेरोदोत" ने लिखा है कि भारतीय सैनिकों की एक टुकडी ख्षयार्थ के ईरानी कटक दल के साथ यूनान के युद्ध में सम्मिलित हुई थी, और सिकन्दर से पहले ही यूनान देश के लागो ने बाहूलीक मे अपने उपनिवेश बना लिये थे।

तृतीय परिच्छेद

साहित्य

साहित्य रचना के लिए जिस प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है, उसका सकेत समकालीन साहित्य के वर्गीकरण के समय शतपथ काल मे किया गया था।

दृष्ट-

ऋषियो ने जिस साहित्य का प्रत्यक्ष किया था उसे इसे वर्ग मे रखा जा सकता है। सामवेद के गान का भी उल्लेख उस काल में किया गया है।

प्रोक्त-

वह साहित्य जिसके निर्माण मे वैदिक-चरणों के सस्थापक ऋषियो ने भाग लिया। इसके अन्तर्गत छन्द ग्रन्थ अर्थात् वेदो की पृथक-पृथक शाखाएँ थी। जैसे- तैत्तिरीय शाखा, कठो की शाखा, कलापों की शाखा एव और भी ब्राह्मण ग्रन्थ जिनका चरणो मे विकास हुआ।

प्रोक्त ग्रन्थ का सम्बन्ध चरणों के अन्तर्गत उनके पढने-पढाने वालो से था। यह सम्बन्ण मूल छन्द या शाखा ग्रन्थों से ही प्रारम्भ हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थो के विकास से साथ उसमें भी तद्विषया का नियम लागू हुआ। जैसे- तैत्तिरीय चरण के अन्तर्गत मूल तैत्तिरीय शाखा और तैत्तिरीय ब्राह्मण का नाम अपने चरण के नाम से पडा। कालक्रम की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद भी बने थे। साहित्य रचना की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद ब्राह्मण साहित्य के ही अतरग भाग थे। इसलिए उनके नामकरण की पृथक समस्या का अनुभव नहीं हुआ।

ऋषि कश्यप और कौशिक द्वारा स्थापित चरण काश्यपिन और कौशिकन कहलाते थे, एव ये चरण कल्प सूत्रों तक सीमित थे। अर्थात् इन ऋषियों ने किसी शाखा या ब्राह्मण का प्रवचन न करके कल्पसूत्र का ही प्रवचन किया था। यह बात कुछ आश्चर्यजनक है कि तद्विषया का नियम केवल छन्द और ब्राह्मण ग्रन्थो मे लागू था, वही भिक्षुसूत्र और नटसूत्र जैसे लौकिक ग्रन्थों मे भी लागू हुआ।

पतञ्जलि ने लिखा है - "पराशरिणो। भिक्षव शैलालिनो नटा" यहाँ सब टीकाकार सहमत है कि पाराशरिण और शैलालिन ये दो चरणो के नाम थे, अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा के द्योतक थे, जिनका सगठन ठीक वैदिक चरण सस्थाओं के आदर्श पर हुआ था। इनमें भी अन्य चरणो की भाँति अध्येतृ-वेदितृ परक अर्थ का बोध होता था।

पाराशर्य और शैलालक चरणो का मूल मे सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ था, अर्थात् उनमे ऋग्वेद की शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्ययन होता था। ये दोनो ही विषय महत्वपूण ओग लौकिक थे। इन नये विषयो को उन दोनो चरणो के आचार्यों ने इतने उत्साह से ग्रहण किया उनसे सम्बन्धित वैदिक ग्रन्थो का नाम लुप्त हो गया।

उनकी कीर्ति केवल इन नये विषयो के कारण लोक मे प्रथित हुई। अथवा यह भी सभव है कि इन वैदिक ग्रन्थो मे ठीक वही मौलिकता न रही हो और किसी अन्य वैदिक चरण की शाखा को ही आचार्य पढते-पढाते रहे हो। किन्तु जिस विषय मे आचाय शिलानी ने स्वतन्त्र अन्वेषण किया और अपनी प्रतिभा से नये विषय का प्रवचन किया। यह भी समझा जाता है कि ऐसे प्रतिभाशाली आचार्य के समीप में ज्ञान सीखने वाले जिज्ञासु शिष्य वैदिक ग्रन्थ पढने न आए होंगे, बल्कि आचार्य द्वारा उपज्ञात नाट्य शास्त्र या नटसूत्रो के अध्ययन के लिए उपस्थित हुए होंगें।

यह वैदिक चरणो की उदारता थी कि उन्होने समयानुसार नए विषयो के स्वागत के लिए अपना द्वार उन्मुक्त किया और अपनी चिर-उपार्जित प्रतिष्ठा से उन्हे सम्मानित किया। भाष्य में ठीक ही लिखा है कि ज्ञान के इस नए क्षेत्र में भी तद्विषयता का नियम लागू किया गया।

उपज्ञात-

इस कोटि में उस साहित्य का परिगणन था जिसका किसी विशिष्ट आचार्य ने पहली बार आविर्भाव किया हो। इस प्रकार के प्रयत्न को आद्य आचिख्यासा कहते थे। प्रोक्त साहित्य के ही अर्न्तगत उपज्ञात सज्ञक विशेष साहित्य था। छन्द या शाखा ग्रन्थ केवल प्रोक्त थे, उपज्ञात नहीं क्योंकि प्रवचन कर्ता ऋषियों ने कुछ नई मौलिक सूझ से उन वैदिक ग्रन्थों का आविर्भाव नहीं किया था। जो मूल सहिताए थी, उन्हीं में फेर बदल करके उन्होने शिष्यो को उनका अध्यापन कराया था। इसीलिए एक ही वेद की कई शाखाएँ परस्पर बहुत मिलती हैं।

नए-नए विषय और उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ चरणो के बाहर अस्तित्व में आ गये थे, जिनकी रचना में उनके लेखकों ने महान प्रयत्न किया था। उनके कर्तव्य का भी लोगो को तथ्यात्मक परिचय था। अतएव यह सभव नहीं था कि उनका नामकरण उनके प्रवक्ता या उपज्ञाता अर्थात् मौलिक रचयिताओं के नाम से न हो। इस प्रकार यद्यपि ग्रन्थ और गुरु-शिष्य पारम्पर्य के नाम में कोई भेद न था, किन्तु शिक्षण सस्थान की दृष्टि से शतपथ कालीन ग्रन्थों में और चरण साहित्य के ग्रन्थों में बहुत अन्तर था। शाखा पर आधारित चरणों का जो नियमित सगठन था वह नए शास्त्रो को प्राप्त न था। पतञ्जलि ने तो स्पष्ट लिखा है कि उनका सम्बन्ध सभी चरणों में सम्मान था।

"सर्ववेदपारिषद हीद शास्त्रम्।"

ग्रन्थ की रचना मे विशेष प्रयत्न और पारिष्कार शतपथ काल मे किया गया जिसके कारण ग्रन्थों का स्वरूप इतना सुथरा और सुविभक्त होता था। उसी पृष्ठि भूमि मे सख्या शब्दो को ग्रन्थो के नामकरण मे इतना महत्व प्राप्त हुआ। अध्याय, पाद के साचे मे ग्रन्थ को ढालने अथवा कुशल तक्षक की भॉति अपरनी सामग्री को गढ छिल कर उस रुप मे ले आने मे ग्रन्थकर्ता जो महान प्रयत्न करते थे, उसका गौरव सख्या शब्दो को प्राप्त हुआ, तभी भाषा में इस प्रकार के नामो की आकाक्षा हुई

ग्रन्थ के आन्तरिक शिल्प या वास्तु विधान को ऐसा महत्व किसी अन्य युग में प्राप्त नहीं हुआ, जितना शतपथ काल मे प्राप्त हुआ था। ब्राह्मण युग के अन्त मे ही अध्यायों के सम्बन्ध की रचना की सख्याओं के महत्व की यह व्यजना शुरु हो गई थी। तभी तो 60 अध्यायो वाले ग्रन्थ के लिए षष्ठिपथ और 100 अध्यायो वाले ग्रन्थ के लिए शतपथ तथा 30 अध्यायों वाले कौषीतकी के लिए तैंश, और 40 अध्यायो वाले ऐतरेय के लिए चत्वारिश जैसे नाम पड गये।

कृत-

इस श्रेणी के साहित्य में साधारण ग्रन्थो का समावेश किया गया जिनका नामकरण या तो उनके विषय से या लेखक के नाम से ज्ञात होता था। अनुष्टुप श्लोक और उसके साथ श्लोकक्कार कवि के उदय का फल यह हुआ कि शीघ्र की काव्य और नाटक रूपी साहित्य का जन्म होने लगा। यह सब साहित्य कृत कोटि का था। उदाहरण के लिए सौभद्र - "अर्थात् सुभद्रा के उपाख्यान पर आश्रित ग्रन्थ" यायात्- ययाति के उपाख्यान पर आश्रित ग्रन्थ। वारुरुचा श्लोका- वररुचि के बनाए श्लोक ये सब काशिका में उद्घृत कृत साहित्य के उदाहरण है।

कृत और उपज्ञात में भेद यह था कि कृत वह ग्रन्थ था जिसे किसी लेखक ने विरचित किया, किन्तु उपज्ञात ग्रन्थ विशेष न हो कर उस शास्त्रीय विषय के लिए प्रयुक्त होता था। जिसकी प्रथम उद्भावना किसी मेधावी आचार्य ने की हो।

उपज्ञात ग्रन्थ व्यक्ति विशेष से प्रोक्त और उपदिष्ट होता था, किन्तु उसका नाम उस विषय के नाम से पड जाता था, जिसका उपदेश या प्रवचन उसमें किया गया हो। शास्त्रीय नाम के पहले उपज्ञाता आचार्य के नाम से बना हुआ विशेषण प्रयुक्त किया जाता था।

व्याख्यान-

शतपथ में धार्मिक और लौकिक श्रेणी के विषयो के फुटकर ग्रन्थो पर विरचित व्याख्यान ग्रन्थ इस श्रेणी के साहित्य मे आते थे। ये कुछ मौलिक रचनाएँ न थीं, वल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इनकी रचना उस समय वडे वेग से हो रही थीं। जैसे वैदिक अध्यायो और मन्त्रो के अर्थ समझाने के लिए या उनके विभिन्न पाठो की युक्ति बताने के लिए, या यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिए या वेदाग सम्वन्धी विषयो के व्याख्यान के लिए अथवा दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष, अग विद्या, क्षत्र विद्या आदि फुटकर विद्याओ को स्पष्टता से समझाने के लिए इस साहित्य का उद्देश्य उन उदाहरणो से स्पष्ट होता है। जो इस प्रकार है जैसे- सोमक्रतुओं के व्याख्यान ग्रन्थ, पुराडाश बनाने की विधि बताने वाले ग्रन्थ। एक प्रकार से यह आजकल की पद्धतियो के ढग की पुस्तके रहीं होगी। व्याख्यान साहित्य के निर्माण मे बहुत से छोटे-छोटे लेखक भी अपनी-अपनी विद्या और बुद्धि के अनुसार भाग ले रहे थे। जैसा कि उत्पात निमित्त आदि अति सामान्य विषयो पर लिखे गये ग्रन्थो से सूचित होता है। निमित्तों का व्याख्यान ग्रन्थ नैमित्त और उन्हें बताने वाला व्यक्ति नैमित्तिक कहलाता था। उस समय नक्षत्रों के फलाफल का विचार करना, हाथो की रेखा देखना या ज्योतिष की सहायता से भविष्य कथन करना इन बातों मे भी लोगो को काफी रूचि हो गयी थी, जैसा जातक कहानियों से विदित होता है।

वैदिक साहित्य-

वैदिक साहित्य के विषयों में ऋग्वेद, मैत्रायणी सहिता, काठक सहिता, तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद और सामवेद। इसी में ऋग्वेद के शाकल्य पद पाठ का नाम भी जोड लेना चाहिए। भारतीय टीकाकार भी प्राय वैदिक प्रयोगों के लिए "प्रयोगो मृग्य" कह कर छुट्टी ले लेते हैं। उसमें यह भी अध्ययन करना होगा कि कितनी सामग्री सहिताओं मे ऐसी है जिसका सकलन शतपथ में किया गया है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही था कि वजसनेयि सहिता और शतपथ वैदिक काल के समकालीन रचना है।

मन्त्र, छन्द आदि शब्द-

छन्द, मन्त्र, ऋच्, यजुष, ब्राह्मण और निगम इनका उल्लेख शब्द प्रयोगों के सम्बन्ध मे आता है। इन शब्दों से क्या अभिप्राय था यह स्पष्ट होने की आवश्यकता है। छन्द तो भाषा का उलटा है। भाषा का प्रयोग शतपथकार ने उस समय की बोल चाल में आने वाली सस्कृत अर्थात् शिष्ट भाषा के लिए किया है। जहाँ किसी प्रयोग का साधुत्व छन्द में कहा गया है वहाँ शतपथकार का आशय सहिता साहित्य और ब्राह्मण साहित्य इन दोनों से होता था। ब्राह्मण साहित्य को छोडकर ऋचा भाग या यजुष भाग में उस शब्द का साधुत्व होता है। ऋच् का तात्पर्य ऋग्वेद सदृश मन्त्रों से है और उसका उलटा यजुष गद्यात्मक मन्त्र भाग से। ब्राह्मण से तात्पर्य गद्यात्मक ब्राह्मण साहित्य से है।

वैदिक शाखा-

चरणो का विकास मूलत वैदिक शाखाओं के आधार पर हुआ। इन्हे छन्द और आम्नाथ भी कहते थे। छन्द और ब्राह्मण के चरणो के प्रधान अध्ययन के विषय थे।

ऋग्वेद-

ऋग्वेद मे अनेक चरणो का उल्लेख किया गया है। शाकल्य आचार्य ने ऋग्वेद का पदपाठ बनाया था। शाकल प्रोक्त शाखा का अध्ययन करने वाले विद्वानो को कहते है। इसे शाकल चरण भी कहते थे।

"प्रोक्तमधीयते शाकला ।"

ऋक्सहिता का वर्तमान सस्करण शाकल शाखा है। वस्तुत शाकलो के अन्तर्गत एक शैशिरीय चरण था। उसी का यह शाखा ग्रन्थ है। ऋक् प्रातिशाख्य के आरम्भिक श्लोको मे शैशिरीय शाखा के साथ उसका सम्बन्ध कहा गया है।

बाष्कल चरण ब्यूह के अनुसार यह ऋग्वेद का महत्वपूर्ण चरण था। बाष्कलों का उल्लेख साक्षात् रूप से नहीं किया गया है किन्तु चरण के प्रमुख शिष्य पराशर का उल्लेख किया है, जिसने पराशर शाखा का आरम्भ किया।

शिलालिन् मूलत शैलालक ऋग्वेद का चरण था, जिन्होंने एक ब्राह्मण ग्रन्थ का भी विकास किया था। आप स्तम्ब और श्रौत सूत्र में शैलालिक ब्राह्मण का उल्लेख है। बह्वृच अर्थात् शाखा और धर्मसूत्र को बह्वृच कहा गया है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में इसी चरण को सर्वोपरि प्रधानता प्राप्त हुई थी। शतपथ ब्राह्मण <u>10/5/1/10</u> मे बह्वृचों का उल्लेख है।

अवश्य ही आपस्तम्ब के सामने बह्वृचों का कोई ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थ था जो अब अप्राप्त है। इस चरण की संहिता और ब्राह्मण दोनों सुरक्षित नहीं रहे।

यजुर्वेद-

कृष्ण यजुर्वेद के की अनेक चरण सस्थापक आचार्य थे, जिनके गुरु वैसम्पायन थें। ये विद्वान वैसम्पायन के अन्तेवासी प्रसिद्ध थे। ये स्वय प्रत्यक्षकारी हुए, अर्थात् प्रत्येक ने स्वय एक-एक शाखा का प्रवचन किया और चरण की सस्थापना की।

"तैत्तिरीय चरण के सस्थापक आचार्य तित्तिरि थे। नैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्तिम भाग की सज्ञा काष्टक भी थी जिससे ज्ञात होता है कि तैत्तिरियो और कटो का निकट का सबन्ध था।"

{प0 भगवदत्त वेदिक वाडग्यमय का इतिहास}

औखीय के अनुसार तैत्तिरीय चरण के दो उपविभाग हुए औखीय और खाण्डिकीय। आत्रेय भी औखीय चरण का ही एक छोटा विभाग था।

खाण्डिकीय तैत्तिरियो के अर्न्तगत एक चरण था। इसी मे आपस्तम्व हिरण्यकेशीय और भारद्वाज चरणों का विकास हुआ।

वैसम्पायन को ही चरक कहा जाता था, जिसका मूल अर्थ ज्ञानोपार्जन के लिए विचरपा करने वाले विद्वानो से था। वैसम्पायन वैदिक आचार्यों मे प्रमुख थे। शवर स्वामि ने लिखा है कि कृष्ण यजुर्वेद की समस्त शाखाओ के अध्ययन का श्रेय वैशम्पायन को था।

"स्मर्यते च वैशम्पायन सर्वशाखाध्यायी।"

{मीमासा भाष्य-1/1/30}

श्यामायन काठ और कलापिन आचार्यों का चरण श्यामानि, कठा, कलापा उदीच्य देश मे थे।

"आलम्बिश्चरक प्राच्या पलगकमलावुभौ।
ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयस्त्रयोऽपरे।।
श्यामायन उदीच्येषु उक्त कठकलापिनो।

{काशिका मे उद्घृत श्लोक}

शतपथ ब्राह्मण में कृष्ण यजुर्वेद की चरक शाखा के अनुयायी चरकाध्वर्यु कहे गये है।

सामवेद-

सामवेद की सहिता के दो भाग थे, अर्चिक और गेय। सामवेद के छान्दोग्यचरण का भी उल्लेख किया गया है। कालान्तर में सामवेद का मुख्य चरण हो गया। जिसमें कार्तचरण का उल्लेख है। उसके आचार्यकृत पौरव राजकुमार थे और कोशल देश के राजा हिरण्यनाथ के शिष्य थे, जो सामवेद के प्रसद्धि विद्वान माने जाते थे। कहा जाता है कि

कृत आचार्य ने अपने अन्तेवासियो द्वारा प्राच्य देश मे सामवेद की सहिताओ का प्रचार किया।

"यश्चतुर्विशति प्राच्य सामगाना सहिताश्चकार।"

यजुर्वेद के लिए जो महान कार्य वैशम्पायन ने किया था वेसा ही पुरुषार्थ सामवेद के लिए आचार्यकृत का था।

अथर्ववेद-

अथर्वा ऋषि द्वारा प्रोक्त अर्थवन् ग्रन्थ के अध्येतृ-वेदितृ विद्वान आर्थवणिक कहलाते थे। पतञ्जलि ने आथर्वणिकों के आम्नाय और धर्म अर्थात् छन्द और धर्मसूत्र का उल्लेख किया है। मौद और पैप्पलाद अथर्ववेद के ही दो चरण थे। अथर्व के एक उप-चरण जाजल का उल्लेख कात्यायन ने किया है। जिसकी सीपना जाजलि नाम के आचार्य ने की थी। जाजलि ब्राह्मण का उल्लेख शान्ति पर्व में हैं

ब्राह्मण साहित्य-

एक दृष्टि से ब्राह्मणों का पद छन्द या शाखा ग्रन्थों के समकक्ष था, अर्थात् दोनों में ही तद्विषयता का नियम लागू होता था और लोक मे दोनो का अस्तित्व अध्येतृ-वेदितृ समुदाय या चरण के रूप में पाया जाता था।

सभवत कई वैदिक चरण ऐसे थे जिन्होंने स्वतन्त्र शाखा ग्रन्थो का विकास न करके अपने अध्ययन के लिए विशिष्ट ब्राह्मण ग्रन्थों का ही विकास किया था। ऊपर जिन नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें सभी का प्रमाण लगभग केवल ब्राह्मण ग्रन्थों मे पाया जाता है।

त्रैंश-चत्वारिंश -

तीस अध्यायों के ब्राह्मण ग्रन्थ को त्रैश और चालीस अध्याय के ब्राह्मण ग्रन्थ को चत्वारिश कहा है। कौषीतकी ब्राह्मण में 30 और ऐतरेय ब्राह्मण मे चालीस अध्याय है। इन दोनों की भाषा बहुत प्राचीन है। अतएव हम इसी परिणाम पर पहुॅचते हैं कि वे सभी शतपथ कालीन थे।

पुराणप्रोक्त ब्राह्मण-

शतपथ मे पुराणप्रोक्त ब्राह्मण और पुराणप्रोक्त कल्पो का उल्लेख किया हे। ब्राह्मणो के उदाहरण में पतञ्जलि ने भाल्लविन और शाट्यायनिन ब्राह्मणों का उल्लेख किया है।

हारिद्रविक और शैलाल-

ये ब्राह्मण भी शतपथ कालीन ब्राह्मण थे। हारिद्रविक ब्राह्मण का प्रमाण यास्क ने निरुक्त मे दिया है।

यज्ञवल्क ब्राह्मण-

कात्यायन ने कहा है कि पुराण प्रोक्त ब्राह्मणों का विचार करते हुए याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण का ग्रहण किया जायेगा। क्योकि वह तुल्यकाल था। अतएव याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण याज्ञवल्किन नहीं कहे जाते, बल्कि यज्ञवल्कीनि कहलाते है। याज्ञवल्क्य को भी शाट्यायन आदि प्राचीन आचार्यों के समकालीन मानते थे। पतञ्जलि ने अपना मत विल्कुल स्पष्टता से प्रकट नहीं किया। उन्होने लिखा है कि- "एतान्यपि तुल्यकालानि" अर्थात् ये भी तुल्यकाल है।

यहॉ यदि तुल्यकाल प्राचीन ब्राह्मणकालीन माना जाय, इस विषय मे "गोल्डस्टूकर और एगलिग" ने भी स्वीकार किया है।

यदि यह बात सत्य है कि याज्ञवल्क्य भी शाट्यायन आदि के समान की प्राचीन आचार्य थे तो प्रश्न होता है कि उनके ग्रन्थों में तद्विषयता का नियम लागू क्यो नहीं हुआ और याज्ञवल्क्य के नाम से भी चरण का नाम क्यों नहीं प्रवृत्त हुआ जैसा कि समस्त प्राचीन छन्द और ब्राह्मण एव कहीं-कहीं कल्पसूत्रों के रचयिता ऋषियो के नाम से भी हुआ।

यह प्रश्न सगत है कि यदि याज्ञवल्क्य का ब्राह्मण भी प्राचीन था तो लोक मे उससे सम्बन्धित चरण की सीपना क्यों नहीं हुई। इस निश्चित और स्पष्ट प्रश्न का उत्तर यहीं ज्ञात होता है कि यज्ञवल्क्य तुल्यकाल अर्थात् लगभग वैदिक काल के आसपास मे होने वाले आचार्य थे जिनके ब्राह्मण को पुराण प्रोक्त माना जाता था। शतपथ के अन्तिम काण्डों में याज्ञवल्क्य का बहुत उल्लेख आया है, और वहीं याज्ञवल्कीय काण्ड याज्ञवक्ल्य विरचित ब्राह्मण है।

बेबर ने भी पीछे से इस मत को मान लिया था कि शतपथ का चौदहवा काण्ड ही कात्यायन के वार्तिक के याज्ञवल्कानि ब्राह्मणनि है और वे शाट्यायन आदि पुराने

ब्राह्मणो की तरह पुराण प्रोक्त नहीं माने जाते थे। शतपथ का चौदहवा काण्ड याज्ञवल्क्य की रचना होने के कारण याज्ञवल्क्य ब्राह्मण नहीं कहलाता बल्कि इसलिए क्योकि उसमे याज्ञवल्क्य का विशेष उल्लेख आया है। अर्थात् शतपथ का चोदहवा काण्ड याज्ञवल्क्य की स्वय रचना नही वह किसी और का किया हुआ सग्रह है, जो बाद का हो सकता है।

शतपथ का विकास-

इस प्रसग मे शतपथ ब्राह्मण के सम्बन्ध मे भी विचार करना आवश्यक है, क्योकि व्याकरण साहित्य के कई उदाहरणों का उससे विशेष सम्बन्ध है। इस समय 100 अध्यायों वाला सम्पूर्ण शतपथ यज्ञवल्क्य की ही रचना माना जाता ह।, किन्तु शतपथ ब्राह्मण के कई काण्ड अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थो के रूप में विद्यमान थे और बहुत पीछे चलकर एक महाग्रन्थ के रूप मे सगृहीत हुए। उदाहरण के लिए उसके पहले दो काण्ड दर्शपौर्णमासेष्टियों से सम्बन्ण रखते है। काण्ड 3-4-5 का सम्बन्ध पशुसम्बन्ध और सोम यज्ञो से है। किसी समय वे इष्टि और पशुबन्ध नामों से अलग पढे-पढाये जाते थे, जैसा कि सेष्ट "पशुबन्धमधीते" इस उदाहरण से सूचित होता है। इन काण्डों में याज्ञवल्क्य का नाम प्रमाण रूप मे उपन्यस्त किया गया है। काण्ड 6-7-8-9 का सम्बन्ध अग्नि चयन से है। उसमे शाण्डिल्य आचार्य का प्रमाण विशेष रूप से आता है। ये चार काण्ड अग्नि कहलाते थे, और उनका अध्ययन अलग किया जाता था, जैसा कि साग्नि अधीते और कष्टोग्नि इन उदाहरणो से सूचित होता है। इन सौ काण्डो में सब मिलाकर 60 अध्याय है। किसी समय वे षीष्टिपथ नाम से प्रसिद्ध थे, जैसा कि पजञ्जलि ने एक प्राचीन कारिका का उद्धरण देते हुए लिखा है-

"शतषष्टे षिकन् पथ ।" उनके विद्यार्थी षष्टिपथिक कहे जाते थे।

दशम काण्ड अग्नि रहस्य कहलाता है। अग्नि चयन वाल पहले चार अध्यायों का जो विषय है, उसी के रहस्य तत्वों का निरुपण है। ग्यारहवा काण्ड सग्रह कहलाता है, क्योंकि उसमें पहले आये हुए कर्मकाण्ड का सग्रह है। 12-13-14 काण्ड परिशिष्ट कहलाते हैं और इनका विषय भी कुछ पतिपाद्य न होकर फुटकर जैसा है कि। इन्हीं में से अन्तिम चौदहवें काण्ड में वे दार्शनिक और अध्यात्म विषय है, जिनके केन्द्र में याज्ञवल्क्य का महान् व्यक्तित्व है।

"महाभारत में याज्ञवल्क्य को शतपथ के रहस्य सग्रह और परिशेष कर्ता कहा गया है।"

सग्रह का अध्ययन करने वाले छात्र साग्रहिक कहे जाते थे। बहुत सभव है कि अग्नि रहस्य, सग्रह और परिशिष्ट नाम के भाग भी यज्ञवल्क्य ब्राह्मण माने जाते थे। 12वे काण्ड को मध्यम भी कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि उससे पहले के दो और बाद के दो काण्ड मिलकर पॉच काण्डो की ग्रन्थ रूप में अलग इकाई थी। सौ अध्यायों वाले

शतपथ का नाम प्रसिद्ध हो जाने के समय भी षष्टिपथ नाम से चालू रहा। इन दोनो का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी षष्टिपथिक और शतपथ इन अलग-अलग नामो से विख्यात थे।

अन्तिम 40 अध्यायो का जो विषय है वह इस प्रकार का है कि केवल उसी का अध्ययन करने के लिए किसी स्वतन्त्र चरण की स्थापना सभाव्य न थी, कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन चरण और शतपथ ब्राह्मण के अनुयायी थे। उनकी दृष्टि मे शतपथ के अन्तिम पॉच काण्ड या चालीस अध्याय पहले साठ अध्यायों की अपेक्षा किसी तरह कम प्रामाणिक या प्राचीन न थे।

अनुब्राह्मण-

अनुब्राह्मण नाम से भी कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध थे। उनके अध्ययन करने वाले अनुब्राह्मणी कहलाते थे। आर्षेय ब्राह्मण मे तो उस ग्रन्थ को स्वय की अनुब्राह्मण कहा है। अश्वलायन श्रौत, वैतान श्रौत सूत्रों में अनुब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख है। वैदिक पारायण के अन्त मे कहा जाता था-

"स ब्राह्मणनि सानुब्राह्मणनि प्रजापत्यानि बौधायन।"
{गृह्य0- 3/127}

उपनिषद-

स्वभावत उपनिषदों का युग शतपथ के समकालीन था क्योंकि शतपथ मे भी इनका उल्लेख मिलता है। मूल में उपनिषद शब्द का अर्थ रहस्य विद्या का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ विशेष था। कालान्तर में वही शब्द कुछ कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। जैसा कि कौटिल्य में है, जहाँ गुप्तचर विभाग द्वारा प्रयुक्त छल कपट के लिए वह शब्द चल गया था।

कल्पसूत्र-

प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रोक्त कल्प ग्रन्थों का उल्लेख भी आया है। जो शतपथ काल का ही उल्लेख लगता है।

पतञ्जलि ने पराशर कल्प का उल्लेख किया है, जो ऋग्वेद के पाराशर चरण से सम्बन्धित था। कल्पग्रन्थो का मुख्य विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड था। यज्ञों के विविध अगो पर आश्रित एव यज्ञ विधियों की व्याख्या करने वाले बहुत से विशेष ग्रन्थों का निर्माण उस युग की आवश्कता थी। बाजपेय और अग्निष्टोम जैसे क्रतु या सोग यज्ञों पर अथवा पाकयज्ञ, नवयज्ञ जैसे हविर्यज्ञो पर व्याख्यान ग्रन्थों की रचना उस समय की जा रही थी।

अलग-अलग देवताओ के लिए पुराडाश बनाना उस समय के कर्मकाण्ड का अग था, उनके लिए भी छोटी पद्धतियो की आवश्कता थी, जो पुरोडाशिक कहलाती थीं। पुरोडाश वनाने मे जिन मन्त्रो का ग्रहण होता था, उनकी सरल व्याख्या करने वाली छोटी पुस्तके पोरोडाशिक कही जाती थी। साधारण ज्ञान रखने वाले ऋत्विजो के लिए इस प्रकार के सहायक ग्रन्थ आवश्यक थे। अध्वर या सोम यज्ञो पर व्याख्यान ग्रन्थ आध्यवरिक और उनके लिए तैयारी करने की विधि वताने वाले छोटे ग्रन्थ पौरश्चरणिक कहलाते थे।

व्याख्यान ग्रन्थो मे एष्टिक पाशुक का काशिका में उल्लेख किया गया है, जो प्राचीन व्याख्यान ग्रन्थ थे। दर्श-पौर्णमासेष्टि की व्याख्या करने वाले शतपथ ब्राह्मण के पहले दो काण्डों का नाम ऐष्टिक था और उसी के तृतीय से पञ्चम काण्डो का पासुक।

पारायण सम्बन्धी साहित्य-

यज्ञो के समान ही वैदिक पारायण का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थो का भी आवश्यकता थी। वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करने वाले छात्र क्रमक और पदक कहे जाते थे। ऋगयन का तात्पर्य ऋग्वेद के पारायण से था, जिसकी विधि का व्याख्यान ग्रन्थ आर्गयन कहलाता था।

पारायण कहलाते समय गुरु-शिष्य जिस विधि से मन्त्रों का उच्चारण औश्र अनुकरण करते हैं, उसे चर्चा कहा जाता था। चर्चा में मत्र के एक-एक पद का विगृहीत पाठ किया जाता था, जैसा भाष्य में लिखा है-

"न केवलानि चर्चापदानि व्याख्याना वृद्धि आतृऐतजति, पस्पशाह्निक।"

चरण व्यूह के अनुसार छन्द या वेद कण्ठस्थ करने में चर्चा मुख्य साधन है। पहले मन्त्र बोलने वाला गुरु श्रावक चर्चक कहलाता था। मन्त्र पढकर सुनाया जाता है, उसे श्रवणीय कहा जाता था। पारायण की समाप्ति को श्रवणीय पाद कहा गया है। पारायण के अन्त में जो ऋचा पढी जाती थी उसे उत्थापनी ऋच् कहते थे। उत्थापन करने के लिए जो होम आदि कर्म किया जाता था वह उत्थापनीय कहलाता था। चर्चा मे पारगत हुआ विद्वान् चर्चिक कहलाता था।

पद पाठ के सम्बन्ध का ग्रन्थ पद व्याख्यान और पुन उस पद व्याख्यान ग्रन्थ को व्याख्यातब्य मानकर उसका भी व्याख्यानपद व्याख्यान् कहलाता था। पदपाठ के एक-एक पद के अर्थो की व्याख्या इस प्रकार के विशिष्ट ग्रन्थों का विषय रहा होगा।

उक्थ-

उक्थ नामक ग्रन्थ का अध्ययन करने वाले छात्र को औक्थिक कहा गया हे। सम्भवत उक्थ सामवेद का पार्षद ग्रन्थ था। पतञ्जलि का कहना हे कि उक्थ किसे कहते है? साम उक्थ है। यदि ऐसा है तो तभी सामगान करने वाले औक्थिक कहे जायेगे। यदि उक्थो का निरुपण करने वाले ग्रन्थ को उक्थ मान लिया जाय तो यह दोष नही पडेगा। भाष्य के आधार पर कैयट का कथन है कि सामवेद के एक लक्षण ग्रन्थ का नाम उक्थ था। ऋग्वेद की उन ऋचाओ का चुनाव जिनका पाठ होता, द्वारा किसी विशेष अवसर पर होना था, शास्त्र कहलाता है। ऐसे ही उद्‌गाता द्वारा गेय सामो के सग्रह को उक्थ कहते थे। उक्थो का निश्चय सामवेदीय चरणो की परिषदो का कर्तव्य था। उसके लिए जिस ग्रन्थ का निर्माण हुआ वह उक्थ हुआ उसे पढने पढाने वाले लोग औक्थिक कहे गए।

ज्योतिष-

शतपथ काल मे ज्योतिष सम्बन्धी फलादेश का उल्लेख आया है। उस समय के कुछ विशेष शब्द उत्पात्, सवत्सर, मुहूर्त तथा निमित्त आदि है। इनमे से प्रत्येक अध्ययन का विषय था और उसके अध्येता औत्पातिक, सावत्सरिक, मौहूर्तिक और नैमित्तिक कहे जाते थे।

शरीर के लक्षणों से किसी व्यक्ति का भाग्य कथन और निमित्त या शकुनों से भविष्य कथन ये उस काल के सामान्य विश्वास थे। जिनका बौद्ध साहित्य मे प्राय उल्लेख आया है। कौटिल्य ने मौहूर्तिक और नैमित्तिक लोगों का उल्लेख किया है। यवन राजदूत "मेगस्थ" ने लिखा है-

"विशेषज्ञ लोग वर्ष के आरम्भ में एकत्र होकर दुर्भिक्ष और सुभिक्ष, वृष्टि और सूखा एव हवाओ के विषय में भविष्य कथन करते हैं।"

दर्शन साहित्य-

शतपथ काल में ही दार्शनिक चिन्तन पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। किसी सिद्धान्त या मत को मति या सृष्टि कहा जाता था। उस समय आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक (नियतवादी) दशैनों का उल्लेख है। नियतिवादी के मुख्य आचार्य मस्करी गोशाल थे। लोकायत दर्शन नास्तिक दर्शन था। किन्तु न्याय दर्शन से उसका तात्पर्य नहीं है। वह तो समयाचार या पूर्वकाल से प्राप्त नियम, धर्म या दस्तूर के अर्थ में आया है। पर न्याय शास्त्र का जो विषय है उसकी शब्दावली का कुछ आभास कई सूत्रो मे है। निग्रह और अनुयोग न्याय के पारिभाषिक शब्द थे। चरक सहिता मे निग्रह स्थान और अनुयोग की व्याख्या इस प्रकार है।

"यत् तद्विद्याना तद्विद्यैरेव सार्धे तन्त्रे तन्त्रेकदेशे वा प्रश्न प्रश्नैकदेशो वा ज्ञान विज्ञान वचन प्रतिवचन परीक्षार्थ मदिश्यते। यथा नित्य पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत्पर को हेतुरित्याह सोऽनुयोग ।"

किसी प्रति पक्षी के मत का खण्डन करके पहले उसका मुह वन्द किया जाय, और फिर उसे चिढाया जाय इस प्रकार का वाक्य इसकी पृष्ठभूमि है- जैसे, अनित्य, शब्द इत्याथ, शब्द अनित्य है, यही तुम कहने चले हो? वाद-विवाद मे निगृह्य शब्द का प्रयोग महाभारत मे भी आया है। मीमासा शब्द का भी गणपाठ मे उल्लेख आया है। इस विषय का भी अध्ययन होने लगा था। उसके छात्र मीमासक कहलाते थे।

वास्तु विद्या-

उस काल मे वास्तु विद्या, क्षत्र विद्याा और अग विद्या का भी उल्लेख आया है। ब्रह्मजाल सुन्त मे भी ये वत्थुविज्जा, खन्तविज्जा और अग विज्जा एक साथ पढी है।

भिक्षु सूत्र-

इसके विषय मे अधिक ज्ञात नहीं है, किन्तु पाराशर्यकृत भिक्षु सूत्र वर्तमान वेदान्त सूत्र ज्ञात होते है, जो कि उपनिषदों पर आश्रित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि भिक्षु सूत्रों मे साख्य सूत्रों का पूर्व रूप था। उसकी रचना भिक्षु पञ्चशिख की थी। महाभारत के अनुसार वह पाराशर्य गोत्रीय था-

"पाराशर्यसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मन ।
भिक्षो पञ्चशिखस्याह शिष्य परमसमत ।।"
{महा शान्ति पर्व 308/24}

पञ्चशिख के इस सूत्र ग्रन्थ का झुकाव वेदान्त की ओर अधिक था। कुछ भी हो मूल भिक्षु सूत्रों की रचना वैदिक चरण के अर्न्तगत हुई, व्यक्ति विशेष का उसके साथ सबन्ध आनुषगिक था। मूलत ऋग्वेद की वाष्कल शाखा के अर्न्तगत पाराशार्य चरण स्थिति थी। इसी चरण के कल्प सूत्र का अध्ययन करने वाले पाराशर कल्पिक या पराशरा और भिक्षु सूत्रो के अनुयायी पाराशरिण कहलाते थे।

आख्यान और काव्य-

शतपथ काल में आख्यानो का भी विशाल साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। आख्यानों के उदाहरण मे पतञ्जलि और काशिका ने भार्गव राम और ययाति के प्राचीन

आख्यानो वाले ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इसमे प्रत्येक दो भागो मे बटा हुआ था। उनकी सज्ञा पूर्वाधिराम और अपराधिराम एव पूर्वययात और अपरयायात थीं। महाभारत के ययाति उपाख्यान की पुष्पिका मे ये दोनों नाम आये हे। उस समय शिशुक्रन्दीय, यमसभीय ओश्र इन्द्र जननीय का उल्लेख किया है। शिशुक्रन्दीय सम्भवत कृष्ण जन्म का कथा पर आश्रित था। जिसमे जन्म के समय शिशु कृष्ण के रोने से कथा का पट परिवर्तन होना है। दूसरे यमसभीय काव्य मे यम की सभा से सम्वन्धित किसी कथा का आधार था। सभव है नचिकेता के यम के पास जाने की कथा पर आश्रित हो। इन्द्र जननीय ग्रन्थ मे इन्द्र के जन्म और वृत्रासुर के वध की वस्तु कथा होनी चाहिए, जो कि अत्यन्त प्राचीन उपाख्यान था।

महाभारत-

उस काल मे भारत और महाभारत इन दोनो का उल्लेख आया है। **अश्वलायन गृह्य सूत्र में भी भारत और महाभारत का एक साथ उल्लेख है।**

"अथ ऋषय शतर्चिनों माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भारद्वाजो वशिष्ठ प्रगाथा पावमान्य क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति। प्राचीनावीती-सुमन्तु-जेमिनि वैशम्पायन-पैलसूत्र-भाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्या ।"

{आश्वलायन ग्रह्य 3/4}

भारत चतुर्विंशति साहस्री सहिता का नाम था। उसमें धर्मनीति दर्शन आदि के अनेक उपाख्यान जोडकर जो उपबृहण किया गया, उससे शतसाहस्री सहिता महाभारत का स्वरुप बना। यह बृहत्त् सस्कार भार्गवों के किया। इस नये सस्करण को इतनी सफलता प्राप्त हुई कि मूल ग्रन्थ जिसका नाम भारत था भूल में पड गया और आगे चलकर बिल्कुल लुप्त हो गया। आश्वालयन ग्रह्य सूत्र के समय तक मूल भारत काव्य महाभारत से अलग भी विद्यमान था।

चतुर्थ परिच्छेद

व्याकरण

प्राचीन काल मे व्याकरण शास्त्र का बहुत विस्तार था, अब केवल अष्टाध्यायी उसका एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ बच गया है। जिससे व्याकरण के इतिहास के सम्बन्ध मे कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। व्याकरण को शब्द विद्या और वेयाकरण को शब्दकार या शाब्दिक भी कहते थे।

"शब्द करोति शाब्दिक ।"

पूर्व वैय्याकरण-

शाकटायन और पतञ्जलि के बीच में शब्द विद्या और व्याकरण-शास्त्र का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ था। अनेक प्रमाण भूत आचार्यों ने अपने प्रातिभ ज्ञान से शब्द के विषय मे गहन और विस्तृत ऊहापोह करते हुए ग्रन्थों की रचना की प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी में लगभग 65 आचार्यों के नाम आये हैं, जो इस प्रकार हैं-

आग्निवेश्य- (तै0), आग्निवेश्यायन- (तै0), आग्रायण- (नि0), आत्रेय- (तै0), आन्तरेय- (ऋ0च0), आपिशलि- (पा0), आह्वरका (तै0) उख्य- (तै0), उत्तमोत्तरीय - (तै0), उदीच्या - (पा0), औदुम्बरायण (नि0), औदव्रजि- (ऋक् तन्त्र साम प्राति शाख्य), औपमन्यव- (नि0), औपशिवि (य0), और्णनाभ- (नि0), काण्डमायन (तै0), काण्व (य0), कात्थक्य (नि0), काश्यप- (य0पा0), कौण्डिन्य (तै0), कौत्स (नि0), कौहली पुत्र (तै0), कौष्टुकि (नि0), गार्ग्य (ऋ0य0नि0पा0), गालब (नि0,पा0), गौतम (तै0), चर्मशिरस् (नि0), चाक्रवर्मण (पा0), जातुकर्ण्य (य0), तैटीक (नि0), तैत्तिरीयका (तै0), दाल्भ्य (य0), नैगि (ऋक्तन्त्र), पचाला (ऋ0), पौष्करसादि (पा0,तै0), प्राच्या (ऋ0,पा0), प्लाक्षि (तै0), प्लाक्षायण (तै0), बाभ्रव्य (क्रमकृत,ऋ0), भारद्वाज (नै0पा0), माण्डूकेय (ऋ0), माशकीय (तै0), मीमासका (तै0), यास्क (ऋ0), वाडभीकार (तै0), वात्स (तै0), वात्स्य (च0), वार्ष्यायणि (नि0), बाल्मीकि (तै0), वेदमित्र (ऋ0), व्याडि (ऋ0), शतबलाक्षमौद्गल्य (नि0), शाकटायन (ऋ0,य0,च0,नि0,पा0), शाकपूणि (नि0), शाकला (ऋ0), शाकल्य (ऋ0,य0,पा0), शाकल्यपितृ (स्थविर)-(ऋ0), शाखायन (तै0), शैत्यायन (तै0), शौनक(ऋ0य0पा0), साकृत्य (तै0), सेनक (पा0), स्थौलष्ठीवि (नि0), स्फोटायन (पा0), हारीत (तै0)।

{मैक्समूलर कृत सस्कृत साहित्य का इतिहास}

यास्क के समय में निरुक्त के अध्ययन से भी अधिक व्याकरण का महत्व हो गया था, उन्होने निरुक्त को व्याकरण का पूरक कहा है। कालान्तर मे व्याकरण की यह पदवी और अधिक उच्च हुई। एक प्रकार से वैयाकरण लोक पर छा गये और लोक जीवन के विविध अगो का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करके उन्होने अपने शास्त्र मे शब्दो का सग्रह किया और व्याकरण की रचना की।

"शब्दास्सुबहव सकलिता तानादाय पाणिना स्मृतिरुपनिबद्धा।"
{काशिका- 4/1/114}

पतञ्जलि ने व्याकरण को सब वेदागो मे मुख्य कहा है। उसकी इस स्थिति मे आज तक कोई अन्तर नहीं आया है। विद्याओं के आपेक्षित मूल्याकन में व्याकरण को वेद चक्षु कहा गया। यह सत्य ही है, क्योंकि प्रकृति और प्रत्यय के विश्लेषण द्वारा शब्द के मूल अर्थ तक पहुँचने की जैसी युक्ति व्याकरण से प्राप्त होती है, अन्य वेदागो से नहीं।

पाणिनि से पूर्व जो अनेक आचार्य थे उनमें से अधोलिखित पूर्वाचार्यो का अष्टाध्यायी में नामत वर्णन है, जो इस प्रकार है-

(1) शाकटायन-

यास्क के अनुसार शाकटायन का मत था कि सब नाम या सज्ञाएँ धातुओ से बनती हैं। पर काशिका में एक उदाहरण सुरक्षित रह गया है-

"अनुशाकटायन वैयाकरणा।" अर्थात् सब वैयाकरण शाकटायन से घट कर है। यह उस पूर्व युग का उदाहरण है जब शाकटायन का यश सूर्य के समान तप रहा था और पाणिनि की उदयोन्मुखी ख्याति क्षितिज पर थी।

(2) शाकल्य-

शाकल्य ने ऋग्वेद का पदपाठ स्थिर किया। पदपाठ में जो इति का प्रयोग है, उसे पाणिनि ने शाकल्यकृत अनार्ष इति कहा है। उसे ही सूत्र में उपस्थित कहा गया है। तथा जो पदकार का उल्लेख है, जो सम्भवत शाकल्य ही है।

(3) आपिशालि-

यह भी शतपथ काल के विशिष्ट वैयाकरण थे। पतञ्जलि ने आपिशलि-पाणिनीय-ब्याडीय-गौतमीया इस प्रकार पौवीपर्य क्रम से इन चारो के शिष्यो का

उल्लेख किया है। काशिका मे उल्लेख है कि आपशलि के व्याकरण मे गुरु और लघु सबन्धी नियमो का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया था।

"आपिशल्युपज्ञ गुरुलाघवम्।"

सम्भव है पाणिनि के ह्रस्व दीर्घ प्रकरण मे आपिशलि की सामग्री का उपयोग किया गया हो।

(4) गार्ग्य-

यास्क ने धातुओ से नाम की उत्पत्ति के विषय मे गार्ग्य के मत का उल्लेख किया है। ऋक् और यजु प्रातिशाख्य मे भी गार्ग्य का नाम आया है।

(5) मालव-

"निरुक्त और ऐतरेय आरण्यक मे गालव का मत उद्घृत किया गया हे। शैशिरि शाखा मे गालब को शौनक का और शाकटायन को शौशिर का शिल्प कहा है। गालब का चरण देवमित्र शाकल्य के चरण का अवान्तर विभाग था।"

{भगवदत्त, वैदिक वाङ्मय-183}

शान्ति पर्व में उल्लेख है कि बाभ्रव्य पाञ्चाल नाम के आचार्य ने पहले क्रम पाठ निश्चित किया था। फिर मालव ने एक शिक्षा की रचना की और उसी क्रम पाठ को सुव्यवस्थित किया।

"पाञ्चालेन क्रम प्राप्त स्तस्माद् भूतात् सनातनात्।
बाभ्रव्य गोत्र स बभौ प्रथम क्रमपारग।
नारायणाद् बर लब्ध्वा प्राप्य योग मनुत्तमम्।
क्रम प्रणीय शिक्षा च प्रणयित्वा स गालव।।"

{शान्ति पर्व- 330/37-38}

(6) भारद्वाज-

भारद्वाज ऐन्द्र व्याकरण की परम्परा में थे। भारद्वाजीय आचार्यों ने अपने पृथक वार्तिक बनाए थे जिनका पतञ्जलि ने कई बार उद्धरण दिया है। ऋक् और तैत्तिरीय प्रातिशाख्यों मे भारद्वाज का प्रमाण आया है।

(7) काश्यप-

यजु और तेत्तिरीय प्रतिशाख्य मे काश्यप का उल्लेख आया है। महाभारत के शान्ति पर्व से ध्वनित होता है कि काश्यप का कोई निरुक्त ग्रन्थ नही था।

इसके अतिरिक्त 'सेनक', स्फोटायन तथ चाक्रवर्मण आदि इन आचार्यो के नाम अष्टाध्यायी अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलते।

पूर्वाचार्य सूत्र-

पूर्ववर्ती जिन व्याकरणो की सामग्री पाणिनि ने अपने शास्त्र मे परिग्रहीत की है उसमे एक भी अब नहीं बचा है, सब विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो गयें। केवल दो चार सूत्र ही छिट-पुट मिले हैं। किन्तु अपने वार्तिक में कात्यायन ने पूर्व सूत्र का उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने स्वीकार किया है कि अनुपसर्जनात् यह पाणिनि सूत्र किसी पूर्व व्याकरण से लिया गया था। अन्यत्र पतञ्जलि ने एक कारिका उद्घृत की है, जिसमें कहा गया है कि पूर्व सूत्र में वर्ण को अक्षर कहते थे।

"पूर्व सूत्रे वर्णस्य अक्षरमिति सज्ञा क्रियते।"

कैयट ने सूत्र एक पाठान्तर दिया है, जो आपिशलि के व्याकरण में था-

"मन्त्र कर्मण्यनादर उपमाने विभाषा प्राणिष्विति आपशलिरधीते स्म।"

कैयट ने यह प्रमाण किसी प्राचीन टीका से लिया होगा, क्योंकि उनके समय तक 1100 ई0 के लगभग आपिशलि के व्याकरण का अस्तित्व सभव नहीं जान पडता। फिर भी आपिशलि और पाणिनि दोनों में इस सूत्र का जो पाठ है-

"मन्य कर्मण्य नादरे विभाषा पाणिषु"

उसकी तुलना करने से यह महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट होता है कि पाणिनि ने किस प्रकार सर्वांश में स्वल्प परिवर्तन के साथ पूर्वाचार्यों की सामग्री को अपने व्याकरण में स्थान दिया था।

पतञ्जलि ने एक सूत्र के वार्तिक पर लिखा है-

"अस्ति सकारमातिष्ठते" न्यास में इसे आचार्य आपिशलि के सूत्र की विशेषता कहा है। उनके व्याकरण के अस् धातु का रूप केवल स् (सकार) मात्र था।

पतञ्जलि ने एक वार्तिक मे आपिशलि विधि की व्याख्या करते हुए आपिशलि का एक सूत्र उद्घृत किया है-

"धनुरनञि कमुत्पादयति।"

न्यासकार ने लिखा है कि धनोरञ यह आपिशलि का सूत्र था। कात्यायन ने आपिशलि के व्याकरण का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो का नाम लिया है। पतञ्जलि ने अपिशलि के ग्रन्थो का अध्ययन करने वाले ब्राह्मणी छात्रा को आपिशाला ब्राह्मणी कहा है।

पञ्च व्याकरण-

एक वार्तिक के उदाकरण में काशिका ने पञ्च व्याकरण प्रयोग दिया है, जो पॉच व्याकरणों का माध्यम करने वाले छात्रो की सज्ञा थी। ये पॉच व्याकरण कौन थे? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अष्ट शाब्दिको की जो श्लोकबद्ध सूची मिलती है वह इस प्रकार है।

"इन्दश्चन्द्र काशकृत्सनापिशली शाकटायन ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिका।।"

उसमें से चन्द्र अमर और जैनेन्द्र के नाम निकाल दिये जॉय, जो शेष बचते हैं वे ही प्राचीनों के पञ्च व्याकरण थे अर्थात् शाकटायन आपिशलि, भारद्वाज पाणिनि और काशकृत्सन के व्याकरण।

पूर्वाचार्य की सज्ञाऍ-

अष्टाध्यायी में पाणिनि ने टि, घु, भ आदि कितनी ही नई सज्ञाऍ बनाई है, किन्तु अनेक महासज्ञाऍ उनके पहले से चली आती थी, जिन्हें सूत्रकार ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है, जैसे- समास, अव्यय कर्मप्रवचनीय आदि। किन्तु यहॉ इस प्रकार की सज्ञाओं की चर्चा न करके हम उन सज्ञाओं का नामोल्लेख करना चाहते हैं, जो पाणिनि से पूर्वकाल के ऐन्द्र आदि व्याकरणों में प्रचलित थी। जिस समय पाणिनीय शास्त्र का निर्माण हो गया, उस समय भी उन सज्ञाओं का प्रचलन बन्द नहीं हुआ। आश्चर्य तो यह है कि पाणिनीय शास्त्र की परम्परा में ही पूर्वाचार्य सज्ञाओं का उपयोग होता रहा।

व्याकरण शास्त्र का पाठ्यक्रम-

पाणिनीय व्याकरण से इस बात पर भी प्रकाश पडता है कि आरम्भ में व्याकरण शास्त्र के मुख्य प्रकरण क्या थे, और पठन-पाठन की क्या प्रणाली थी।

कात्यायन ने प्रश्न किया है कि व्याकरण किसे कहा जाय और उत्तर दिया है कि-

"लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्"

अर्थात् लक्ष्य और लक्षण इन दोनो को मिलाने से व्याकरण बनता है। लक्षण क्या और लक्ष्य क्या? भाष्य मे आया है कि शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है। व्याकरण पढने से पुराने ढग के बारे मे पतञ्जलि ने लिखा है कि प्रत्येक शब्द को अलग-अलग घोटते थे।

"प्रतिपदोक्ताना शब्दाना शब्द पारायण प्रोवाच।"

पीछे जब यह सूझ हुई कि अनेक शब्दो के रूपों में सदृश्य है और उनके निर्माण में कुछ नियमों का अनुशासन है तो उत्सर्ग और अपवाद रूपी नियम बनाए गये और नियमों का लक्षण कहा गया। सूत्र शैली में होने के कारण लक्षणों को सूत्र कहा गया, तब से ही सूत्र व्याकरण कहलाने लगा। सूत्रों का सबसे मजा हुआ रूप पाणिनीय अष्टक में प्राप्त होता है। ऐसे लोग जो एक-एक बार साधु शब्द या प्रातिपदिक को अलग-अलग कण्ठ करते थे, इन्हे स्वय पाणिनि ने प्रतिकठिक कहा है। जिस समय पाणिनि ने प्राति कठिक कहा है। जिस समय व्याकरण के सूत्र बन गये उस समय भी कुछ अवधि तक लक्ष्य (लोक प्रयोग) द्वारा और लक्षण (सूत्र) द्वारा व्याकरण के ज्ञान कराने की प्रक्रिया अलग-अलग चलती रही होगी। कम से कम पतञ्जलि के समय तक इनकी परम्परा मानी जा सकती है। लक्ष्य या प्रातिपदिक शब्दों का अध्ययन करने वाले छात्रों को लाक्षणिक और उनके सूत्रगत नियमों का अध्याय करने वाले छात्रों को लाक्षिक और उनके सूत्रगत नियमो का अध्ययन करने वाले छात्रों को लाक्षणिक कहा गया है।

"अनु सूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेद्विगोश्च ल ।"

पहली परम्परा लक्ष्य या प्रातिपादिकों द्वारा ही व्याकरण पढने की प्रथा थी। बाद में नियम या सूत्रों का निर्माण हुआ और उसका नाम व्याकरण हो गया।

"सूत्रे व्याकरणे- किमिह तत् अन्यत् सूत्राद् व्याकरण यस्याद सूत्र स्यात्।"

कालान्तर में प्रतिपदोक्त शब्दों द्वारा व्याकरण के अध्ययन की पद्धति लुप्त हो गयी। सूत्रों का अध्ययन की व्याकरण ज्ञान का एक मात्र साधन माने जाने लगा। व्याकरण के कितने विषय या प्रकरण उस समय आचार्यों के सम्मुख थे, इसका कुछ परिचय सूत्रो मे और उदाहरणों में आए हुए विशिष्ट प्रयोगों से प्राप्त होता है।

पाणिनि ने शब्दों को दो भागों में बॉटा है- नाम (सज्ञाए) और आख्यात (क्रियाएँ)। नामो का निरूपण करने वाला प्रकरण नामिक और आख्यात का आख्यातिक कहलाता था। काशिका ने इन्हीं व्याख्यानपरक ग्रन्थों को सौप और तैड़् कहा हे, माथ की कार्त नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया गया है। इस समय जिन्हे सुवन्त, तिड़त और कृदन्त कहते है। उन्ही को प्रातिपादिक ये प्रचीन प्रकरण थे।

"सुपा व्याख्यान सौपो ग्रन्थ , तैड़् , कार्त ।"

प्रक्रिया कौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी मे सुबन्त और तिड़न्त का जो विभाग है, उसकी परम्परा इन शब्दो मे सूचित होती है। पूर्वपद और उत्तरपद, विषयो पर लिखे हुए ग्रन्थ या लेखको के लिए ये शब्द थे। अष्टाध्यायी मे उत्तरपद और पूर्वपद के कार्यो का प्रकरण अलग है। प्रतिकण्ठिक अर्थात् प्रतिकाण्ठ या प्रातिपदिक शब्दो का प्रतिपद पाठ पाणिनीय गणो मे है। सभव है इस प्रकार के सग्रह की पहले भी कोई परम्परा रही हे। शब्दो के अर्थ विचार के प्रतिपादक ग्रन्थ को आर्थिक कहा जाता था। गुण और अगुण का तात्पर्य गुण बृद्धि से है। गुण बृद्धि का अध्ययन करने वाले गौणा गुणिक कहलाते थे। गुण और बृद्धि इन दोनो प्रकरणो को एक साथ अथवा अलग-अलग भी पढते थे। पतञ्जलि ने समास को समन्त और उसके व्याख्यान को सामस्तिक एव उदान्त (अनत) और अनुदात्त (नत) स्वरो का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थ नातानतिक कहा है।

सहिता या सन्धि के प्रकरण को साहित कहते थे। षत्व और णत्व का प्रकरण भी व्याकरण मे और उससे पहले प्रातिशाख्यो मे महत्वपूर्ण था। मूर्धन्य विधान से सबन्धित इस प्रकरण का प्रतिपादक ग्रन्थ षात्वणत्विक कहा जाता था। सामवेद के ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य मे भी मूर्धन्यादेश पर अलग प्रकरण है, किन्तु वह पाणिनि के जैसा प्रतिष्णात नहीं है। कुछ उदाहरण ऐसे है जो उन प्रकरणों के अस्तित्व पर प्रकाश डालते हैं, जिसका साक्षात् रूप से अष्टाध्यायी मे विधान नहीं पाया जाता। शब्द और अर्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसका विचार करने वाला प्रकरण। ज्ञात होता है कि व्याडि के सग्रह में शब्दार्थ सम्बन्ध का विस्तृत विचार था और उसी पृष्ठि भूमि मे कात्यायन का सिद्धे शब्दार्थ सबन्धे वार्तिक लिखा गया। इस प्रकार के ग्रन्थ भी उस समय रहे होंगें अथवा कुछ वैयाकरण इा विषय की उहापोह में रूचि लेते रहे होगें। पर पाणिनि का दृष्टिकोण स्पष्ट था।

वे इस पचडे में नहीं पडते कि पिता और पुत्र, आचार्य और अन्तेवासी, राजा और मन्त्री मे कौन मुख्य और कौन गौण है। वैयाकरण को इस विषय में लोक का प्रमाण मानना चाहिए। सम्भवत ये दोनों शब्द प्रधान और उपसर्जन के लिए थे एव इस विषय का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ प्राथमिक और गौणिक कहलाते थे। आपिशलि के व्याकरण मे गुरु लाघव यह स्वतन्त्र विषय था, जिसका प्रथम बार विस्तृत विवेचन आपिशलि ने ही किया था।

"आपिशलि का ग्रन्थ तो लुप्त हो गया है, पर अनुमान होता हे, कि उसकी सामग्री पाणिनि के ह्रस्व दीर्ध प्रकरण मे सुरक्षित है।"

{कीथ सस्कृत साहित्य का इतिहास}

यह कहना कठिन है कि यहाँ भर्तृहरिकृत विशिष्ट ग्रन्थ इष्ट था, अथवा उससे पहले भी इस विषय का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ था।

लोक मे प्रचलित भाषा का प्रमाण मानने के विषय मे पाणिनि ने अपना दृष्टिकोण सूत्र काण्ड में व्यक्त किया है। पाणिनि से पहले के वैयाकरण विवादास्पद विषयो पर अपनी समति देते थे, जैसा कि कात्यायन और पतजलि द्वारा उद्घृत कई प्रसगो से विदित होता है। फिर भी इस विशेष प्रकरण मे उन्होने पूर्व पक्ष रखकर फिर सिद्धान्त पक्ष मे अपना मत देने का क्रम अपनाया है। वे सज्ञा या लोक मे प्रचलित सामाजिक व्यवहार और भाषा के रूपों का सर्मथन करते है, और व्याकरण के लिए उसे ही प्रमाण मानते है। उनकी दृष्टि मे योग प्रमाण अर्थात् व्युत्पत्ति पर आश्रित शब्द के अर्थ से लोक प्रमाण या सज्ञा प्रमाण हमेशा श्रेष्ठ है। क्या व्याकरण ऐसे प्रश्नो पर अपना निर्णय दे जैसे- अद्यतन, ह्यस्तन, श्वस्तन अर्थात् आज का दिन बीता हुआ दिन और आने वाला दिन कब से कव तक माने जायें। कितना पहले बीता हुआ काल परोक्ष भूत लिया जाय, द्रोण की कितनी तोल है? योजन का कितना आयाम है? कौन प्रधान कौन गौण है? ऐसे भी लोग थे, जिन्हे इस बात का आग्रह था कि जब तक अद्य का निर्णय न हो जाय तब तक सूत्र चरितार्थ न होगा।

व्याकरण में इन सब सामाजिक व्यवहारों के निर्णय की आवश्कता नहीं क्योंकि वैयाकरण की दृष्टि में लोक की परिभाषाएँ या सज्ञाएँ अन्तिम रूप से प्रमाण मानी जाती है। उदाहरण के लिए आरम्भ में यह बात ठीक न थी कि जिस भूप्रदेश मे पचाल क्षत्रिय आकर बसे वह पचाल जन के नाम से पचाज जनपद कहलाया। किन्तु इस घटना घटित हुए बहुत समय बीत चुका था। कालान्तर में तो पचाल जनपद में और भी बहुत से लोग आ बसे थे। लोगो को पचाला शब्द से पचाल जनपद का बोध स्वत ही हो जाता था, उसे बोध का हेतु यह नहीं था कि वहाँ पचाल क्षत्रियों का निवास था। वैय्याकरण को वस्तु स्थिति का सामना करना चाहिए उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि पचाला शब्द का निर्वचन पचाल क्षत्रियो का निवास भूमि इस व्युत्पत्ति के आधार पर करे। ऐसे की भाषा में और भी सैकडो स्थान नाम थे, जिनके मूलभूत ऐतिहासिक कारणो का अब कुछ महत्व न रह गया था। इस दृष्टिकोण से प्रवृत्त हुआ वैय्याकरण लोक में प्रचलित शब्द रूपो के आधार पर अपनी सामग्री का सकलन और शास्त्र की रचना करते है।

सज्ञा प्रमाण-

सज्ञा प्रमाण या लोक के प्रति पाणिनि की जो प्रबृद्ध आस्था थी, उसका सुन्दर सुफल हुआ। उनका दृष्टिकोण ठीक वैसा की बन गया जैसा महाभारत मे लिखा है-

"सर्वार्थाना व्याकरणाद वैयाकरण उच्चते।
प्रत्यक्षदर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नर ।।"
{उद्योग पर्व- 43/36}

जीवन के सर्वक्षेत्रो मे जिन शब्दो का व्यवहार होता हे, उनके अर्थो का विचार वैयाकरण को करना चाहिए। जो इस प्रकार लोक का प्रत्यक्ष दर्शन करना हे, वही समग्र शब्दो का सकलन कर सकता है। पूर्व के वैयाकरण स्वर, मूर्धन्य, सप्रसारण, सन्धि समास, नाम, आख्यात आदि के विषय मे नियमो का विधान करते थे। पाणिनि ने वह सब तो किया ही, किन्तु उससे बहुत आगे बढकर कृदन्त और तद्धित के दो महाप्रकरण तैयार किये। शब्दो मे नए-नए प्रत्यय जोडकर किस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध कराया जाता है, इस विषय की बारीक छान-बीन (महती सूक्ष्मेक्षिका) सूत्रकार ने की। प्रत्यय की शक्ति से शब्द जिस नए अर्थ का बोध कराता है, उस शक्ति को वृत्ति कहते है। "परार्थाभिधाना वृन्ति ।" इस प्रकार के अर्थों का क्षेत्र उतना की विस्तृत है, जितना जीवन के विभिन्न व्यवहार। एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। यास्क ने लिखा है कि वृत्तियो का ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। उनके विषय मे सन्देह बना रहता है कि ठीक अर्थ क्या है-

"विषय वृत्यो कि वृत्तयो भवन्ति।"
{निरुक्त- 2/1}

जैसे दण्ड्य के शब्द के विषय में यह कहना कठिन है कि दण्डेन सपद्यते अथवा दण्डमर्हति किस अर्थ मे दण्ड शब्द ये यत् प्रत्यय हुआ है। यास्क ने इस कठिनाई को ध्यान मे रखते हुए कहा कि तद्धित और समास के शब्दों को खूब ध्यानपूर्वक तोडकर अर्थो की कोटियों पर विचार करते तब उनका निर्वचन करना चाहिए-

"अथ तद्धित समासेष्वेकपर्वसु चानेक पर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपर प्रविभज्य निर्ब्रूयात।"
{निरुक्त}

लोक में जितने प्रकार की वृत्तिया थी, उनकी सबकी सूची बनाकर उनके भिन्न-भिन्न अर्थो का और शब्दो में जुडने वाले प्रत्ययो का निश्चय किया। द्रव्य हरति, द्रव्य वहति, द्रव्य आवहति, इन प्रथक अर्थों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यक शब्द का निर्वचन तब तक यथार्थ नहीं हो सकता था जब तक कि तीनों अर्थों पर ध्यान न दिया जाता क्योंकि लोक मे तीनो ही अर्थो में शब्दों का प्रयोग चालू था, उन सबका सग्रह विश्लेषण वर्गीकरण सूत्रकार ने किया। इसी को महाभारत के शब्दों में "सर्वार्थाना व्याकरणम्" और निरुक्त में अनेक पर्वसु प्रविभज्य निर्वचन कहा है। अक सघ, लक्षण, धर्म आदि कई सौ अर्थों का वर्गीकरण तद्धित के महाप्रकरण मे प्राप्त होता है। गुरु-शिष्य, राजा, मन्त्री, वाणिज, गोपाल, कृषक

भिक्षु, लेखक, नाविक, सूद, लुब्धक आदि के जीवन के अनेक क्षेत्रो से आचार्य ने शब्दो का सकलन किया है, और व्याकरण की दृष्टि से उन्हे अपने सूक्ष्म ईक्षण का विषय बनाया। लोक से शब्द सामग्री का सग्रह पाणिनि शास्त्र की निजी विशेषता थी। इसी कारण पाणिनीय महत् सुविहितम् यह श्रेयसी उक्ति इसके लिए चरितार्थ हुई। पाणिनि ने अष्टाध्यायी को जीवित भाषा का यथार्थ प्रतिविम्ब या दशामुखी दर्पण बनाया और व्याकरण शास्त्र को चरण परिषदो के सीमित क्षेत्र से मुक्त करके लोक की विस्तृत परम्परा के साथ मिला दिया। कात्यायन और पतञ्जलि ने भी अपने महान आचार्य की परम्परा को अक्षुण्य रखते हुए बराबर लोक-प्रमाण को महत्व दिया है।

सस्कृत भाषा-

कई बार यह प्रश्न किया जाता है कि व्याकरण के समय मे सस्कृत लोक की भाषा थी, या केवल साहित्य की भाषा ग्रियर्सन ने अशोक के धर्म लेखों की बोलचाल की भाषा पर ध्यान देते हुए तर्क किया था कि यदि पाणिनि ने अपना व्याकरण लोक भाषा के लिए लिखा होता तो उनके दो सौ वर्ष बाद भी अशोक के समय मे भाषा का इतना अधिक परिवर्तन कैसे हो गया। इसके विपक्ष में गोल्डस्टूकर, कीथ और लीविश का निश्चित मत है कि पाणिनी सस्कृत अपने समय की शिष्ट समाज की शिष्ट समाज में प्रयुक्त बोलचाल की भाषा थी। कीथ ने लिखा है कि-

"एक तो पाणिनि ने स्वय ही कई बार उसे भाषा कहा है जिसका सीधा सादा अर्थ नित्य व्यवहार मे आने वाली बोलचाल की भाषा की होता है। दूसरे यदि पाणिनि का भाषा को बोलचाल की भाषा न माना जाय तो उनके कितने ही सूत्र व्यर्थ हो जाते है क्योकि वे बोलचाल की भाषा को ध्यान मे रखकर ही बनाए गये थे।"

पाणिनि की भाषा का क्षेत्र छन्द और ब्राह्मण की भाषा से कहीं अधिक विस्तृत था। पतञ्जलि ने उसके विषय मे सच्ची स्थिति का उल्लेख किया है- सस्कृत उन शिष्ट लोगो के प्रयोग में आने वाली भाषा है, जो व्याकरण पढे बिना भी उसे शुद्ध रूप मे बोलते हैं। पतञ्जलि के इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके समय में साधारण लोगो की बोलचाल में कई तरह के अपभ्रश रूप थे। जैसे एक गौ शब्द को कई जनपदो में गावी, गोणी, गोपोतलिका कहा जाता था-

"एकै कस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रशा ।"

पतञ्जलि जिस भाषा में लिखित थे, उसे ही बोलते भी थे। पर उनकी गाएँ घेरने वाला ग्वाला अपनी बोली बोलता था। यद्यपि पतञ्जलि की भाषा भी वह समझता था। कात्यायन ने लोक की भाषा को व्याकरण समत भाषा कहा है, किन्तु इसके साथ ही एक वार्तिक मे आणवयति आदि प्राकृत धातुओ के अस्तित्व का उल्लेख किया है।

"प्रयोगे सर्व लोकस्य' वार्तिक की ध्वनि यह कि पाणिनीय भाषा के शब्दो का शुद्ध प्रयोग लोक के विभिन्न स्तरो मे व्याप्त था।

पाणिनि का मध्यम पथ-

पाणिनि ने व्याकरण सम्बन्धी विभिन्न मतो के सम्बन्ध मे सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया है। उदाहरण के लिए उनके समय मे धातुओ से सज्ञा शब्दो की व्युत्पत्ति के समय मे गहरा मतभेद था। नैरुक्त सम्प्रदाय और वैयाकरण मे शाकटायन का मत था कि सज्ञा शब्द धातुओ से बने है।

"तत्र नामाति आख्यातिजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च।" (1/4)

इसके विपरीत गार्ग्य जो कि सभवत नैरुक्त सप्रदाय के थे, और दूसरे वैयाकरणो का मत था कि खींचतान करके प्रत्येक शब्द को धातु से सिद्ध करना ठीक नहीं। यास्क स्वय नैरुक्त मत के थे। नाम धातुज हैं, यह उनका मत था, किन्तु शाकटायन के अनुयायी जिस प्रकार जबरदस्ती तोड मडोर कर प्रत्येक सज्ञा शब्द को धातु प्रत्यय से व्युत्पन्न कर देते थे, वह यास्क को पसन्द न था। उन्होने लिखा है कि यद्यपि धातुओ से सज्ञा शब्दों के निर्वचन सिद्धान्त ठीक है, पर जो बिना विचारे उसका प्रयोग करते हैं वह उनका दोष है, शास्त्र का दोष नहीं।

"योऽनन्वितेऽथे सम्चस्कार स तेन गर्ह्य सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा।"
{1/1/4 निरुक्त}

अर्थ प्रतीति-

शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति पर निर्भर है अथवा लोक के प्रयोग पर, इस विषय मे भिन्न-भिन्न मत थे। उदाहरणार्थ गौ को इसलिए गौ कहते है, क्योंकि वह गमन करती है। किन्तु जितनी वस्तुऍ गति करती है, सब को गौ नहीं कहा जाता।, अतएव व्युत्पत्ति ही अर्थ का कारण है- यह कहना कठिन है। लोक रूढि भी इसमे प्रमाण है, जैसा कि कात्यायन ने "दर्शन हेतु" वार्तिक में कहा है। यास्क ने भी इन दोनो पक्षों का उपन्यास किया है। जो कोई मार्ग तय करे, उसे ही अश्व कहना चाहिए, पर वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है-

"य कश्चनाध्वानमश्नुवीत, अश्व स वचनीय।"

लोक मे जो शब्द जिस प्रसिद्ध अर्थ मे लिया जाता है, उसी में उसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिये।

"यथाचापि प्रतीतार्थानि स्यु तथैनान्यचक्षीरन्।" {1/2}

पाणिनि ने दोनों ही पक्षो मे सत्य का अश माना है क्योकि लोक मे जो रूढ है, उनको भी वे प्रमाण मानते है, और जिन शब्दो मे धातु प्रत्यय के ज्ञान से अर्थ प्रतीति होती है, उन्हे भी प्रमाण मानते है। योग प्रमाण और सज्ञा प्रमाण दोनो ही पक्ष आचार्य को अपने-अपने स्थान पर इष्ट थे।

जाति और व्यक्ति-

गौ शब्द का अर्थ गौ व्यक्ति या एक गाय है, अथवा गोत्वजाति- यह प्राचीन आचार्यो मे विवाद का विषय था। जैसा कात्यायन ने लिखा है, आचार्य वाजप्यायन का मत था कि शब्द जाति का बोध कराता है। उसके प्रतिकूल आचार्य व्याडि का मत था कि शब्द द्रव्य या एक वस्तु का ग्रहण करता है। पतञ्जलि ने दोनो का समन्वय करते हुए लिखा है कि पाणिनि को दोनो मत ग्राह्य थे। इसके द्रव्य पक्ष में कहा गया है कि-

"कि पुनराकृति पदार्थ अहोस्विद् द्रव्यम्। कथ ज्ञायते। उभयथाह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृति पदार्थेमत्वा जात्याख्या मेकस्मिन या बहुबचनन्यतस्यामित्युच्यते द्रव्य पदार्थ मच्वा सरूपाणामित्येकशेष आरभ्यते।"

{पस्पशा0}

अनुकरण-

यास्क ने इस विषय मे दो मत दिये है। आचार्य औपमन्यव का मत था कि अनुकरण नहीं होता। अर्थात् अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से भाषा मे शब्द नहीं बनते। यास्क का अपना मत था कि काक आदि पथियों के नाम उनकी बोली के अनुकरण से ही भाषा मे बनते है। पाणिनि ने अव्यक्त ध्वनि मे अनुकरण का नियम स्वीकार किया है।

उपसर्ग-

यास्क ने लिखा है कि शकटायन उपसर्गों को अर्थ का द्योतक मानते थे और गार्ग्य वाचक पाणिनि ने दोनो मतों को आशिक रूप से लिया है। अधि और परिउपसर्ग को उन्होने कुछ प्रयोगो मे अनर्थक कहा है। जैसा कि पतञ्जलि ने लिखा है इसका यह तात्पर्य हुआ कि अन्य उपसर्ग अर्थ के वाचक होते हैं।

धातु का अर्थ और क्रिया का भाव-

धातु का अर्थ क्रिया है, या भाव इस विषय पर भी वैय्याकरणो मे मतभेद था, क्योकि इसका प्रभाव शब्द नित्यत्व के सिद्धान्त पर पडता है। पतञ्जलि का कहना है कि पाणिनि ने "भूवाद्योधातव " सूत्र मे दोनो अर्थो को मानता है।

शब्द नित्यत्व-

शब्द नित्यत्व का सिद्धान्त व्याकरण दर्शन की मूल भित्ति है। कात्यायन ने नैत्यशब्दिक और कार्य शब्दिक इन दो सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। ऋक् प्रतिशाख्य में यह विचार है, जिससे इस विवाद की प्राचीनता सिद्ध होती है। यास्क ने औदुम्बरायण के मत का उल्लेख किया है-

"इन्द्रियनित्य वचनमौदुम्बरायण ।"
{निरुक्त- 1/1/2}

आचार्य औदुम्बरायण का मत है कि शब्द का उच्चारण जितने देर मुख में रहता है, वही उसकी नित्यता है, उसके बाद वह विनष्ट हो जाता है। पतञ्जलि ने लिखा है कि पाणिनि और कात्यायन दोनों शब्द नित्यता पक्ष के मानने वाले थ। फिर भी लोप और आगमन आदि व्याकरण की प्रक्रिया में वे कोई बाधा नहीं देखते। पाणिनि ने "अर्दशन लोप " यह परिभाषा स्थिति की तद्नुसार पतञ्जलि ने लोप का अर्थ अन्तर्धान या अदृश्य हो जाना लिखा है। इसके विरुद्ध तैतरीय प्रातिशाख्य में लोप को विनाश कहा गया है-

"विनाशो लोप ।" जो शब्द की अनित्यता पक्ष का सूचक है। पाणिनि ने जिसे आदेश कहा है, उसे ही पहले विकार कहा जाता था।

ऊपर के उद्धरणो से यह ज्ञात होता है कि दो विवादास्पद मतो मे शतपथ समन्वय और सन्तुलन का मार्ग निर्धारित किया गया है। इस दृष्टिकोण की तुलना बुद्ध के मज्झिम पटिपदा वाले दृष्टिकोण से की है। यही उस काल की प्रमुख विशेषताएँ थी।

अध्याय - चतुर्थ

धार्मिक एवं दार्शनिक व्यवस्था

धार्मिक दशा

शतपथ ब्राह्मण मे जिन धार्मिक अवस्था का वर्णन है, उसका मुख्य आधार यज्ञ विधि और देवपूजा थी। यज्ञ ऋत्विज, दक्षिणा एव देवता और उनकी भक्ति से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री ब्राह्मण ग्रन्थों मे मिलती है।

प्रथम परिच्छेद

देवता

शतपथ ब्राह्मण मे निम्नलिखित वैदिक देवताओं का वर्णन मिलता है। जिसका उल्लेख इस प्रकार है-

अग्नि, इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, वृषाकपि, पूषा, अर्यमा, त्वष्टा, सूर्य, वायु, महेन्द्र, अपानतृप्त, सोम, नासत्य आदि। इस विषय मे प्राचीन काल में दो मत थे। आचार्य और्णवाभ का मत था -

"सत्यौ एव नासत्यावित्यौर्णवाभ ।"

दूसरा मत यह था कि नासा से उत्पन्न होने के कारण वे नासत्य कहलाए-

"नासिका प्रभवौ बभूवतु रितिवा।"
{निरुक्ति}

महाभारत मे यही दूसरा मत है। नासत्य और अश्विनी कुमार सूर्य की पत्नी सज्ञा की नासा से उत्पन्न हुए। प्रजापति देवता को क कहा गया है। पतञ्जलि ने लिखा है कि क सर्वनाम नहीं, किन्तु देवता की सज्ञा है।

"सज्ञा चैषा तत्र भवत ।"

अतएव चतुर्थी मे कस्मै न होकर काय रूप वनता हे। वाम्तोष्पति और गृहमेध देवताओ का उल्लेख है। वाम्तोष्पति तो ऋग्वेद कालीन देवता था किन्तु गृहमध गृह्यसूत्रो के समय से नया देवता माना जाने लगा।

गृहमध है देवता जिसका ऐसे पुरोडाश, हवि या कर्म को गृहमर्धाय-गृहमेध्य कहते थे। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार पूर्व दिशा का देवता इन्द्र और उत्तर पूर्व या ईशान कोण का महेन्द्र कहलाता था। अपाम्नप्त् अग्नि का नाम था, जिसे देवता मानकर विशेष हवि अर्पित की जाती थी।

कुछ देवता जुडवा या इन्द्र देवताओ के नाम भी है, जैसे- आग्नीसोम, आग्नीवरुण, द्यावापृथिवी, शुनासीर, सोमरुद्र, इन्द्रपूषा, शुक्रामन्थी ग्रहो के जोडे को भी देवता द्वन्द प्रकरण मे रखा गया है। वेद में साहचर्य प्रसिद्ध था और जिनकी लोक में भी एक साथ मान्यता थीं। विशुद्ध लौकिक देवताओं का ग्रहण वहॉं नहीं किया गया, किन्तु वैदिक देवताओ के ही नमूने पर लोक में भी नए-नए देवताओ के जोडे अस्तित्व मे आ रहे थे, जिनकी एक साथ पूजा की जाती थी, जैसे ब्रह्मप्रजापति, शिववैश्रवणौ, सकर्षणवासुदेवौ, इस प्रकार जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, उन्हें अभिव्यक्ति कहा गया है। द्वन्द शब्द से उनका भी ग्रहण होता था। गृह्यसूत्र युग में नए लोक विख्यात देवता माने जाने लगे थे। प्राचीन देवियो मे इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, वृषाकपायी, पृथिवी और उषस् का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि उषा देवता के निए भी सास्य देवता प्रकरण में पृथक हवि के द्वारा पूजा की प्रथा उस समय तक वच रही थीं।

उत्तर कालीन देवता-

पार्वती या अम्बिका के चार रूपों का उल्लेख है- भवानी, शर्वाणी, रूद्राणी, मृणानी विशेषत उस युग मे इनकी मान्यता थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र, शर्व और भव अग्नि के रूप है, जिनमें से सर्व प्राच्य देश में और भव वाहीक देश मे लोक प्रिय था।

"शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा बाहीका ।"
{शत0ब्रा0 1/7/3/8}

सभव है कि भवानी और शर्वाणी नाम भी इसी प्रकार देश भेद से प्रचलित हो, ऐसे रुद्राणी और मृणानी थी स्थानीय नाम हो सकते है।

वस्तुत उस काल की एक धार्मिक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि कालवाची शब्दो से अभिहित नए देवताओं की मान्यता और पूजा का आरम्भ हो गया था। उस समय कालवाची शब्दो को देवता माना गया है, जैसे वह सीली पाक हवि जिसका मास देवता हो मासिक कहलाती थी।

"मासो देवताऽस्य मासिकम् हवि ।"

ऐसे ही अर्धमास देवता की हवि आर्धमासिक सवत्सर सावत्सरिक बसन्त ऋतु की वासन्तिक और प्रावृष ऋतु की प्रावृषेण्य कही जाती थी। इस प्रकार मास, तु सवत्सर, सभी को देवताओ का नया पद प्राप्त हुआ ओर लोक मे उनकी पूजा वेग से चली। देवच्व प्रदान की यह नूतन पद्धति यहाँ तक बढी कि जितने नक्षत्र थे, वे भी देवता मान लिए गये। प्रौष्ठपद नक्षत्र को स्पष्ट देवता कहा गया है। प्रोष्ठपद देवता के उद्देश्य से समर्पित हवि प्रोष्ठपदिक कहलाती थी। नक्षत्रों के देवता मान लिए जाने का महत्वपूर्ण परिणाम मनुष्य नामो पर पडा, जिनका विवरण विस्तार से दिया गया है। इन नक्षत्रो के जो अधिष्ठाह देवता थे, उनकी कृपा से पुत्रजन्म या उनका कल्याण चाहने वाले माता-पिता अपनी सन्तान का नाम उन नक्षत्रो के नाम से रखते थे और उनके लिए समय-समय पर स्थालीपाक या हवि अर्पित करते थे। पुष्यदत्त, स्वातिदत्त, तिष्यरक्षित आदि नाम इसी प्रकार के है।

भक्ति-

छेवताओं के विषय में ऊपर लिखा हुआ दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है। वह प्रधान दृष्षिकोण था। वरुणदत्त, आर्यमदत्त जैसे नाम आए है, सूचित करते हैं कि वरुण और अर्यमा देवताओं को भक्ति से प्रसन्न करके माता-पिता उनकी कृपा से पुत्र लाभ मे विश्वास करते थे। शतपथ में इस प्रकार की लोक भावना मिलती है कि नामों के अन्त मे दत्त उत्तरपद देवता के आर्शीवाद का सूचक समझा जाता था। मनुष्य का नाम उस आर्शीवाद का जीता जागता प्रतीक होता था।

वैदिक काल मे भक्ति धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ। वैदिक यज्ञो में जो पुराने काल की आस्था थी, उसके साथ-साथ एक प्रतिद्वन्दी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेषा देवताओ की भक्ति या विस्वास था जिससे देवता को प्रसन्न करके उसका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति धर्म की स्वीकृति का आवश्यक फल कई प्रकार से देखने को आया। एक तो लोकधर्म में जो सैकडो प्रकार के छोटे मोटे देवता थे उन सब की पद प्रतिष्ठा बढी और उनके लिये त्रैवणिक समाज मे द्वार उन्मुक्त हो गया। फलत यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हें पूजने की जो परम्परा लो में चली आती थी, उसे सार्वजनिक रूप से मान्यता मिल गई। उच्च वर्णो के घरों में भी इन देवताओं का निर्वाध प्रवेश हो गया। वैदिक धर्म के देवता और उन्हें प्रसन्न करने की जो यज्ञ पद्धति थी, नया भक्ति धर्म कन्धे से कन्धा मिलाकर सामने आया और सचमुच उसने समाज मे सर्वत्र अपनी

धाक जमा ली। इस प्रकार वैदिक देवता और यज्ञ पिछड गए। वैदिक युग के कुछ वर्ष बाद अशोक ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है-

"अमिसा देवा मिसा कटा" (अमिश्रा देवा मिश्रा कृत) अर्थात् जो देवता पहले अलग थे वे अब वैदिक देवताओ के साथ बौद्ध धर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा पद्धति के साथ घुल मिलकर एक हो गए है।

भक्ति धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा के ढग पर हुआ। यज्ञ विधि का अपना अलग मार्ग था। उसमे फल, फूल, नैबेद्य, धूप, दीपपत्र, पुष्प, वाद्य, नृत्य, गीत, वलि, आदि की प्रथा न थी। किन्तु लोक मे यज्ञ आदि देवो की जो पूजा थी उसका स्परूप ठीक इन्हीं वस्तुओ से निर्मित होता था। जिसे गीता में-

"पत्र पुष्प फल तोय"

वाली पूजा कहा है। नए भक्ति धर्म का वह आवश्यक अग बन गई। जो देवताओ की भक्ति करते हुए इसी प्रकार की पूजा चढाते थे।

भक्ति धर्म का तीसरा प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रुप में पूजित हुए। एक ओर बौद्ध और जैनों ने बुद्ध और महाबीर को भक्ति धर्म की पूजा विधि और मान्यता का लक्ष्य बनाया और उनके लिए स्तूप आदि चिन्हों की कल्पना करके धर्म का वाह्रय रुप खडा किया। उसने जन साधारण के मन को अपनी ओर खींच लिया। दूसरी ओर हिन्दू समाज पर इसका गहरा प्रभाव हुआ। फलत वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति या आर्दश नये रूप मे समाज के सामने आया। बुद्ध और महाबीर जैसे क्षत्रिय पुरुष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय पुरुष विशेष थे। ऐसे देवताओ को मनुष्य प्रकृति देव कहते थे, अर्थात् जिनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिए गये थे।

{वायु पुराण- 97/1}

वासुदेव की भक्ति करने वाले वासुदेवक कहलाते थे। इस नए धर्म के देवताओ की एक विशेषता यह भी थी कि मूल देवता या मान्य महापुरुष का स्वरुप अपने साथ परिवार का पचायत लेकर विकसित हो रहा था। जैसे बौद्ध धर्म में सप्तमानुषी बुद्धो की कल्पना थी, जैन धर्म में पचमुख्य तीर्थकरों की कल्पान थी, यक्षों मे वीर या मुख्य यक्षो की उपासना थी, वैसे ही वासुदेव कृष्ण के साथ भी परिवार की कल्पना हुई। भागवतो ने इसके दो विकल्प रखे। एक तो कृष्ण के साथ उनके राजसी जीवन के अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा थी। वासुदेव के भक्त जैसे वासुदेवक कहलाते थे, वैसे ही अर्जुन के भक्त अर्जुनक कहलाते थे। वासुदेव औार अर्जुन के इस धार्मिक साह्चर्य का ही दूसरा रुप नर-नारायण की सह्युक्त पूजा थी, जिसमे नारायण प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को नारायणीय धर्म कहा गया। महाभारत शान्ति पर्व में नारायणीय धर्म का विशेष रूप से वर्णन है। धार्मिक

इतिहास की दृष्टि से उसका आरम्भ इसी युग मे हुआ होगा। वासुदेव और अर्जुन का ही नामान्तर नर-नारायण है। इस मान्यता से एक धार्मिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ और यह कहा गया कि वस्तुत एक ही शक्ति नर और नारायण इन दो रूपो मे अभिव्यक्त होती है।

"नारायण नरश्चैव सत्वमेक द्विधाकृतम्।"

{उद्योग पर्व- 43/20}

वासुदेव कृष्ण की परिवार कल्पना का दूसरा स्वरूप और भी अधिक लोक व्यापी एव स्थायी हुआ। वह चतुर्व्यूह या पचरात्र कल्पना थी। उसके अनुसार पहले तो वासुदेव और सकर्षण इन दोनो का जुडवा रूप लोक मे प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार के जुडवा देवताओ की कल्पना पहले से चली आती थी। वासुदेव और सकर्षण तो उसी प्रथा का नया दृष्टान्त था। सहचर्य का विश्वास वैदिक देवताओ के विषय मे भी था, जैसे इन्द्रासोमो, इन्द्रवृहस्पति आदि। साथ ही कुछ देवता ऐसे थे जिनका साहचर्य लोक मे प्रसिद्ध था, जैसे ब्रह्म प्रजापति, शिव वैश्रवणौ इत्यादि। नर-नारायण का भॉति सकर्षण और वासुदेव नए भक्ति धर्म का मुख्य सूत्र बन गया, इसी मे आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यह का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पचवृष्णि वीरों की कल्पना पूर्ण हुई, जो पचरात्र धर्म की सुनिपपन्न मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास में यह परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण था।

शतपथ काल में कृष्ण वासुदेव की भक्ति के विकास को प्राचीन और अर्वाचीन सभी विद्यानों ने स्वीकार किया है। पतञ्जलि ने सज्ञा चैषा तत्र भवत लिखकर वासुदेव को विष्णु का स्वरूप माना। कैयट ने उसे परमात्मा देवता विशेष कहा है। पतञ्जलि के समय से पूर्व कृष्ण की जीवन लीलाओ का विकास हो चुका था, जैसे उन्होंने लिखा है-

"जघान कस किल वासुदेव ।"

या विष्णु के विषय मे लोक प्रचलित आख्यानों के सम्बन्ध में पतञ्जलि का कथन है-

"कस बधमाचष्टे कस घातयति बलिबधमाचष्टे बलि बान्धयति।"

पतञ्जलि ने यह भी लिखा है कि ये दोनो आख्यान उन घटनाओं के सम्बन्ध मे थे, जो बहुत पहले घटित हो चुकी थी। किन्तु अभिनेता प्रत्यक्ष रूप मे उन लीलाओ को प्रदर्शित कर दिखाते थे।

"इह तु कथ वर्तमानकालता कस घातयति, बलि, बन्धयतीति, चिरहते कसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथ। ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्ष कस घातयन्ति प्रत्यक्ष च बलि बन्धयतीति। चित्रेषु कथम्। चित्रेष्वपि उद्गूर्णा निपतातिश्च प्रहारा दृष्यन्ते कस

कर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथम् यत्र शब्दगडुमात्र लक्ष्यते। तेऽपि तोषामुत्पन्ति प्रभृत्याविनाशाद ऋद्धीर्व्याचक्षाणा सतो बुद्धि विषयान् प्रकाशयन्ति। अतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृष्यन्ते। केचिन कसभक्ता भवन्ति, केचिद् वासुदेव भक्ता । वर्णान्यत्व खल्वपि पुष्यन्ति। केचित रक्त मुखा भवन्ति, केचित काल मुखा ।।"

{भाष्य- 3/1/26}

कोई कस के भक्त बनते और कोई वासुदेव के। भाष्य से नो यही ज्ञान होता है, कि कस बध के चित्र भी उस समय बनाये जाते थे और लोग कृष्ण का आख्यान भी गाकर सुनाते थे। भाष्य मे कृष्ण के चतुर्ब्यूह का भी स्पष्ट उल्लेख है-

"जनार्दनस्त्वातम् चतुर्थ एव।"

{भाष्य- 6/3/5}

सकर्षण और कृष्ण इन दोनो की सयुक्त सेना और उनके प्रासाद या मन्दिरो का भी उल्लेख आया है। राम-केशव, कृष्ण-सकर्षण, वासुदेव-सकर्षण, ये सब वासुदेव मूलक भक्ति प्रधान धर्म के सुविदित उदाहरण हैं। "भगवती-भागवतम्" भाषा का एक रोचक प्रयोग आया है। यह एक गृहस्थ परिवार में भागवत धर्म की अनुयायिनी गृहपत्नी और भागवत गृहपति का सकेत करता है। नगरी चित्तौड के पास प्राचीन मध्यमिका मे दूसरी शती ई0पू0 की नारायण वाटिका के अवशेष पाये गये है। जिसके शिलालेख में सकर्षण वासुदेव को सर्वेश्वर अर्थात अन्य सब देवो से ऊपर कहा गया है, ये मौर्य शुग युग के प्रमाण है। किन्तु इस बात की पर्याप्त सूचना देते हैं कि मौर्य काल से सौ दो सौ वर्ष्र पूर्व ही भागवत धर्म का व्यापक आन्दोलन अस्तित्व मे आ चुका था जिसने भारत के धार्मिक रग मच पर महत्व पूर्ण पट परिवर्तन किया।

पश्चिमी विद्वान भी इस उल्लेख को भागवत धर्म की प्रचीनता मे प्रमाण मानते है। कीथ ने पतञ्जलि के "सज्ञा चैषा तत्रभवत" कथन को यथार्थ मानते हुए लिखा है कि निश्चय की शतपथ काल मे वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। वलिबध और कसबध सम्बन्धी भाष्य के अवतरण के आधार पर वेबर ने भी कृष्ण वासुदेव की प्राचीनता और उनके विष्णु के अवतार होने की लोक मान्यता को स्वीकार किया था।

महाराज-

यह शब्द प्राचीन भारतीय लोक धर्म का एक महत्वपूर्ण अध्याय दृष्टि पथ में ले आता है। प्राचीन काल मे महाराज को देवता कहा जाता था। महाराज देवता की भक्ति का भी उल्लेख आया है। महाराज देवता के भक्त महाराजिक कहलाते थे। पतञ्जलि ने महाराज देवता को अर्पित की जाने वाली बलि को महाराज वलि कहा है। महाराज देवता की वैश्रवण या कुबेर की सज्ञा थी। अति प्राचीन काल में राजा का एक अर्थ यक्ष था।

महाभारत मे राजा शब्द के यक्ष अर्थ का बहुत ही सटीक उदाहरण इस श्लोक मे है-

"आत्मना सप्तम काम हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यवध्य ब्रह्मपुर राजेव स्यामह सुखी।।"
{शान्ति पर्व मोक्षधर्म- 171/52}

यह महाभारत के अति क्लिष्टि श्लोको मे है। यहॉ ब्रह्म और राजा दोनो शब्दो का अर्थ यक्ष है। रामायण मे भी ब्रह्म शब्द यक्ष अर्थ मे आया है।

"ब्रह्मदत्तवरो ह्येष अवध्य कव चावृत ।"
{लका- 71/97}

अर्थात् जैसे यक्ष अपनी मृत्यु रहित यक्षपुरी में पहुॅचकर प्रसन्न होता है, वैसे ही मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहकार और शरीर (आत्मा) इन सातो को भारी शत्रु के समान वश मे करके सुखी होऊॅ।

यक्षों के राजा होने के कारण कुबेर महाराज कहलाए। इन्हे ही कालिदास ने मेघदूत में महाराज कहा है।

"तस्य स्थित्वा कथमपि पुर कौतुकाधान हे तो रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।"

{1/3}

पालि साहित्य मे कुबेर आदि चार देवताओ को चत्वारों, महाराजानो कहा जाता है, जो चातुम्महाराजिक लोक में निवास करते है। यक्ष, गन्धर्व, कुभाण्ड और नाग ये चार प्राचीन लोक देवता थे, जिनकी व्यापक मान्यता थी। इन चारों के अधिपति क्रमश कुबेर, घृतराष्ट, विरूढक और विरूपाक्ष ये चार देवता महाराज नाम से प्रसिद्ध हुए है। दीघ निकाय के आटानाटीयसुत्त मे चारो महाराज देवताओ को एक-एक देवगण की सूची मे प्रमुख स्थान दिया गया है। उसी ग्रन्थ के वछसुत्त मे चत्वारो महाराज और चातुम्महाराजिक देवों मे भेद किया है और पहले को दूसरे से श्रेष्ठ माना है। गृह्यसूत्रों में भी महाराज या वैश्रवण की पूजा का उल्लेख आता है। प्राय प्रत्येक गृह्य होम या हवि के अन्त में वैश्रवण की स्तुति का मन्त्र निगद या उच्च घोष से पढा जाता था जिसमें उसे राजाधिराज अर्थात् यक्षो का अधिपति कहा गया है।

"राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमोवय वैश्रवणाय कुर्महे।

समे कामान् कामकामाय मह्य कामेश्वरो वे वैश्रवणो दधातु।।"

प्रतिकृति-

मूर्तियो को जिनमे देवमूर्तिया भी सम्मिलित है प्रतिकृति कहा गया है। इसी अर्थ मे अर्चा इस विशिष्ट शब्द का भी प्रयोग हुआ है। मूर्ति रखने वाला पुजारी अर्चावान् या अर्च कहलाता था।

"देव मूर्ति के लिए अर्चा शब्द का प्रयोग मथुरा से प्राप्त मोरा कूप अभिलेख मे एव कालान्तर के शिल्प साहित्य मे मिलता है।"

{भाष्य}

कुछ मूर्तिया ऐसी है जो सार्वजनिक रूप मे प्रासाद मे अथवा खुले चत्वारो पर स्थापित होती थीं। उन पर एक व्यक्ति का स्वत्व न था। अतएव वे किसी की जीविका का साधन न थीं, और न विक्री के लिए पण्य रूप में थीं। वे केवल पूजार्थ होती थीं। उन्हे शिव कहते थे या शिवक यह अनुमान का विषय है। किन्तु सम्भावना यही है और उन्हे शिव स्कन्द इत्यादि नामें ये कहा जाता था।

दूसरे प्रकार की मूर्तियॉ देवलक या पुजारियो के अधिकार में होती थीं। या तो वे एक स्थान में पधराई रहती या देवलक उन्हें स्थान-स्थान पर ले जाकर जीविका के लिए पूजा चढवाते थे। ऐसी चल और अचल मूर्तिया पूजार्थ और देवलको के जीविकार्थ होती थीं किन्तु विक्री के लिए न होने से अपण्य थीं।

तीसरे प्रकार की मूर्तियॉ वे थी जो दुकानो में विक्री के लिए रखी जाती थीं। वे पूजार्थ नही थीं, यद्यपि अपने स्वामी दुकानदारों के लिए जीविका का साधन अवश्य थीं। ऐसी पण्य मूर्तिया शतपथ काल के उदाहरण हैं। उन्हें शिवक, स्कन्दक आदि कहा जाता था।

चौथी प्रकार की मूर्तियों के लिए पतञ्जलि ने एक नई समस्या खडी कर दी। उन मूर्तियो का नामकरण आप कैसे करेंगे जिन्हें मौर्य राजाओं ने रूपयों के लोभ से बनवाया था, जो बिकती भी थी, जो पूजा के लिए भी थी, और जीविका का साधन भी थीं।

"अपण्य इत्युच्यते तत्रेद न सिद्धति "शिव" "स्कद" इति कि कारणम्। मौयर्हिरण्यार्थिभिरर्चा प्रकल्पिता। भवेत्तासु न स्यात् यास्त्वेता सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।"

{भाष्य- 5/3/99}

मौर्यों ने कुछ सचमुच ऐसी मूर्तियाँ गढवाई थी। जिनसे वे पेसा बटोरना चाहते थे। कौटिल्य से इस वात का समर्थन होता है। वहाँ लिखा है- "देवताध्यक्ष को चाहिए कि देव मूर्तियो के जरिये सोना बटोरे और खजाना भरे।"

"आजीवेत हिरण्योपहारेण कोशकुर्यात।"

देवताओ के चैत्यो मे उत्यव और मेले करावे और नागमूर्तिया अपने फनो की सख्या घटा-बढा लेती है, इस प्रकार चमत्कार की बात फेलाकर भोली-भाली जनता से पुजवा कर पैसा इकट्ठा करे। इससे सूचित होता है कि इस प्रकार की मूर्तिया जीविका, पण्य और पूजा तीनो बातों के लिए थीं। प्रश्न यह है उठाया गया कि इनमे उनका नाम शिव रखा जाय या शिवक।

अन्त में पतञ्जलि का कहना है कि मौर्य राजाओ की उन मूर्तियो की बात जो पण्य और जीविका दोनों के लिए छोड दे, पर इस समय जो मूर्तिया पूजा मे पधराई हुई है और जिनसे देवलको की जीविका चलती है। अर्थशास्त्र में भी मूर्तिपूजा के प्रमाण मिलते है। उस समय शिव और वैश्रवण आदि देव मूर्तियाँ मन्दिरो में स्थापित थीं। पतञ्जलि ने कहा है कि वेद मे इनका साथ निर्देश न था, लोक में ही इनके जुडवा नामों की प्रथा पडी-

"न चैते वेदे सहनिर्वाय निर्दिष्टा।"
{भाष्य- 6/3/26}

लोक में यक्ष, नाग और ऐसे ही छोटे देवताओं की जो पूजा थी, उन्हीं के दो प्रधान देवता शिव और वैश्रवण थे। कुबेर की सज्ञा वैश्रवण या महाराज भी थी जो उत्तर दिशा मे यक्ष या यक्खो के राजा माने जाते थे।

असुर-

"शतपथ काल मे देवो के बैरी असुरो का भी कुछ नाम है, जैसे- दैत्यों की माता दिति, सर्पो की माता कद्रू, असुर, राक्षस और यातु। आसुरी माया शब्द प्राचीन था जिसका प्रयोग असुर विद्या के लिए होता था।"
{शत0- 13/4/3/11}

कुसित की स्त्री कुसितायी एक राक्षसी थी जिसका उल्लेख मैत्रायणी सहिता मे आया है। राहु और चन्द्रमा की कथा का उल्लेख विधुन्तुत शब्द में है।

यक्ष-

शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा इन पॉचो का उल्लेख शतपथ मे है। ये पॉचो यक्षो के नाम थे। लोक मे यक्ष पूजा का बहुत अधिक प्रचार हुआ था। चरण परिषद में विराजमान आचार्य की तुलना यक्ष के प्रियदर्शन के रूप मे की गयी है। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओ को भी यक्ष रूप मे मानकर उनकी पूजा होने लगी थी। दीघ निकाय मे वरुण, इन्द्र, सोम प्रजापति को यक्खो मे प्रधान कहा गया है। "आटानार्टाय मुन्त" महामासूरी सूची मे तो विष्णु कार्तिकेय, शकर, मकरध्वज, कामदेव, वज्रपाणि, इन्द्र या शक्र इन सबको यक्ष माना गया है। महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी मे यक्ष को महाकाय, तालमसुच्छित, ज्वलनार्क, प्रतीकाश, अदृश्य और पर्वतोपम् कहा गया है। विशाल भी एक बडे यक्ष का नाम था। धार्मिक जगत मे फेले हुए यक्ष पूजा के ताने बाने मे से कुछ आधुनिक सामग्री मे आ जाना आश्चर्य प्रद नहीं है।

द्वितीय परिच्छेद

यज्ञ

यज्ञ का स्वरूप

यजुर्वेद 1/1। की व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण 1/7/1/5। मे कहा गया है कि-

"यज्ञों वै श्रेष्ठ तम कर्म।"
शOपOब्राO- 1/7/1/5

अर्थात् समस्त कर्मों में से यज्ञ कर्म श्रेष्ठ कर्म है। ऐसा ही काठक सहिता 30/10। मे लिखा है। ब्राह्मण तो यज्ञ की इतनी महिमा समझते हैं कि वह ब्रह्म को भी यज्ञ स्वरूप ही बताते है। जगत मे जो कुछ भी प्रत्यक्ष रूप दिखाई दे रहा है, वही प्रजापति हे। शतपथ मे कहा गया है-

"एष वै प्रत्यक्ष यज्ञो यत्प्रजा पति ।"
शO ब्राO- 4/3/4/3

अर्थात् यह प्रजापति ही है जो प्रत्यक्ष यज्ञ है। ससार मे जड जगत मे जो यज्ञ हो रहा है, सूर्य उसका केन्द्र है। शतपथ ब्राह्मण में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है-

"स य स यज्ञोऽसौ स आदित्य ।"
शOपOब्राO-14/1/1/6

अर्थात् यह जो यज्ञ है यही सूर्य है। इसी महायज्ञ का चित्त मनुष्य इस पृथ्वी पर बनाता है। पृथ्वी पर वेदी ही यज्ञ का केन्द्र स्थान है। ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा गया है-

"त यज्ञ यवेश्द्यामन्वविदन् यद्वेद्यामन्वविन्दस्तद्वेदेर्वे दित्वम्।"
ऐOब्राO 3/9।।

अर्थात् उस यज्ञ को वेदि मे प्राप्त किया। क्योकि वेदि में प्राप्त किया, अत यही वेदि का वेदिपन है। ऐसा ही अन्य ब्राह्मणो मे भी लिखा है। यह वेदि बडी छोटी होती

है पर इसमे किये गये कर्म का प्रभाव अद्भुत है। यही वेदि को कई स्थानो मे वामन विष्णु कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण 1/2/5/5। से आरम्भ करके सातवीं कण्डिका तक इर्मी वामन विष्णु रूपी वेदि का वर्णन है। इसी से देवताओ ने इस विशाल पृथ्वी को ही प्राप्त किया। नही, नहीं पृथ्वी को ही नहीं। देवताओ का क्या कहना, मनुष्य भी इस वेदि मे तीनो लोको पर राज्य कर सकते है।

ऋग्वेद 1/22। का प्रसिद्ध मन्त्र है-

"इद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।" 17।।

इस मन्त्र का अर्थ ब्रह्मपरक भी है और सूर्य परक भी हे। पर इसका एक और अद्भुत अर्थ भी है-

अर्थात् इस वामन विष्णु वेदि में किया हुआ अग्नि होत्रादि कर्म तीनों लोको में अपना प्रभाव रखता है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण के आरम्भ में कहा गया है।

"अग्निर्वे देवनामवमो विष्णु परम ।"
ऐ0ब्रा0 1।1।

अर्थात् अग्नि देवताओ में प्रथम है और सूर्य अन्तिम। इस का अभिप्राय यह है कि वेदि में जो अग्नि होती है उसी में पहले हवि दी जाती है। शतपथ ब्राह्मण में कहा भी गया है-

"अग्निर्वे देवताना मुखम्।"
श0प0ब्रा0- 2/5/1/8

अर्थात् यह जड अग्नि ही सारे भौतिक देवताओ का मुख है। इसी में डाला हुआ हवि वायु के सहारे सूर्य की ओर अर्थात् ऊपर को जाता है। ऊपर जाकर वह सारे अन्तरिक्ष मे फैल जाता है। उसी अन्तरिक्ष मे सूर्य के प्रभाव से मेघ मडल के साथ वह हवि नीचे उतरता है और सब देवताओ को तृप्त करता जाता है। इसलिए हमने कहा था कि इस वेदि से मनुष्य तीनो लोकों को जीतता है। यज्ञ द्वारा पृथ्वी के पदार्थ शुद्ध होते है, अन्तरिक्ष के पदार्थ शुद्ध होते है और सूर्य की राशियॉ पवित्र होती है। यह हम सहसा नहीं बता सकते। ब्राह्मणो का गहरा पाठ ही इस बात को स्पष्ट करेगा। यज्ञ इन पदार्थों को ही शुद्ध नही करता, प्रत्युत इन पदार्थों को शुद्ध करता हुआ मनुष्य मात्र का कल्याण करता है। इसीलिए ब्राह्मण में कहा गया है-

"कल्पते यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कलमते यत्रैव विद्वान होता भवति।"

ऐ0 ब्रा0- 1/7।।

अर्थात् यज्ञ को भी समर्थ करता है, उसी जनता के लिए समर्थ करता है जहा पर इस प्रकार का जानने वाला होता है।

इस यज्ञ के अनेक प्रकार कहे गये है। अग्नि होत्र से लेकर अश्वमेघ तक यज्ञ कहे गये है। इन सव में ही एक बात का प्रधान रूप से ध्यान रखा गया है। जो कुछ सृष्टि मे हो रहा है, वही यज्ञ मे किया जाता है। इसके दो लाभ है। एक तो याज्ञिक को सृष्टि नियम का ज्ञान प्रत्यक्ष समान होता जाता है। दूसरे सृष्टि नियम को यह यज्ञ सहायता पहुँचाता है। सूर्य अपने बल से इस ससार की दुर्गन्ध को दूर करता है और जल को पवित्र करता है। मनुष्य का किया हुआ अग्नि होत्र भी यही दोनों काम करता है। सवत्सर मे 360 दिन हैं। मनुष्य में 360 अस्थिया है। शतपथ ब्राह्मण 12/3/2/3 में मानव अस्थियो के विषय मे विशेष विवरण दिया गया है।

360 ही ईंटे अग्नि चयन मे चिनी जाती है। सृष्टि नियम का यही ज्ञान है। सृष्टि के नियम को यही सहायता पहुँचाता है। इसी के फल से पुरुष अनेक पापो से तर जाता है।

{प0 भगवदत्त के वैदिक वाङ्मय का इति0 से}

यज्ञों के मुख्य भेद-

गोपथ ब्राह्मण मे लिखा है कि यज्ञ की इक्कीस सस्थाएँ है-

(1) "स एत त्रिवृत सप्ततन्तुमेक विशतिसस्थ यज्ञमपश्यत्।"

गो0पू0- 1/12।।

अर्थात् त्रिवृन्त, सात तन्तु वाला और इक्कीस सस्था युक्त है। इसे उसने देखा।

(2) "सप्त सुत्या सप्त च पाकयज्ञा हविर्यज्ञा सप्त तर्थकावशति।"

गो0 प0- 5/25।।

अर्थात् सात सोम सस्था, सात पाक यज्ञ और सात हविर्यज्ञ है। यही सव मिलाकर इक्कीस सस्था का यज्ञ है।

इन इक्कीस मे से सात सस्था गृह्याग्नि की है, और शेष चौदह श्रौताग्नि की, उनका वर्णन इस प्रकार है-

गृहाग्नि की सस्था-

(1) पाक सस्था

(1) अष्टका
(2) पार्वण स्थाली पाक
(3) मासिक श्राद्ध
(4) पिण्ड पितृ श्रावणी
(5) आग्रहायणी
(6) चैत्री
(7) आश्वयुजी

(2) हविर्यज्ञ या हवि सस्था-

(1) अग्न्याधान
(2) अग्निहोत्र
(3) दशपूर्णमास
(4) चातुर्मास्या
(5) आग्रयणेष्टि
(6) निरूढ पशुबन्ध
(7) सौत्रामणि।

(3) सोम सस्था-

(1) अग्निष्टोम
(2) अत्यग्निष्टोम
(3) उक्थ्य
(4) षोडशी
(5) अतिरात्र
(6) अत्पोर्याम्
(7) वाजपेय।

वैशानसागृह्य सूत्र <u>1/1/1।।</u> तथा शतपथ ब्राह्मण मे भी एक स्थान पर कुछ यज्ञो के नाम एक साथ मिलते है-

"अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुबन्ध सौम्यमृध्वरम।"

शा०प०ब्रा०- 10/4/3/4।।

यही इक्कीस सस्था रूपी यज्ञ है और भी अनेक छोटे वडे यज्ञ है, पर वे सब ही इन का भाग मात्र है। एक अन्य स्थान पर गोपथ ब्राह्मण मे इन यज्ञो का वर्णन किया गया है। यथा-

" अथातो यज्ञक्रमा अग्न्याधेयमग्न्याधेयात्पूर्णाहुति पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्राद्दर्शपूमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यमाग्रयणमाग्रयणाच्चातुर्मास्यानि चातुर्मास्येभ्य पशुबन्ध पशुबन्धादग्निष्येमो ऽग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद्वजयेयो वाजपेयाद्श्वमेधोऽश्वमेधात् पुरुषमेध पुरुषमेधात्सर्वमेध सर्वमेधाद्दक्षिणावन्तो दक्षिणावदभ्यो ऽदक्षिणा अदक्षिणा सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठस्ते वा एते यज्ञ क्रमा।"

{गो०प०ब्रा० 5/7।।}

अर्थात अब यज्ञ का क्रम कहा जाता है।

(1) अग्न्याधेय
(2) पूर्णाहुति
(3) अग्नि होत्र
(4) दर्शपूर्णमास
(5) आग्रयण
(6) चातुर्मास्य
(7) पशुवन्ध
(8) अग्निष्टोम
(9) राजसूय
(10) वाजपेय
(11) अश्वमेध
(12) पुरुषमेध
(13) सर्वमेध। आदि

इनके अतिरिक्त कुछ और यज्ञ कहे गये है।

याज्ञिक-

यज्ञो का अध्ययन करने वाले याज्ञिक लोगो के सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने किया है। पतञ्जलि ने भी याज्ञिक शास्त्र और याज्ञिको मे वाड्मय का उल्लेख किया।

शतपथ मे यज्ञ सम्बन्धी साहित्य और यज्ञ कर्म की पर्याप्त सामग्री पायी जाती है। याज्ञिक साहित्य एक ओर यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विशाल ब्राह्मण और अनुब्राह्मण साहित्य था। दूसरी ओर क्रतु या सोम यज्ञ एव दूसरे यज्ञ या इष्टियो के व्याख्यान ग्रन्थ भी वनाए गये थे। जिनके ये उदाहरण मिलते है, अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक, नावयज्ञिक, पाकयज्ञिक आदि। पुराडाश किस प्रकार वनाया जाय इसकी विधि वताने वाला व्याख्यान ग्रन्थ पुरोडाशिक था।

"पुराडाश तैयार करने की विधि के अग इस प्रकार है- व्रीहीन निर्वपति (यजु0अध्याय-1, मत्र-9) प्रोक्षति (मत्र-12), अवहन्ति (म0-14), परापुनाति (मन्त्र-16), तडुलान् पिनष्टि (मत्र-20), प्रणीताभि सयौति (मत्र-21), और कपालेषु श्रपयति (मत्र-22)। इन्हीं प्रक्रियाओ की व्याख्या पुराडाशिक ग्रन्थ मे की जाती थी, जैसी शतपथ के आरम्भ मे है।"

पुरोडाश बनाने मे जिन मन्त्रो की आवश्यकता होती थी उनका व्याख्यान ग्रन्थ पौरोडाशिक कहा जाता था। ये मत्र यजुर्वेद के प्रथम अध्याय में हैं और शतपथ प्रथम काण्ड में उनकी व्याख्या है। यज्ञों के सम्मिलित होने वाले ऋत्विजों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसी सारोद्धारिणी पद्धतियो की माग रहती थी।

यजमान-

जब तक यज्ञ की अवधि रहती है तब तक के लिए मुख्य कर्ता की सज्ञा यजमान होती थी। यज्ञ का समाप्ति पर वह अपने उस यजन के अधिकार से यज्वा कहलाता था। विशिष्ट यज्ञो के आधार पर उसके लिए अग्निष्टोमयाजी आदि विशेषण प्रयुक्त होते थे। जो व्यक्ति बार-बार यज्ञ करता है और जिसका स्वभाव ही यजनशील बन जाता था, उसके लिए भाषा मे यायजूक शब्द था। यज्ञ काल मे यजमान वाक् सयम का व्रत रखने के कारण वाचमय एव स्थाडिल पर शयन करने के कारण स्थाण्डिल कहलाता था। यजमान का अन्तेवासी या पुत्र जब यज्ञ कर्म करने के योग्य वय प्राप्त करता हो तो वह अलकर्मीण कहलाता था। उस समय वह अपने पिता या गुरु के समीप बैठ कर आहुति डालने में उसकी सहायता करता था।

"यदस्य पुत्रो अन्तेवासी वालकर्मीण स्यात्सदक्षिणत आसीनो जुहुर्यादिति।"
{बौधायन श्रौत सूत्र- 22/20}

अल कर्म मे कर्म शब्द का सामयिक अर्थ यज्ञ था।
{यजुर्वेद- 1/1, शतपथ- 1/1/2/1, यज्ञोवैकर्म}

आस्पद-

ब्राह्मणो में सामाजिक प्रतिष्ठा आस्पद कहलाती थी। यज्ञो के आधार पर आस्पदो की प्रसिद्धि होती थी, जैसे- वाजपेयी, अग्निहोत्री आदि। जो श्रौताग्नियो का अध्ययन करके उनकी परिचर्या करता था, उसे आहिताग्नि कहते थे। आवसथ अग्नि के लिए निर्मित स्थान मे निवास करने वाले व्यक्ति आवसथिक कहलाता था। ब्राह्मणो की अवस्थी आस्पद इसी से बना है। यज्ञ भूमि मे यजमान के लिए जो स्थान बनाया जाता था वह आवसथ कहलाता था क्योकि आवसथ अग्नि की सीपना वही की जाती थी। यज्ञ के दिनो मे यजमान को वही रहना आवश्यक था। इसे ही अग्नि शरण भी कहते थे।

यज्ञनाम-

यज्ञ शब्द की व्यत्पत्ति यजू धातु से की जाती थीं। यजुर्वेद मे यज्ञों का प्रतिपादन है। यज्ञ तीन प्रकार के थे- इष्टि, पशुबध और सोम। इष्टि जैसे दर्शपौर्णमास में स्वाहा कह कर और बैठ कर आहुति दी जाती है। पशुबन्ध और सामे यज्ञों मे आहुति खडे होकर और वौषट् बोलक डाली जाती थी।

"उपविष्टहोमा स्वाहाकार प्रदाना जुहोतय। तिष्ठ द्धोमा वषट्कार प्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतय।"

यज्ञ का एक व्यापक शब्द। उसके अर्न्तगत दर्शपौर्णमास जैसी इष्टिया पाक यज्ञ और नवयज्ञ जैसे साधारण होम, पचौदन और सप्तोदन जैसे विशिष्ट स्थालीपाक एव अग्निष्टोम, राजसूय और वाजपेय जैसे क्रतु भी आये थे। किन्तु क्रतु शब्द केवल सोम यज्ञों के लिए प्रयुक्त होता था। क्रतुओ में सोम की आहुति दी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थो में मिलता है, जैसे विश्वसृज जो सहस्र सम्वत्सर सत्र था। पतञ्जलि ने लिखा है कि ऐसे दीर्घकालीन सत्र लोक मे वस्तुत करता न था। "लोक अप्रयुक्ता" केवल याज्ञिक लोगो के सम्प्रदाय में विदित थे।

"दीर्घ सत्राणि वार्षशतिकाणि वार्ष सहस्रिकाणि च न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति केवल मृषि सम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिका शास्त्रोणानुविद धते, भाष्य पस्पशाह्निक।"

सोम-

सोम का अभिषण सुत्या कहलाता था। अभिषव करने वाले को सोमसुत कहते थे। जिस यजमान ने सोम का अभिषव किया होता वह यज्ञ हो जाने पर सुत्वा इस विरुद्ध से प्रसिद्ध होता था, जैसे यज्ञकर्ता के लिए यज्वा था। सोमपान करना कुछ आर्थिक

सुविधा और आध्यात्मिक तैयारी पर निर्भर था। जिसमे सोमपान करने की इस प्रकार की योग्यता या अर्हता हो वह सोम्य कहलाता था। याज्ञिक लोग कहते थे कि जिसके कुल मे दस पीढी पहले तक आचार कोई ऑंच न आयी हो वह सोमपान अधिकारी होता हे-

"एव कि याज्ञिका पठन्ति दश पुरुषानूकयस्य गृहेशूद्रा न विद्येरन् स सोम पिवेदिति।"
{भाष्य- 4/1/93}

मनु का दृष्टिकोण आर्थिक योग्यता से है- जिसके घर तीन वर्ष या उससे अधिक के लिए पर्याप्त अन्न हो वह सोम पीने की योग्यता रखता है।

"यस्य त्रैवार्षिक धान्य निहित भृत्यवृत्तये।
अधिक वापि विद्योत य सोम पातुमर्हति।।"
{मनु0- 11/7}

सोमपान की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को पर्याप्त सभार कर रखना चाहिए अन्यथा उसका परिश्रम असफल रह जाता है। सोम यज्ञ में यद्यपि ऋत्विक् सोम कूटने, पीसने-छानने की क्रिया करता पर यजमान सुन्वन् कहलाता था। बारह दिन या उससे अधिक के सोम यत्र ऋत्विजो की सख्या सत्रह से पच्चीस तक होती थी।

"सप्त दशावरा पचविशतिपरमा ।"

उनमें सभी यजमान होते थे, सभी ऋत्विज भी थे-

"सर्वेयजमाना सर्वेऋत्विज ।"

सबका आहिताग्नि होना आवश्यक था, सब को यज्ञ के पुण्य फल मे समान भाग प्राप्त होता था, कोई न कोई दक्षिणा देता था और न पाने की आशा करता था, एव सभी मिलकर सोम का सेवन करते थे।

अग्नि-

जो अग्नि आहुति को देवों के समीप ले जाता है उसकी सज्ञा हव्यवाहन और जो पितरो पास के ले जाता है उसकी सज्ञा कव्यवाहन थी। हव्यवाहन अग्नि को स्वाहा और कव्यवाहन अग्नि को स्वधा कहकर आहुति दी जाती है। श्रौत यज्ञो के लिए उपयुक्त अग्नि चित्याग्निक कहलाती थी। दक्षिणाग्नि का विशिष्ट नाम आनाय्य था क्योंकि उसे गार्हपत्य अग्नि मे से लाते थे, और कर्म हो जाने के बाद फिर उसकी रक्षा या आधान नहीं किया जाता था। श्रौत यज्ञ की अग्नि अरणी मन्थन से उत्पन्न की जाती थी। उत्पन्न होने

पर उसे आहिताग्नि यजमान गार्हपत्य नामक वेदी मे गार्हपत्य अग्नि के रूप में सुरक्षित रखता था। दो वेदियॉ और थीं, आहवनीय और दक्षिणाग्नि। यजमान अपनी गार्हपत्य वेदि मे से अग्नि ले जाकर उन दोनो वेदियो मे डालता था, इसीलिए दोनो उस काल विशेष के लिए की पृथक प्रज्वलित होने के कारण अनित्य कहलाती थीं। जैसे ही आहुतिया समाप्त हो जातीं, वे दोनो पवित्र अग्निया न रह जातीं थीं, किन्तु गार्हपत्य सदा रक्षा के योग्य थीं।

वेदियॉ-

वेदि मे अग्नि प्रज्वलित करने की तीन अवस्थाओ के लिए तीन शब्द थे- परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य। आरम्भ मे समिधाओं को विधि पूर्वक चुनकर और वेदि को सजाकर जो अग्नि जलाई जाती थी वह परिचाय्य अवस्था हुई।

"परिचाय्य चिन्वीत ग्राम काम ।"
{शतपथ- 5/4/11/1}

यह उसकी अलकरण की दशा थी। बीच मे जब वह खूब दहक जाती तो उसे उपचाय्य कहते थे। अन्त मे उसे इधर-उधर विखरी अवस्था में बटोकर राख कचरा आदि का ढेर लगा देना यह उसकी समूह्य अवस्था थी। इसी के लिए समूह्य पुरीष यह सार्थक शब्द भाषा में प्रयुक्त होता था।

{शतपथ- 6/7/2/8}

दशपौर्णमास की वेदि 36 वितस्ति लम्बी और 18 वितस्ति चौडी कही गयी है। (27 फुट*13½ फुट) इससे दुगुनी नाप की वेदि द्विस्तावा और तिगुनी नाप की त्रिस्तावा कहलाती थी। वेदि की इस भूमि पर भिन्न-भिन्न वेदियॉ या हवन कुण्ड बनाए जाते थे। प्रत्येक की अपनी आकृति होती थी। वेदियो के निर्माण में जिन-जिन मत्रो से इष्टकाचिति की जाती थी, उन मत्रो से उन इष्टिकाओं का नाम पड जाता था। मत्र में जो महत्वपूर्ण शब्द होता उसे उप्रतीक मानकर इष्ट का नाम रखा जाता था। जैसे- वर्चस्या, तेजस्या, रेतस्या, पयस्या ये इष्टकाओ के प्राचीन नाम थे।

यज्ञार्थ उपकरण-

इनमें से कुछ का प्रासगिक उल्लेख शतपथ मे आया है। सोम क्रतुओ में जिस स्थान पर बैठ कर छन्द योग या सामगान करने वाले ऋत्विज् सामगान करते थे, वह स्थान सस्ताव कहा गया है। अमरकोश मे इसे स्थिति भूमि लिखा है। कूडा कचरा फेंकने का स्थान अवस्कर कहलाता था। सोमयाग मे सोमनामक ओषधि की आवश्यकता पडती थी। पतञ्जलि ने प्रतीक या कुशा को सोम का प्रतिनिध लिखा है, साथ की कहा है कि इससे यह न समझना चाहिये कि सोम गई बीती वस्तु हो गई है-

"न च तत्र सोमो भूत पूर्वो भवति।"
{भाष्य- 1/1/56}

यज्ञपात्र-

सोम पीने के पात्र या सोम ग्रहो का जोडा रखा जाता था। आहुनि द्रव्य हवि थी, उसी का एक विशेष रूप सानाय्य कहलाता था। यह दर्शनामक इष्टि मे इन्द्र देवता के उद्‌देश्य से दी जाने वाली हवि थी। इष्टि से पहली सायकाल का जो गाय का दूध दुहा जाता था (सायदोह) उसका दही जमा लिया जाता था। अगले दिन उस दही मे प्रात का दुहा हुआ दूध (प्रातर्दोह) मिलाकर सानाय्य हवि बनती थी।

"दर्श इष्टि में तीन आहुतियाँ होती हैं, पहली अग्नि के लिए आग्नेय पुरोडाश की दूसरी, इन्द्र के लिए ऐन्द्र दधि और तीसरी इन्द्र के लिए ऐन्द्र पय या दूध की आहुति। दूसरी और तीसरी को साथ मिलाने से सानाय्य हवि बनती थी। इसमें उद्दिष्ट देवता तो एक था, पर भिन्न आहुति द्रव्यों को एक में मिलाकर साथ ही हवि दी जाती थी। पहले जुहू मे दही भर कर उसके ऊपर दूध छोडने से सानाय्य हवि बनती थी।"

ऋत्विक्-

यज्ञ के सब पुरोहित ऋत्वज् कहे जाते थे। कर्मों के कराने मे दक्ष कर्म कर्ता आर्त्विजीन कहलाते थे। पतञ्जलि ने "आर्त्विजीन ब्राह्मण कुलम्" लिखा है। स्पष्ट है कि शतपथ काल से ही ब्राह्मण लोग बडे परिश्रम से ऋत्विक् कर्म में निपुणता उपार्जित करते आये थे। षडविश ब्राह्मण के अनुसार यज्ञो में प्रयुक्त वेद मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करने वाले ब्राह्मण आर्त्विजीन कहलाते थे। आत्विजीन वह माना जाता था जो यज्ञो के मत्रों का पद स्वर और अक्षर के अनुसार शुद्ध फुट का उच्चारण कर सके।

"यो वा इमा पदश स्वरशो वाचविदधाति स आर्त्विजन ।"
{पास्पशाह्निक भाष्य}

यजमान के लिए विविध प्रकार के यज्ञ कर्म करने के कारण ऋत्विज को याजक कहा जाता था। जिस जाति का यजमान को उसके साथ याजक् शब्द जोडकर शब्द बनते थे। जैसे- ब्राह्मण याजक, क्षत्रिय याजक्।

विशेषज्ञ-

जो जिस यज्ञ या विधि मे विशेष निपुणता प्राप्त करता था, उसे उसी के लिए आमन्त्रित करते थे। जो सोम क्रतुओ का विशेष अध्ययन करते वे आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक आदि कहलाते थे। स्वाभाविक था कि इतने बडे यज्ञो का दायित्व लेने के इन विशेषज्ञो को ही आमत्रित किया जाता। वे अपने पुत्र और शिष्य वर्ग के साथ इन यज्ञो मे सम्मिलित होते थे।

ऋत्विक् सख्या-

ब्राह्मण ग्रन्थो के अनसुार ऋत्विजो की सख्या सोलह थीं। उनके चार वर्ग थे, जो इस प्रकार है-

(1) ऋग्वेद - होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत्।
(2) यजुर्वेद - अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता।
(3) सामवेद - उद्गाता, प्रस्तेता, प्रतिहर्त्ता, सुबह्मण्य।
(4) अथर्ववेद - ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छसी, आग्नीघ्र, पोता।

यज्ञ में अध्वर्यु का पद महत्वपूर्ण था। यजुर्वेद को अध्वर्युवेद कहा जाता था। जैसे-जैसे यज्ञो के कर्मकाण्ड की अभिवृद्धि हुई अध्वर्यु ऋत्विजो के भेद बढने लगे। इसमें दो हेतु थे। एक तो देश भेद से अध्वर्युओं की ख्याति हुई जैसे प्राच्याध्वर्यु अर्थात् प्राच्यदेश का अध्वर्यु। दूसरा महत्वपूर्ण कारण वैदिक शाखाओ के भेद से कर्मकाण्ड में भेद पड जाना था। इसके प्रमाण शतपथ ब्राह्मण मे भरे पडे है।

मत्र करण-

यज्ञ मे देवताओ के आवाहन के लिए निश्चित मत्रो का पढना मत्रकरण कहलाता था। उसके लिए भाषा में विशेष प्रयोग ही चल गए थे। जैसे-

"आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते"

आग्नेयी ऋचा के पाठ से आग्नीध्र ऋत्विज् का उपस्थान करता है।

"एन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते"

ऐन्द्री ऋचा के पाठ से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है। मत्रों का स्फुट स्वर वर्ण के साथ उच्चारण समुच्चारण कहा जाता था।

याज्या मत्र-

यज्ञ कर्म में याज्या ऋचाओ का पाठ विशेष महत्व रखता है। सब याज्या मत्र ऋग्वेद से लिये गये है। जब-जब अध्वर्यु आहुतिया आरम्भ करता है तभी उस कर्म के साथ होता याज्या और पुरोडनुवाक्या मत्रो का पाठ करता है। अध्वर्यु स्वय मत्रो का पाठ नही करता मत्र पढना होता का कर्म है। अध्वर्यु होता को प्रेरित करता है, उस प्रेरणा को प्रैष कहते है। उस प्रैष को सुनते ही होता मत्र पढता है और अन्त मे वौषट् का उच्चारण करता है। मत्र सुनते ही अध्वर्यु 'स्वाहा' बोलकर अग्नि मे आहुति छोड देता है।

"होताध्वर्युरावया् अग्निमिधो ग्रावग्रामउत शस्ता सुविप्र ।
तेन यज्ञेन स्वरकृतेन स्विष्टेन वक्षणाआ पृणध्वम्।।"
{ऋ0 1/162/5}

आवाहन-

दश-पौर्णमासेष्टि में पॉच आहुतियॉ दी जाती है। जिन्हे पच प्रयाज कहते थे। शतपथ के अनुसार समिध् प्रयाज आदि पॉच प्रयाज् इस प्रकार है-

(1) समिधो यजति
(2) तनूनपात यजति
(3) बर्हिर्यजति
(4) इडो यजति
(5) स्वाहाकार यजति।

{श0ब्रा0- 1/5/3/1-13, जहा इनकी तुलना पच ऋतुओं से की गई है।}

पच आज्याहुतियो से सम्पन्न होने के कारण शान्ति पर्व मे यज्ञ को "दशार्धहविराकृतिम्" कहा गया है।

{शान्ति पर्व- 47/27}

इसके बाद की तीन गौड आहुति अनुयाज कहलाती थीं। अनुयाज तीन हैं-

"त्रयोऽनुयाजाश्चत्वारो पत्नी सयाजा ।"
{शतपथ- 11/4/1/11}

काशिका मे भ्रमवश अनुयाज पॉच और पत्नी सयाज आठ लिखे है। दर्शपौर्णमास की दृष्टि मे तीन अनुयाजो के बाद यजमान पत्नी और चार पत्नी सयाज

आहुति देती है। बौधायन श्रौत आठ पत्नी सयाजो का भी उल्लेख है। पशुबन्ध यज्ञ मे प्रयाज और अनुयाजो की प्रत्येक सख्या ग्यारह है।

उपयज्-

यजुर्वेद मे ग्यारह छोटे मत्र भाग है- समुद्र गच्छ, स्वाहा इत्यादि उन्हे उपयज् कहा जाता है।

सामिधेनी-

ऋग्वेद मे ग्यारह ऋचाएँ है जिनका अग्नि प्रज्वलित करने मे उपयोग होता है। उनकी सज्ञा सामिधेनी थी, जिसका उल्लेख शतपथ में किया गया है। कभी-कभी बाहर से और ऋचा लाकर इसमें जोडते है, जैसे कहा है कि दृढ स्थिति की कामना करने वाले यजमान के लिए इक्कीस सामिधेनी का पाठ करे-

"एकविशतिमनुब्रूयात प्रतिष्ठाकामस्य।"

दक्षिणा-

यज्ञ कर्म करने वाले ऋत्विजो को दक्षिणा दी जाती थी उसके विभाग के विषय मे कुछ निम्न धर्मशास्त्र ग्रन्थों में दिये गये है। जिस यज्ञ की दक्षिणा होती थी उसी के नाम से दक्षिणा का नाम पडता था। जैसे- राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम यज्ञो की दक्षिणा राजसूयिकी, वाजपेयिकी, अग्निष्टोमिकी कहलाती थी। ज्ञात होता है कि प्रत्येक की न्यूनतम मात्रा लोक व्यवहार मे निर्धारित थी। जो ब्राह्मण योग्यता के कारण दक्षिणा का पात्र होता था वह दक्षिण्य कहलाता था।

तृतीय परिच्छेद

भिक्षु

ब्राह्मण ग्रन्थ के भिक्षु और नास्तिक धर्मों के भिक्षु दोनो का परिचय शतपथ मे दिया गया है। जिनके अध्ययन की परम्परा भिक्षुओ के प्राचीन आश्रमो मे या सम्प्रदाय मे थी, और दूसरी ओर मस्करी परिव्राजक का भी उल्लेख है जो सम्भवत मक्खनि गोसाल की ओर सकेत करते है। तापस, तपस्वी तप करने वाले भिक्षुओ के लिए प्रयुक्त होता था। शमी, दनी, योगी, विवेकी, त्यागी से सभी धार्मिक साधना के सूचक शब्द थे। शरीर और मन के सयम करने वाले दान्त और शान्त कहलाते थे।

भिक्षुओं की वृत्तियॉ-

अपनी भिक्षा वृत्ति में जो सब का अन्न स्वीकार कर ले वह सर्वान्नीन भिक्षु कहलाता था। इससे सूचित होता है कि कुछ लोग भिक्षुक बनकर भी जाति-पॉति का विचार बनाए रखते थे। कुछ भिक्षु उच्छ वृत्ति से निर्वाह करते थे। ऐसे भिक्षु कुछ काल के लिए अन्न का सग्रह रख लेते थे। मनु ने लिखा है कि वसन्त और शरद मे जो दो फसले होती हैं, उनमे मुनि अपना अन्न सग्रह करके रख लेता है। शरद् ऋतु मे पुराने अन्न की जगह नया अन्न सग्रह रखा जाता था। भिक्षु को चाहिए कि वह आश्वयुज मास में अपने वस्त्र और अन्न दोनो को नया कर ले। ये ही नये कहलाते थे।

नैकटिक वह भिक्षु था जो वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण कर लेता था किन्तु गॉव बस्ती के निकट ही निवास करता रहता था। इसकी ध्वनि यह है कि वह अरण्यवास नहीं करता था। यो तो मुनि के लिए अरण्यवास करना आवश्यक था। उत्तराध्ययन सूत्र में अरण्यवास मुनि का वाहरी लक्षण कहा गया है।

"न पि मुण्डिएण समणो आकारेण न बभणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसवीरेण च तापसो।।"
{उत्तरा0- 25/31}

महाभारत मे भी इसका समर्थन होता है-

"मौनाद्धि स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनि ।"
{उद्योग पर्व- 43/35}

कपटी भिक्षु-

कपटी भिक्षु दाण्डाजिनिक कहलाता था, जो दिखावे के लिए दण्ड और अजिन धारण करता हो। एक प्रकार के कपटी भिक्षु आय शूलिक कहे जाते थे। अर्थात् जो 'अय शूल' उपाय से अपना काम चलावे। पतञ्जलि ने इस प्रकार लिखा हे- यदि अय शूल का शाब्दिक अर्थ लोहे का शूल लिया तो आय शूलिक शिव भागवत भिक्षुओं के लिए भी प्रयुक्त होने लगेगा जो लोहे का त्रिशूल रखते है।

मस्करी-

मस्करी शब्द परिब्राजक के लिए आया है। मस्करी का अर्थ मक्खलि गोसाल से है, जिन्होने आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। पतञ्जलि ने यही स्पष्ट अर्थ लिया है- "मस्करी वह साधु नहीं है जो हाथ मे मस्कर या बॉस की लाठी लेकर चलता हो। फिर क्या है- मस्करी वह साधु कै जो उपदेश देता है कि कर्म मत करो शान्ति का मार्ग ही श्रेयकर है-

"न वै मस्करोऽस्यातीति मस्करी परिब्राजक कि तर्हि। माकृत कर्माणि माकृत कर्माणिशान्तिर्व श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिब्राजक ।"

{भाष्य- 6/1/154}

यह निश्चित रूप से मक्खलि गोसाल के कर्मापवाद सिद्धान्त का उल्लेख है। वे कर्म या पुरुषार्थ की निन्दा करके नियति या भाग्य को ही सब कुछ मानते थे।

श्रमणा-

श्रौत सूत्रो मे श्रमण का प्रयोग भिक्षु मात्र के है। बौधायन मे मुनि को श्रमण कहा है, और लिखा है कि सरस्वती नदी मे घुटने भर पानी मे खडा होकर अग्नि के लिए पुरोडाश अर्पित करे। पतञ्जलि ने श्रमण को ब्राह्मण का उल्टा माना है और दोनों मे कभी न मिटने वाला बैर बताया है।

"येषा च विरोध शाश्वतिक इत्यस्यावकाश श्रमण ब्राह्मणम्।"

{भाष्य- 2/4/9}

चीवर-

भिक्षु का वेश चीवर था। चीवर धारण करने वाला भिक्षु बन जाता है। बौद्ध साहित्य मे चीवर केवल भिक्षुओ के लिए आता है।

अर्हत-

प्रशसा योग्य पुरुष के लिए अर्हत शब्द सिद्ध किया गया है। अर्हत की अवस्था को आर्हन्त्य कहते थे।

यायावर-

बौधायन धर्म सूत्र ये ज्ञात होता है कि यायावर वे भिक्षु थे जो उत्तम जीविका से निर्वाह करते हुए शाला या घरो मे रहते थे। जब यात्रा मे होते है तब भी यायावर लोग रूक कर अग्नि होत्र करते थे।

"तत्रो दाहरन्ति यायावरा ह वै नामर्षय आसस्तेऽध्वन्यश्राम्यस्ते मजुहवु ।"
{बौ0 श्रौ0- 24/31}

वे अपने को तपस्वी और ऋषि मानते थे। सम्भवत यही वैखानस भिक्षु थे जो पत्नी के साथ वानप्रस्थ आश्रम मे रहते थे।

चतुर्थ परिच्छेद

धार्मिक विश्वास और आचार

धार्मिक जीवन मे चन्द्रायण आदि व्रतो का समावेश हो चुका था। जिसने अपने जीवन मे चन्द्रायण व्रत किया हो वह चन्द्रायाणिक नाम से प्रसिद्ध होता था। ऐसे ही मत्र जप को अपना स्वभाव बना लेता वह जजपूक कहलाता था। कभी-कभी दिखावे के लिए विप्रदुष्ट भाव से भी ऐसा किया जाता था। जो व्यक्ति स्थडिल पर शयन करने का व्रत ले वह स्थडिल कहलाता था। पारायण करते समय अथवा यज्ञ के समय बेदि के स्थडिल पर ऐसा व्रत किया जाता था। उस अवसर पर मौन व्रत का भी आश्रय लेते थे, अथवा मत्र या जप के समय अन्य शब्दों का उच्चारण न करते थे। गृहस्थो के आचार मे देवताओ को प्रसन्न करने के लिए नाना प्रकार की बलि देने की प्रथा आरम्भ हो गयी थी। कुबेर को दी हुई बलि कुबेर बलि और चार महाराज देवताओं की बलि महाराज बलि कही जाती थी। बैदिक स्थालीपाक रूप हवि और लौकिक बलि इन दोनो के सम्मिलित से गृहस्थ धर्म मे देवताओं के उत्सव के लिए किसी दिन पूडी पकवान और कडाही आदि करने का रिवाज चल पडा था। पीछे यह स्मार्त धर्म का प्रिय लोकाचार बन गया।

श्राद्ध-

काब्यवाहन अग्नि मे पितरों के लिए अन्न की आहुति दी जाती थी। पितरो को देवता कहा गया है। 'सास्य देवता' मान कर उन्हे जो हवि दी जाती है उसे पित्र्य हवि कहते थे। आश्विन कृष्ण पक्ष को पितृ पक्ष या शरद ऋतु मे महालय श्राद्ध को शारदिक श्राद्ध कहते थे। श्राद्ध मे भोजन करने वाला ब्राह्मण श्राद्धी कहलाता था। कात्यायन ने कहा है कि जिस दिन श्राद्ध भोजन किया हो उसी दिन के लिए यह विशेषण था-

"समान काल ग्रहणम्।"

आज खाया हो तो कल उसी व्यक्ति को श्राद्धी नहीं कहा जाता।

"अद्य भुक्त श्राद्धेश्व श्राद्धिक इति माभूत्"
{भाष्य}

श्राद्ध भोजी ब्राह्मण को उसी दिन अपराह्न या रात्रि मे कुछ जप आदि के द्वारा आत्म सस्कार विहित था। गुरुकुल का जो ब्रह्मचारी श्राद्धिक होता वह उस दिन अनध्याय रखकर जप करने के कारण उसी दिन के लिए विशेष शब्द से अभिहित होता था।

धार्मिक कृत्यो मे मुण्डन की प्रथा थी। मुण्डन कराने वाला मद्रकर या मद्रकार कहलाता था।

लोक विश्वास-

ज्योतिष के फलाफल द्वारा भविष्य कथन मे लोगो का विश्वास था, जैसे देवदत्ताय ईक्षते, अर्थात् ज्योतिषी देवदत्त की कुण्डली का फल विचार रहा है। ऐसे ही शरीर के चिन्हो से फल विचार भी माना जाता था। यह अग विद्या का विषय था जिसका छान्दोग्य उपनिषद और ब्रह्मजाल सुत्त मे उल्लेख है। उन्हे पुष्याह या पुष्यरात्र कहते थे। सुकर्म से पुण्य फल मिलता है, इस प्रकार का विश्वास और तद्नुसार क्रिया की भी प्रथा थी। अच्छे-बुरे कर्मों को करने वालों के लिए भाषा मे विशेष शब्द चले गये थे जैसे पुण्यकृत, सुकर्मकृत, पापकृत। उसे प्रकट करने के लिए भाषा मे इस प्रकार प्रयोग होता था।

"स्वय ह रथेन याति उपाध्याय पदाति गमयाति।"

अर्थात् ह आपभात रखता है, गुरु को सत्तू खिलाता है।

भ्रूण हत्या और ब्रह्म हत्या आदि जैसे महापातको का भी उल्लेख है।

नैतिक गुण-

उपनिषद् युग में तप श्रद्धा जैसे महान् गुणो के अनुसार सयम प्रधान जीवन व्यतीत करने का आदर्श सुपूजित हो चुका था, जैसे- "तप श्रद्धे ये उपवसन्त्यरण्ये।" वेदमत्र मे भी इस प्रकार के भाव है।

"व्रतेन दीक्षा माप्नोति दीक्षयात्नोति दक्षिणाम।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।"
{अथर्ववेद}

अथवा

"सत्य बृहदृत मुग्र दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवाधारयन्ति।"
{अथर्व0- 12/1/1}

प्रज्ञा, श्रद्धा, तप, त्याग, विवके, धर्म, शम, दम ये जीवन के प्रकृष्ट गुण थे, उन्हे धारण करने वाले व्यक्तियो के लिए विशिष्ट शब्द भाषा मे चले गये थे। जैसे-

प्राज्ञ-प्रज्ञावान, श्राद्ध-श्रद्धावान, तपस्वी, त्यागी, विवेकी, योगी, शमी, दमी, धर्मी आदि। इस जीवन और परलोक के लिए पुण्य कर्मो का विधान करने वालो के लिए दो विशिष्ट शव्द इष्टी, पूर्ती प्रयुक्त होने लगे थे। ऐसे कार्यो मे धन लगाना उपयोग कहलाता था। जैसे- "सहस्र प्रकुरुते, सहस्र विनयते।"

धर्म-

जो धर्म या आचार के अनुकूल होता था उसे धर्म्य कहते थे। शुल्कशाला मे जो चुगी लगती थी उसे भी धर्म्य कहा गया है। क्योकि इस प्रकार के बधन पीढी दर पीढी के रिवाज से लोक मे चले आते थे।

धर्म शब्द का दूसरा प्रयोग नीति धर्म के लिए है, जो उसका प्रसिद्ध अर्थ है। जैसे-

"धर्म चरति धार्मिक ।"

दार्शनिक दशा

ज्ञान का नया आदर्श-

ल्गभग दसवीं शती ई0 पूर्व से पॉचवीं शती ई0 पू0 तक महाजनपद युग भारतवर्ष मे अभूत पूर्व ज्ञान मन्थन का काल था। इसी समय कितने ही शास्त्रो की नई उद्भावना हुई। यही आद्य आचिख्यासा अर्थात् प्रतिभाशाली मस्तिष्कों से ज्ञान का स्वतत्र उद्भव था। इसी समय व्याकरण, निरुक्त आदि शास्त्रो का जन्म हुआ। जिसके अर्न्तगत शाकटायन, यास्क, औदव्रजि, अपिशलि, औटुम्बरायण, शाकल्य, वैशम्पायन आदि आचार्यों ने विद्या के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण मौलिक कार्य किये। श्लोकों के निर्माण का भी बहुत कार्य हुआ। महाभारत का विपुल अश इसी युग का है। काव्य विज्ञान, नाट्य आदि के अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य इस समय हुआ वह दर्शन के क्षेत्र मे था।

थ्वभिन्न तत्व ज्ञानियो ने जगत्, जीव ईश्वर के विषय मे मनुष्य के जीवन, उसके कर्तव्य, नीतिधर्म एव सामाजिक समस्याओ एव दु ख-सुख के महती समस्या के विषय मे मौलिक चिन्तन किया। यह सब उथल पुथल बहुत ही कल्याण प्रद हुई। भारतीय ज्ञानाकाश में मानो ज्ञान के एक नए अधि देवता का जन्म हो गया।

ज्ञ-देवता-

ज्ञ-देवता का उल्लेख उपनिषदो से आरम्भ होता है-

"ज्ञ कालकालो गुणी सर्वविद्य ।"

{श्वेता०उ०- 6/2}

"यह ज्ञ शतपथ काल की परिभाषा में क्षेत्रज्ञ पुरुष की सज्ञा थी। जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है। वही यह देखने वालना ज्ञाता या उपयोग करने वाला है। और इसे ही साख्य शास्त्र मे "पुरुष" या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते है।"

{लोक मान्य तिलक-गीता रहस्य- 162 पृ०}

इस क्षेत्रज्ञ पुरुष या ज्ञ पुरुष की खोज की उपनिषद युग का सर्वोपरि आदर्श था। ज्ञ देवता को काल-काल क्यो कहा गया, इसका कारण यह था कि ज्ञान साधन के क्षेत्र मे उस समय अनेक मत वाद थे। जिनकी सूची श्वेता० उप० में है, जैसे- कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्दावाद, भूतवाद, योनिवाद, आत्मवाद आदि। इन वादों का दार्शनिक सग्रह महाभारत के दार्शनिक सग्रह महाभारत के शान्ति पर्व में पाया जाता है, जो शतपथ युग के तत्व विचार का एक सारभूत सग्रह बच गया है। इन वादो मे पहला कालवाद है। कुछ लो काल को सर्व शक्तिशाली देव मान कर उसे ही सृष्टि का पर्याप्त कारण मानते थे। किन्तु क्षेत्रज्ञ वादी लोगो का कहना था कि क्षेत्रज्ञ पुरुष काल आदि अन्य कारणों का भी कारण है। जिन व्यक्तियों ने तत्व दर्शन के इस आन्दोलन में विशेष भाग लिया वे भी ज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुए। यूनान देश मे लगभग समकालीन तत्व ज्ञान के क्षेत्र में जो अग्रणी थे वे सोफिस्ट कहलाते थे। वैसे ही इस देश में 'ज्ञ' थे। पतञ्जलि ने 'ज्ञ' नामक ब्राह्मणों का उल्लेख किया है, जो 'ज्ञ' देवता या तत्व ज्ञान के आन्दोलन के प्रतिनिधि थे। आगे चलकर उनके परिवार मे उपनिषद युग की ये परम्पराये प्रतिपालित हुई हो, ऐसा मानना स्वाभाविक है। पतञ्जलि ने उनका उल्लेख किया है। ये ही परिवार उस समय तक 'ज्ञ' देवता के लिए स्थाली पाक बनाकर उसकी पूजा करते थे। इस औपचारिक पूजा मे ज्ञन के अधिदेवता का वह मौलिक स्वरूप जो उपनिषद और शान्तिपर्व के युग में था कितना सुरक्षित था, नहीं कहा जा सकता।

शतपथ काल मे दार्शनिक या तत्व चिन्तकों के विचार के लिए बौद्ध जैन साहित्य मे दिट्ठि शब्द मिलता है। इसके मूल मे वही दृश् धातु है जिससे दर्शन शब्द बनता है।

उस युग मे बौद्धिक मथन ने अनेक सख्यक मत को जन्म दिया था। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त मे जैन आगमो मे एव महाभारत के शान्ति पर्व मे इनका विस्तृत वर्णन आता है। मतियो की सूची श्वेताकार उपनिषद मे दी गयी है- कालवाद,

स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, पुरुषवाद शतपथ काल को सृष्टि कारण मानकर व्याख्या करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का पर्याप्त विस्तार हो चुका था। अथर्ववेद के काल सूक्त मे उसके सिद्धान्त है। महापरियाय जातक कालवाद का निरुपण है। शान्ति पर्व मे उसका और विशद रूप है। नक्षत्र और ऋतु भी देवता माने जाने लगे। कालवादी दार्शनिकों को ही अहोरात्रिविद कहते थे।

इसके बाद स्वभाव को सृष्टि का कारण मानते वाले थे। इसके समकक्ष पूरण कस्सप का प्रक्रियावाद का सिद्धान्त था। इसे ही शाश्वत वाद भी कहते थे। सब कुछ अपने स्वभाव से सदा से ऐसे ही हो रहा है, कोई न करने वाला है, न कारण है, ईश्वर की कहीं आवश्यकता या अवसर नहीं है। यदृच्दावाद के मानने वाले अहेतुवादी दार्शनिक थे। बिना किसी हेतु के आकस्मिक सयोग से यह जगत बन गया है। भूतवाद के प्रतिनिधि लोकायत दर्शन के अनुयायी थे, जो पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चारो भूतो से सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे। नियतिवाद के प्रर्वतक आचार्य मक्खल गोसाल थे। योनिवाद उस मत की सज्ञा थी जिसमे जन्म को ही सब कुछ माना जाता था। ब्राह्मण कुल मे या क्षत्रिय कुल मे जन्म लेने से ही मानव के जीवन की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है। यही इनका मत था। बल से ही व्यक्ति और समाज का नियमन और सचालन होता है। इनका यही दृष्टिकोण था। अन्त मे पुरुष या देव की शक्ति को सृष्टि का कारण मानने वाले थे जिन्हे जातको मे इस्सर कारण वादी कहा गया है।

श्वेताश्वर उपनिषद मे पुरुषवाद के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों को परिमुह्यमान् अर्थात् भ्रान्त मत वाले कहा गया है। पुरुष या ईश्वर को कारण मानने वाले लोग जिनके दर्शन और सम्प्रदाय दोनो अत्यन्त पल्लवित और विस्तृत थे। आस्तिक मतवाले आचार्य हुए। पुरुष सूक्त में इसी मत का विवेचन है।

> "वेदाहमेत पुरुष महान्त मादित्य वर्णं तमस परस्तात्।
> तमेव विदित्वादि मृत्युमेति नान्य पन्थाविद्यते अयनाय।।"

इस कथन की जो शक्ति है उससे इस दर्शन के आत्म विश्वास और उच्च स्थान का पता चलता है। ईश और अनीश सज्ञक दो सुपर्ण जो एक ही अश्वत्थ वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए है, अथवा क्षर और अक्षर नामक दो पुरुष अथवा क्षेत्रज्ञ पुरुष जो क्षेत्र का अधिष्ठिाता है- ये सब ऊहापोह पुरुषवाद या आस्तिक मति के ही विविध पक्ष थे। एक मूल विचार धारा कई रूपो मे फुटाव ले रही थी। मूलभूत साख्य के अज और अजा की कल्पना से आरम्भ करके इस दर्शन का पर्यवसान वेदान्त दर्शन मे हुआ। पुरुष या अध्यात्मवाद ने और छोटे-छोटे वाद या मतियो को अपने मे समेट लिया। प्राणवाद, ज्योतिवाद, व्योमवाद आदि कितनी ही मतियो का समावेश या समन्वय वेदान्त पुरुषवाद में हो गया। पुरुष ही इन सब विविध कारणो का एक मात्र अधिष्ठिाता है। प्रकृति और सृष्टि के

विषय मे जो और बहुत से मत उत्पन्न हुए थे वे आस्तिक धारा मे मिल गए और भार्तीय दर्शन का प्रमुख सस्थान आस्तिक वाद के ही आदर्श मे अर्न्तभूत हो गया।

नास्तिक मत के अर्न्तगत एक सम्प्रदाय बहुत तगडा था जिसे सब से अलग नाम से पुकारा जाता था। वह मक्खलि गोसाल का नियतिवाद था। वे कर्म ओर मानुषी पराक्रम का खण्डन या उपहास करते थे। पतञ्जलि ने निश्चित शब्दो मे उनके मत का उपन्यास कियाा है-

"माकृतकर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्व श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिब्राजक ।"

अर्थात् मस्करी परिब्राज का वह नाम इसलिए था क्योंकि वह कहता था- कर्म मत करो, बिल्कुल कर्म मत करो, शान्ति से ही मोक्ष मिलेगा। बौद्ध और जैन साहित्य मे मक्खलि के जीवन और मत का विस्तृत उल्लेख है। ये लोग आजीवक कहलाते थे। बुद्ध मक्खलि के मत को सबसे भयकर मानते थे। महाभारत शान्ति पर्व मे इन आचार्यो की पृथक-पृथक मतो का ही विस्तार से वर्णन है। वहॉ कहा गया है कि नियतिवादी मत के पॉच सिद्धान्त थे- सर्वसाम्य, अनायास, सत्यवाक्य, निर्वेद (कर्म के प्रति नितान्त उपेक्षा), अविवित्सा (आत्मा आदि के विषय में बौद्धिक प्रयत्न का भी परित्याग)। पतञ्जलि ने जो बार-बार "मा कर्म कार्षी" कहा है, उसका लक्ष्य शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार के कर्मों का निराकरण है। महाभारत में मक्खलि या मखलि को गकि के रूप में चिन्हित किया है। कथा है कि मकि षि पहले पुरुषार्थवादी थे, किन्तु भाग्य उनका साथ न देता था। उन्होने अन्तिम वार पुरुषार्थ करके सफल होने का दृढ सकल्प किया। सब कुछ बेच कर एक जोडी बैल खरीदे और उन्हें नाध कर खेत को चले। मार्ग मे एक ऊँट बैठा हुआ था। वह बछडों को देखकर भडक गया, और एकाएक उठ कर भागा। दोनो बछडे उसकी गर्दन में लटक गये। मकि ऋषि विलाप करते हुए उसके पीछे भागे। तब उन्होंने अपना अनुभ वाक्य कहा-

"मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्ध हि दैवमेवेद हठे नैवास्ति पौरुषम्।।"

ये ही लोग दैष्टिक या भाग्यवादी थे। महाभारत में धृतराष्ट्र और ययाति को नियतिवादी या दैष्टिक मतानुयायी कहा है।

लोकायत-

ये लोग भूतवाद और उच्छेदवाद के मानने वाले थे। इनके दर्शन का लोक मे सबसे अधिक प्रचार होने से सभवत ये लोकायत कहे गये। कौटिल्य ने लोकायतो का उल्लेख किया है। दीघनिकाय मे भी उनका नाम है। लोकायत मत का एक पडित ब्राह्मण

बुद्ध से प्रश्न करता है। अन्यत्र जातक मे कहा है- "ने सेवे लोकायतिकम्" काम सूत्र मे एक लोकोक्ति है- "वर साशयिकान्निष्कादसाशयिक कार्षापण इति लोकायतिका ।"

{काम0- 1/2/30}

खुटके के निष्क से (सोने का सिक्का) वे खुटके का कार्षापण (चॉदी का सिक्का) अच्छा है। इससे लोकायतिको की प्रत्यक्ष जीवन में आस्था का आभास मिलता है। भागुरि का मत लोकायतो की वानगी है। लोकायत शास्त्र के उद्भट पण्डितो की सज्ञा चार्वी थी। दुर्योधन का मित्र एक लोकायतिक था। दशरथ का एक मत्री जाबालि लोकायत मनानुयायी था। लोकायत सप्रदाय अति प्राचीन था।

योग की शब्दावली मे यम, नियम, सयम और योगी एव न्याय मे निग्रह अनुयोग का उल्लेख किया गया है।

शुद्ध दार्शनिक के धरातल पर विचार करते हुए कात्यायन ने लिखा है कि सर्वचेतनाग्त्व के सिद्धान्त से सबको चेतन मानकर चेतन और जड का भेद करना अनुचित है। पतञ्जलि ने प्राचीन प्रयोगो की पृष्ठ भूमि में लिखा है कि आत्मा शब्द के दो अर्थ है, शरीरात्मा और अन्तरात्मा। शरीरात्मा या शरीर शब्द मे प्रवृत्त होता है, पर दु ख सुख का अनुभव करना पडता है।

स्थूल शरीर द्वारा दु ख-सुख का अनुभव इन दोनों पक्षो के पीछे जो दार्शनिक मत है उनका अनुसधान आवश्यक है। न्याय सूत्रों मे दु ख को प्रतिकूल वेदनीय और सुख को अनुकूल वेदनीय कहा गया है। इसे हम दार्शनिक पृष्ट भूमि की सूचक कह सकते है।

महेन्द्र-

इन्द्र के लिए मरुत्वत, मघवन, वृत्रहन इन प्राचीनो वैदिक नामों के अतिरिक्त महेन्द्र नाम भी आया है। महेन्द्र या महान् इन्द्र की कल्पना का आधार कुछ इस प्रकार है।

"शतपथ ब्राह्मण मे कुछ शरीरस्थ पच प्राणो को समृद्धि और सचालित करने वाले इन्द्र नामक मध्य प्राण की कल्पना की गई है।"

{शतपथ- 6/1/1/2}

यह मध्य प्राण ही इन्द्रियो को प्रेरित करता है। ब्राह्मण और उपनिषदों मे इन्द्र और इन्द्रियो के सम्बन्ध मे विविध कल्पना पाई जाती है। इसी से पच इन्द्रियों को इन्द्र

की पॉच शक्तियॉ माना गया और उन पॉच प्राणो को पचेन्द्र के रूप मे कल्पित किया गया। महाभारत मे पॉच इन्द्रो का उल्लेख आया है-

"पाण्डो पुत्रा पच पचेन्द्र कल्पा ।"

अर्थात् पाण्डु के पॉच पुत्र पॉच इन्द्रों के समान है।
{उद्योग पर्व-33/103}

पच प्राणों के अधिपति मुख्य प्राणो को जैसे- मध्य प्राण कहा गया, वैसे ही पॉच इन्द्रो मे प्रधान शक्ति को महेन्द्र यह नाम दिया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों की अध्यात्म ऊहापोह मे इस प्रकार की विचार सरणि जन्म ले रही थी।

"यास्क ने इन्द्र की पन्द्रह व्युत्पत्तियॉ सगृहीत की हैं जिनका आधार इन्द्र और इन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध का विविध दार्शनिक कल्पना या मान्यताऍ थीं।"
{निरुक्त- 10/8}

इन्द्रियॉ इन्द्र के बाह्य लिग या प्रतीक हैं। मैत्रायणी उपनिषद मे यह अर्थ आया है। जब तक इन्द्रियॉ स्व कार्य में प्रवृत्त रहती हैं, इन्द्र का शरीर में निवास सूचिक करता है।

"इन्द्र आत्मा स चक्षुरादिकरणेनानुमीयते। नाकर्तृक करणमस्ति।"
{काशिका}

"आरम्भ मे असत् नामक ऋषि थे। वे प्राण थे। अमूर्त प्राण ने शरीर मे प्रवेश किया वही इन्द्र है। वह स्वशक्ति से इन्द्रियों को सचालित करता है, जो उसकी आध्यात्म सत्ता के चिन्ह है।"

{शतपथ- 6/1/1/2}

इन्द्रियॉ इन्द्र से दृष्ट हुई है अर्थात् इन्द्र ने उनका अनुभव किया यास्क के अनुसार यह आचार्य औपमन्यव का मत था-

"इदम् दर्शनाद् इति औपमन्यव ।"

ऐतरेय आरण्यक मे भी सही मत है-

"इदम् आदर्श तस्मात् इन्द्रो नाम।"
{3/14}

इस शरीर मे आते ही इन्द्र ने इन इन्द्रियो को देख लिया अर्थात् उनकी सत्ता का अनुभव कर लिया इसी से वह इन्द्र कहलाया। इदन्द को ही इन्द्र कहा गया। यही परोक्ष शैली है।

"तमिदन्द्र सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्ष प्रिया वै देवा प्रत्यक्ष द्विष ।"

इन्द्रियो की सृष्टि इन्द्र ने की। यास्क ने इसे आग्रायण का मत कहा हे-

"इद करणादिति आग्रायण ।"
{नि0- 10/8}

ऐतरेय उप0 में इसी मत का उल्लेख है-

"ता एता देवता सृष्टा ।"
{ऐ0 2/1}

इन्द्र से जुष्ट अर्थात् प्रिय भाव से सह युक्त होने के कारण इन्द्रियो का यह नाम पडा। जब इन्द्र इन्द्रियों के साथ रहता है, बहिर्मुख होता है, तब वह सबसे अधिक प्रसन्न रहता है।

"इन्द्र के प्रिय पान सोम का सचय इन्द्रिय रूपी पात्रों मे होता है। वहीं से वह इन्द्र को प्राप्त होता है।"
{ऐतरेय ब्रा0- 2/26}

इन्द्रियो का सोम ग्रह कहा गया है। यास्क ने भी लिखा है कि इन्द्र की सबसे अधिक प्रसन्नता सोमपान से होती है। इन्द्र और इन्द्रियों का जो अत्यन्त रमणीय या सुखद सम्बन्ध है उसी का सूचक इन्द्र है।

इन्द्र ने इन्द्रियो को अपने विषय का भोग प्रदान किया है। इसी सम्बन्ध से वे इन्द्रियॉ कहलाती हैं। ऐतरेय उपनिषद मे यह कथा है- सब देवता इस पुरुष में प्रविष्ट हुए। तब उस इन्द्र या आत्मा ने उससे कहा, ' अपने-अपने स्थान मे प्रतिष्ठित है। यथा नियत स्थानों में बैठे हुए वे देव आज भी अपना-अपना कार्य कर रहे हैं।

इन्द्र की कुल सत्रह व्युत्पत्तियॉ प्राचीन बैदिक साहित्य और निरुक्त मे आई हैं।

परलोक-

परलोक और पारलौकिक जीवन की सिद्धि इसी जीवन में तप आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती है, इस प्रकार के विश्वास और प्रयत्न की भावना थी। जैसे- "तप तापस सेधयति" अर्थात् तप तपस्वी को सिद्ध बनाता है। तपस्वी ज्ञान विशेष की प्राप्ति से जन्मान्तर के विषय मे सिद्धि प्राप्त करता है।

"तापस सिध्यति। ज्ञानविशेषमासादयति। त तप प्रयुक्ते। स च ज्ञान विशेष उत्पन्न परलोके जन्मान्तरे फलमभ्युदयलक्षणमुपसहरनू परलोक प्रयोजनो भवति।"

{काशिका}

इस प्रकार परलोक या स्वर्ग आदि की सिद्धि को सम्भव माना गया है। उसकी प्राप्ति के लिए इस लोक मे जो दान दक्षिणा आदि दी जाती थी वह लिप्स्यमान कहलाती थी। उससे स्वर्ग आदि की प्राप्ति का प्रलोभन यजमान को दिया जाता था। जैसे-

"यो भक्त ददाति य स्वर्गं गच्छति।"

अर्थात् जो भोजन देगा वही स्वर्ग जायेगा। वेद में स्वर्ग के लिए नाक शब्द का भी प्रयोग है। शतपथ मे नाक की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

"न+अक् अर्थात् नहीं है दु ख जहाँ वह नाक है।"

{शतपथ ब्रा0- 8/4/1/24}

उपनिषद युग का मोक्ष के परम् आनन्द के लिए नया शब्द था। काशिका मे- निर्वाणोऽग्नि, निर्वाणोदीप, निर्वाणो भिक्षु। इन तीनो में ध्वनि है कि निर्वाण नितान्त अभाव की दशा का नाम था। दीप या अग्नि के समान भिक्षु का अस्तित्व भी बिल्कुल 'बुझ' जाता है वही निर्माण प्राप्ति की अवस्था है। इस शब्द के अर्थ में बौद्ध धर्म की मान्यता अन्तर्निहित है।

अध्याय पंचम

राजनीतिक दशा

परिच्छेद प्रथम

एकराज प्रणाली

राजा-

शतपथ काल में राज्य और सघ दो प्रकार के शासन तत्र थे। राजा जिस तत्र मे अधिपति हो उसे राज्य कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण मे जिन शासन पद्धतियो का उल्लेख हैं, जैसे- भोज्य, साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य आदि उनमें राज्य का भी परिगणन है। एक जनपद की भूमि पृथ्वी और वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था, इसके विपरीत उससे विस्तृत भू-प्रदेश या समस्त देश के लिए सर्व भूमि शब्द था, जहाँ का अधिपति सार्वभौम कहलाता था। दीघ निकाय के महागोविन्द सुन्त में सर्वभूमि को ही महापृथ्वी कहा गया है। उसमे महापृथ्वी का सीमा विस्तार पूर्व में कलिग से पश्चिम में सौवीर तक माना है। इससे निश्चित ज्ञात होता है कि महापृथ्वी या सर्वभूमि सज्ञा उस युग में समस्त देश के लिए प्रचलित थी। अपने जनपद के राज्य से आगे बढकर जो राजा अनेक जनपदों तक अपने राज्य का विस्तार करता वह साम्राज्य पदवी का अधिकारी होता था, और सर्वभूमि के अधिकतम क्षेत्र का अधिपत्य प्राप्त करता वह सार्वभौम कहलाता था। आदि पर्व में भरत को सार्वभौम राजा सर्वपृथिवी विजय के अनन्तर अश्वमेध करने का अधिकारी होता था। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची मे भी सार्वभौम शब्द आता है।

राजा के लिए ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्द आये है। भाष्य मे एक उदाहरण है- "अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाला।" अर्थात् पचाल जनपद ब्रह्मदत्त राजा के अधिकार में है, या इसे यो भी कह सकते थे- "अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्त।" अर्थात् पचाल जनपद में ब्रह्मदत्त राजा है।

ईश्वर शब्द के सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन साहित्य में प्राय वह राजा या पृथिवीपति के लिए प्रयुक्त हुआ है भगवन् के लिए नहीं। भाष्य में राजा को ईश्वर का पर्याय कहा है। जिस पुरुष मे ऐश्वर्य रहे वह स्वामी कहलाता था। ईश्वर या राजा की अधिका शक्ति या वर्चस्व को ऐश्वर्य कहते थे। पतञ्जलि ने कहा है कि स्वामी शब्द मे ऐश्वर्य का अर्थ उस शब्द का प्रातिस्विक अर्थ है। ज्ञात होता है कि ऐश्वर्य स्वामी आरम्भ मे राजा के लिए ही प्रयुक्त होता था।

राजा को भूपति भी कहा जाता था। इस शब्द मे भी ऐश्वर्य उसके पतित्व या आधिपत्य की विशेपता थी। अतएव भूपति का अर्थ साधारणत भूमि का स्वामी ऐसा नही था, अन्यथा वह किसान आदि के लिए भी प्रयुक्त हो जाता। किन्तु पृथ्वी के स्वामित्व की ईश्वरता या ऐश्वर्य जिसमे हो वही भूपति कहलाता था। यह स्थिति राजा की ही थी। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची मे आधिपत्य एक प्रकार की शासन प्रणाली की सज्ञा थी। पडोसी जनपदो पर उस प्रकार का अधिकार जिसमे वे अधिपति को कर देना स्वीकार करे, आधिपत्य कहलाता था। महाभारत मे साम्राज्य को कृत्सनभात् कहा गया है, अर्थात् वह शासन प्रणाली जो औरो के स्वत्व या अधिकारो को छीन कर आत्मसात कर लेती है, एव साम्राज्य मे विलीन होने पर पुन उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता। महाराजा का दो बार उल्लेख है। महाराज प्राचीन राजनीति का पारिभाषिक शब्द भी था और एक गणराज्य का नाम भी था।

मन्त्री परिषद-

सामाजिक परिषद गोष्ठी या समाज की भॉति मनोरजन की सस्था थी जिसमें सम्मिलित होने वाले सदस्य पारिषद्य कहलाते थे। राजनीति से सम्बन्धित परिषद वस्तुत मत्री परिषद सस्था थी। जो राजा परिषद के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे, उनके लिए “परिषद्वलों राजा” यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा मे प्रयुक्त होता था।

बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेख मे आता है। महासीलव जातक में राजा के अमात्यो की परिषद् को सुविनीत कहा गया है। सुविनीता शब्द भी राजनीतिक परिभाषा से सम्बन्ध रखता है। विनय से युक्त मन्त्रि परिषद ‘विनीत’ कहलाती थी। सब मन्त्री अपने कार्य सम्पादन में राजनीतिक अनुशासन से युक्त होते थे। अशोक ने लिखा है कि आवश्यक कार्यों पर विचार करने के लिए परिषद का अधिवेशन तुरन्त बुलाना चाहिए। अर्थशास्त्र मे मत्रि परिषद के सगठ के विषय मे पूरा विवरण दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि राजतत्र मे उस समय परिषद का निश्चित स्थान और अधिकार माना जाता था। मन्त्रि परिषद के साथ कार्य करने वाला राजा इस अर्थ के द्योतन करने वाला परिषद्वलों राजा यह सटीक शब्द भाषा में चला गया था।

राजकृत्वा-

वैदिक युग में जिन रत्नी नामक अधिकारियों को “राजकृत” या राजा के बनाने वाला कहा जाता था। बौद्ध साहित्य मे भी यह शब्द मिलता है। दीघ निकाय में मन्त्रियो को राजकर्ता कहा गया है।

“राजकत्तारो, महागोविन्दसुत्तन्त।”

रामायण मे भी मन्त्रियो को काजकर्त्तार कहा है।

"ससेत्य राजकर्तारो भरत वाक्यमब्रुवन।"
{अयोध्या- 69/1}

मुख्यमत्री या आर्य ब्राह्मण-

आर्य कुमार शब्द युवराज के लिए और आर्य ब्राह्मण मुख्य मत्री के लिए प्रयुक्त हुए है। कर्मधारय समास में राज ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण जाति का राजा ऐसा लिया जाता था। उसी का प्रत्युदाहरण तत्पुरुष समास में राज ब्राह्मण शब्द राजा के ब्राह्मण अर्थात् मुख्यमत्री का वाचक था। राजा का ब्राह्मण वही था जिसका उल्लेख शतपथ मे आया है। जो राजा ब्राह्मण के साथ सन्धि करता था उसके लिए भाषा में इस सार्थक शब्द का प्रयोग चालू हुआ था। इस सम्बन्ध मे तीन प्रश्न हैं- किस ब्राह्मण के साथ और किस प्रकार की सधि राजा करता था और यह किस युग की प्रथा थी। इन तीनों का उत्तर भारतीय राजतन्त्र के इतिहास की दृष्टि से इस प्रकार है-

आर्य ब्राह्मण मन्त्रि परिषद या पाली शब्दो में "अमच्च परिसा" में सर्व प्रधान मुख्य अमात्य होता था। आर्य उसकी पदूवी या सम्बोधन था। प्रत्येक परिषद्वल राजा का परिषद्वल विशेषण तभी तक सार्थक था जब तक वह परिषद के मुख्यमत्री या आर्य ब्राह्मण के साथ अपनी सन्धि का पालन करता था। यह राजतन्त्र में मत्रि परिषद की बडी विजय थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मत्रि परिषद कहने सुनने के लिए या राजा का निरकुश इच्छा का खिलवाड न थी। वह राजा पर सच्चा अकुश रखती थी और उसको भी अनुचित काम करने से हटा देती थी।

"अशोक और रुद्रदामा की परिषद इसके ऐतिहासिक उदाहरण वचे है। प्रियदर्शी अशोक ने राजकोष में से बौद्ध सघ को मात्रा से अधिक धन देना चाहा, तो परिषद ने रोक दिया। महाक्षत्रम् रुद्रदामा ने सुर्दशन तटाक के खण्ड स्फुटित सस्कार के लिए अत्यधिक धन का व्यय करना चाहा। यह व्यय यद्यपि प्रजा हित मे था, किन्तु परिषद ने इसे सीमित राजकीय द्रव्य पर बोझा समझा और रोक दिया। तब रुद्रदामा ने अपने निजी कोष मे से द्रव्य का विनियोग किया। परिषद का इस प्रकार की वास्तविक शक्ति का कारण यही पणबन्ध या सन्धि थी। यदि राजा उसे न माने तो परिषद उसे पदच्युत कर सकती थी। जैसा शुक्र ने अपने युग की तथ्यात्मक विचारधारा के आधार पर लिखा है।

राजा और ब्राह्मण के बीच की सधि के वास्तविक स्वरूप का यही सकेत हे। राजा राज्याभिषेक के समय पहले कठोर शपथ लेता था और तब राज्यासन पर बैठता था। ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक मे वह शपथ दी हुई है-

"राजा कहता था, जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है ओर जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी उन दोनो के बीच मे जो मेरी सतति, धन, आयुष्य और यश वह सब नष्ट हो जाय यदि मै प्रजाओ से द्रोह करू।" यह अभिषेक शपथ सविधान की कुजी थी। इसी के कारण राजा की परिभाषा चरित्रार्थ होती थीं-

"राजा प्रकृतिरजात् राजा प्रजा रजनलब्ध वर्ण ।"

शान्ति पर्व मे ही राजा का यह वर्णन आया है (29/139) 'प्रजा से द्रोह न करू' का निर्देशात्मक पक्ष यह था कि प्रजा का रजन करू। व्यवहार मे प्रजा रजन की कसौटी या मर्यादा क्या थी, यह उसी प्रकार थी जैसी आज है, अर्थात् मन्त्रि परिषद के साथ राजा का ऐश्वर्य भाव या राजा के पणबन्ध का सचाई। इसका स्वरूप वही था जो मनु लिखा है, अर्थात् राजा षाड्गुण्य के विषय मे अपने मुख्य मत्री से अवश्य परामर्श करे।
{मनु0- 7/58}

जब तक राजा मत्रि परिषद के परामर्श से शासन करता वह प्रजा रजन की कसौटी पर खरा उतरता, अर्थात् वह प्रजाओं से द्रोह न करने की अपनी अभिषेक शपथ का पालने वाला समझा जाता था।

प्रश्न यह है कि मुख्यमत्री के लिए ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्यो किया गया। यह उस युग की परम्परा थी कि त्यागी विद्वान राजा शास्त्रवेत्ता की मुख्यमत्री होते थे, और उनकी पद्वी ब्राह्मण होती थी। कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि "जिस क्षत्र को ब्राह्मण का समर्थन प्राप्त है जिसे अपनी परिषद के अन्य मत्रियों के परामर्श का लाभ प्राप्त है, जो शास्त्र का पालन करता है, वह अजित प्रदेशो को भी अपने विजित में ले आता है।"
{अर्थ0- 1/18}

जो पहले से ही उसके विजित में है उसकी दृढ स्थिति का तो कहना ही क्या। मुख्यमत्री जाति से ब्राह्मण हो, जैसा वह प्राय होता था, या न हो, इसका राजनीति की दृष्टि से अधिक महत्व न था, क्योंकि यहा जातिगत स्वत्व का प्रसग नहीं था, यहॉ तो राजनीति को प्रजा हित मे मर्यादित और सचालित करने वाले आर्य व्यक्ति को ढूढ निकालने वाले और उसके महनीय पद की सुरक्षा का प्रश्न था। कौटिल्य या मनु के समय में आर्य ब्राह्मण के पद का विकास वैदिक युग से चला आ रहा था। वहॉ स्पष्ट ही यह आदर्श व्यवहार मे मान्य था-

"ब्राह्मणा क्षत्रेण च श्री परिगृहीता भवति।"

अथवा

"यत्र ब्रह्म च क्षत्र च सम्यच्चौ चरत सह।"

मनु ने भी इस सिद्धान्त को ग्रहण किया था।
{9/322}

महाजनपद मौर्य युग तक राजा के साथ उसके प्रधानमंत्री का भी उतना ही महत्व था। साहित्य मे कई महामत्रियो के नाम बच गये है। जैसे- मगधराज अजातशत्रु के महामंत्री वर्षकार, कोशलराज विडूडम के महामंत्री दीर्घ चारायण, वत्सराज उदयन के महामंत्री यौगन्धरायण, मगधाधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के महामंत्री आर्य चाणक्य, अशोक के राधगुप्त, अवन्ति राजपालके के महामंत्री आचार्य पिशुन।
{अर्थशास्त्र- टीका}

"चड प्रद्योत के भरत रोहक, अवन्तिराज अशुमान के आचार्य घोटमुख।"
{भगवद्दन्त, भारतवर्ष का इति0, पृ0 258}

"कोशलराज परतप के कणिक भारद्वाज।"
{अर्थटीका}

"पचाल राज ब्रह्मदत्त के आचार्य बाभ्रव्य।"
{मत्स्य पुराण- 2/30}

जो ऋग्वेदीय क्रमपाठ के कर्ता बहुत बडे वैदिक विद्वान भी थे। जैसा कि जायसवाल ने लिखा है राजा के नाम के साथ उसके महामंत्री के नाम का उल्लेख है। महाजनपद युग और बुद्ध के युग की विशिष्ट प्रथा थी। ये सब महात्री अपने शासकों की निति के सर्वांश मे निर्देश करते थे।

कौटिल्य के अनुसार राजा कितने मत्रियों की सख्या क्या हो, इस प्रश्न पर प्राचीन आचार्यो के कई मत थे। पिशुन, पाराशर, विशालाक्ष और भारद्वाज के मतों का उल्लेख करके कौटिल्य ने अपना मत दिया है कि मत्रियों की सख्या तीन या चार होनी चाहिये।
{अर्थशास्त्र- 1/15}

इस विषय मे कर्णिक भारद्वाज का मत सबसे उग्र था-

"गुह्यमेको मत्रयेतेति भारद्वाज ।"
{अर्थ0- 1/15}

राजा को उचित है कि गुह्य मत्र के विषय मे अकेला ही विचार करे। अर्थात् एक स्वय और एक मुख्यमत्री ये ही मत्र करे। इसी प्रकार का मत्र केवल राजा और मुख्यमत्री की चार ऑखे तक सीमित रहता था। भारद्वाज कारण देते है कि अधिक मत्रियो के बीच गया हुआ गुह्य मत्र फिर गुह्य नहीं रह सकता, वह फूट जाता है-

"मत्रिपरम्परा मत्र भिनत्ति।"
{अर्थ0- 1/15}

कौटिल्य ने और अशोक ने शिलालेख छ में आत्यधिक कार्यों के विषय मे मत्रणा करने का उल्लेख किया है-

"आत्याधिके कार्ये मत्रिणो मत्रिपरिषद चाहूय ब्रूयात्।"
{अर्थ0 1/15}

यहाँ परामर्श की दो कोटियाँ है- मत्रिण, मत्रिपरिषद। आवश्यक कार्य के विषय में पहले मत्रियो से परामर्श करे और सम्भव हो तो सारी मत्रिपरिषद के साथ भी। यहाँ जो मत्रिण पद है उससे तात्पर्य मुख्यमत्री दो मत्री, तीन या चार चुने हुए मत्रियो से है जैसा कि कर्णिक भारद्वाज विशालाक्ष या कौटिल्य का मत था।

राजसभा-

मत्रि परिषद के अतिरिक्त बडी सभा राजसभा कहलाती थी। अनुश्रुति के अनुसार विन्दुसार की राजसभा मे पाच सौ सदस्य थे। राजसभा के उदाहरणों में भाष्य में चन्द्रगुप्त सभा, पुष्यमित्र सभा के नाम है। राजसभा के दो अर्थ थे, एक सभासदो का समूह और दूसरा वह भवन जहाँ सभा होती थी। वैदिक युग मे भी सभा शब्द के ये दोनों अर्थ थे।

{वैदिक इडेक्स- 2/426}

बैदिक कालीन सभा खम्भो के आधार पर टिकी होती थी। चन्द्रगुप्त सभा का पुरातत्वगत प्रमाण मिल गया है। प्राचीन पाटलिपुत्र के उत्खनन में लगभग अस्सी पाषाण स्तम्भो मे उत्तम्भित विशाल सभा के अवशेष मिलते हैं। ये स्तम्भ वैदूर्य के समान मृष्ट या चमकीले है। यही मौर्य युग की शिल्पकला थी। चन्द्रगुप्त की जो विद्वत्सभा थी उसका विवरण

यूनानी लेखको ने दिया है। मौर्ययुग से प्राचीन काल मे काष्ठ शिल्प का प्रचार भाम मे राज प्रसादो के निर्माण मे काष्ठ शिल्प की प्रथा का स्पष्ट उल्लेख है-

"कन्यापुरप्रासाद एष तु काष्ठकर्मबहुलतया समासन्नजालत्वाच्च।"

{भासनाटक चक्र पृ0- 142}

सभ्य जैसे परिषद की सदस्यता की साधुता (योग्यता या अधिकार) रखने वाले के लिए परिषद्य शब्द था, वैसे ही सभा की सदस्यता के लिए जिनकी साधुता थी वे सभ्य कहे जाते थे। इसके लिए प्राचीन वैदिक शब्द सभेय था। वैदिक सभा मे ब्राह्मण और मघवन्त ही सदस्य हो सकते थे, ऐसा कुछ विद्वानो का कहना है।

पुरोहित-

कौटिल्य के अनुसार मुख्यमत्री के बाद पुरोहित के पद का महत्त्व होता था, और उसके बाद सेनापति का तब युवराज का।

{अर्थशास्त्र- 5/3}

वेद और दण्डनीति दोनों का पाण्डित्य पुरोहित के लिए आवश्यक था। उसके कर्म, भाव और पद को पौरोहित्य कहा है। पत्यन्त शब्दों के अन्तंगत सेनापति के कर्म और भाव को सैनापत्य कहा गया है। इसी प्रकार राजा का कर्म और पद राज्य कहा जाता था।

महिषी-

भारतीय राजतत्र मे पट्ट महादेवी या महिषी की बैधानिक स्थिति थी। राजा के साथ उसके भी सिहासन पर महाभिषेक किया जाता था। महिषी के बाद प्रजावती अर्थात् राजा की अन्य नारियों का उल्लेख है। उन्हे मिलने वाला आचारयुक्त (धर्म्य) देय प्रजावत था। माहिष और प्रजावत धर्म्य देय वह पूजा वेतन था जो समयाचार या क्रम प्राप्त बन्धेज के अनुसार पट्ट महादेवी और दूसरी रानियो को पाने का अधिकार था। कौटिल्य ने इसकी मात्रा दी है। तद्नुसार राजमहिषी को 48000 पण और कुमार माता (दूसरी रानी) को 12000 पण वार्षिक भत्ता मिलता था।

{अर्थ0- 5/6}

जातको मे प्राय अज्ज महेसि का उल्लेख आता है।

{जा0- 5/22, 6/31}

महिषी के अतिरिक्त और सब रानियॉ प्रजावती कहलार्ती थीं। बुद्ध माता के अतिरिक्त शुद्धोधन की दूसरी रानी प्रजावती गौतमी थीं। ये राजाओ के अन्त पुर या अवरोध मे रहने वाली स्त्रियॉ थीं, जिन्हे अशोक के लेखों मे 'ओरोधन' कहा हे।

युवराज-

राजा के पुत्रो को राजपुत्र और राजकुमार कहा गया है। राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे-

(1) बालक राजा
(2) राजा का कुमार पुत्र।

सब राज पुत्रों मे महिषी का पुत्र युवराज होता था, जिसे आर्य कुमार कहा जाता था। आर्य ब्राह्मण और आर्य कुमार दोनो में आर्य शब्द राजशास्त्र का पारिभाषिक था जो विशिष्ट पद या अधिकार का सूचक था।

"समुद्रगुप्त की प्रयाग स्तम्भ प्रशस्ति में उसे 'आर्य' कहकर पिता ने युवराज चुना था (आर्योहीत्युपग्रह्य)। किन्तु अब श्री बहादुर चन्द्रजी छाबडा ने 'एहोहीत्युपगुह्य' शुद्ध पाठ माना है।"

जातकों में आर्य कुमार को उपराजा कहा गया है। एक जातक में राजा के दो पुत्रो मे से जेष्ठ उपराजा और कनिष्ठ सेनापति नियुक्त किया गया है। पिता की मृत्यु के वाद उपराजा और सेनापति उपराजा बन गया।

{जात0- 6/30}

राजकुमार-

राजकुमार का अर्थ वह राजा था जिसे परिस्थिति वश कुमार अवस्था मे ही राज्य पद प्राप्त हो गया हो। इस सम्बन्ध मे यह ज्ञातब्य है कि यद्यपि कुमार अवस्था में वह राज्य का उत्तराधिकारी बन जाता था, किन्तु उसका अभिषेक वय प्राप्त होने पर ही किया जाता था। अशोक के सम्बन्ध मे ऐसी ही हुआ था।

राजकुल के परिचारक-

राजकुल से सम्बन्धित बहुत से अधिकारी होते थे, जैसे राजा के निर्जी अग रक्षक, दौवारिक या प्रतीहार, धार्मिक कार्यो के अध्यक्ष एव शरीर की परिचर्या करने वाले अनेक प्रकार के सेवक आदि।

अग रक्षक-

राजा के शरीर की रक्षा करने वाले अग रक्षक अधिकारी जिन्हे कौटिल्य ने आत्मरक्षितक कहा है।

{अर्थ0- 2/31}

वृहदारण्यक उपनिषद मे उग्र, सूतग्रामणी और प्रत्येनस् का उल्लेख है, जहाँ उसका अर्थ दण्ड रक्षक किया गया है। राजा के शरीर की रक्षा का कार्य बहुत दायित्व पूर्ण था और कौटिल्य ने उसके लिए विशेष विधान का आदेश दिया है।

दौवारिक-

राजकुल में द्वार का सर्वोच्च अधिकारी दौवारिक कहलाता था। राजकुल की ड्योढी से सम्बन्धित सब प्रकार का दायित्व इस अधिकारी के ऊपर होता था। बाण ने हर्षचरित मे अनेक प्रकार के राजकुल के सेवकों का उल्लेख किया है। जैसे- ब्राह्य प्रतीहार, आभ्यन्तर प्रतीहार, महा प्रतीहार उन सब के ऊपर दौवारिक सज्ञक महाप्रतीहार का पद हर्ष के समय तक था। सम्भवत उसके बाद भी यह परम्परा रही। दौवारिक का पद वैदिक युग से ही आरम्भ हो गया था।

कौटिल्य ने द्वौवारिक का वार्षिक वेतन 24000 पण दिया है। अर्थात् महिषी का आधा और प्रजावती रानियों से दुगुना जिससे इस पद का महत्व सूचित होता है।

"दौवारिक सन्निधातार चतुर्विंशति साहस्रा ।"
{अर्थ0- 5/3}

स्वगतिक अधिकारी-

राजा की दिनचर्या नियत रहती थी। कौटिल्य ने उसका उल्लेख किया है। तद्नुसार कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त रहते थे, जो उन विशेष मुहूर्तो मे राजा के स्वागत और कुशल प्रश्न आदि द्वारा उसकी दिनचर्या को नियमित बनाने में सहायत होते थे। राजसभा मे राजा के पधारने पर जो स्वागत करे वह स्वागतिक कहलाता था। राजा के प्रात काल नित्य कर्म से निवृत हो जाने पर जो उसके लिए स्वस्तिवाचन का पाठ करता था वह सौवस्तिक कहलाता था। कात्यायन ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है-

(1) सौखशायनिक-

जो प्रात काल राजा के निद्रा त्याग करने पर उसके गत मे सुख पूर्वक शयन करने के विषय मे प्रश्न करता था, अर्थात् उस विषय के कुछ श्लोक पाठ करता था-

"सुखशयन पृच्दति।"

लोह कुम्भी जातक मे कथा है कि कोसल के राजा के यहाँ प्रात काल सुखशयन पूछने के लिए ब्राह्मण आया करते थे।

"अरुणगमनवेलया ब्राह्मणा आगन्त्वा राजान सुखसयित पुच्छिसु।"
{जातक- 3/43}

(2) सौखरात्रिक-

वह व्यक्ति जो सुख पूर्वक रात्रि व्यतीत होने के सम्बन्ध में कुशल क्षेम पूछता था।

(3) सौस्नातिक-

जो राजा के स्नानादि से निवृत्त होने पर कुशल प्रश्न से उसका स्वागत करता था-

"सुस्नात पृच्छति"

कालिदास ने राजा की दिनचर्या ये सम्वन्धित सौस्नातिक का उल्लेख किया है।

{रघुवश-6/61}

सौखशय्यिक-

जो व्यक्ति राजा के लिए सुखशय्या तैयार करके अपनी जीविका चलाता था, उसे सौखशय्यिक कहते थे। बुद्ध ने चार प्रकार की शय्याओ में चौथी तथागत शय्या को कहा है जो रागद्वेष रहित होने के कारण तथागत की सुख निद्रा थी। उसे ही बुद्ध ने सच्ची सुखशय्या माना था। इससे सूचित होता है कि राजा एव आढ्य पुरुषों के लिए जो विशिष्ट शय्या पुष्पादि से तैयार की जाती थी वही मूल में सुख शय्या थी। उसके लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे जो सौखशैय्यिक कहलाते थे।

परिचारक-

राजा का उपभोग-परिभोग विधि से सम्बन्ध ग्खने वाले परिचाग्को के कुछ नाम उस काल मे आये हे। जैसे- परिषेचक, स्नापक, उत्सादक, उद्धर्तक, प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका आदि को जो आचार नियत वेतन मिलता था।

वह क्रमश प्रालेपिक, वैलेपिक, आनुलेपिक कहलाता था। अगुरु, कुकुम, चन्दन आदि से विलेपन लगाने वाली विलेपिका स्त्री को जो धर्म्य द्रव्य दिया जाता था उसे भाष्य मे वैलेपिक कहा है। उत्सादक और उद्धर्तक परिषेचक और स्नापक, इन परिचारको के कर्तव्यो मे कुछ भेद रहा होगा। ऐसे ही अनुलेपिका के काम भी कुछ भिन्न रहे होगे। प्रार्चीन साहित्य से इन पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। उपासक दशाग मे राजा की उपभोग-परिभोग विधि का यह क्रम कहा गया है।

(1) अभ्यग, तैल के साथ
(2) गन्ध मिले हुए आटे के साथ
(3) मज्जन
(4) वस्त्र विधि, क्षौम युगल धारण करना
(5) विलेपन विधि, अगरु, चन्दन, कुकम आदि से।
(6) पुष्प विधि
(7) आभरण विधि
(8) धूपन विधि
(9) भोजन विधि।

आटे मे सुगन्धित द्रव्य और तेल मिलाकर या सरसो हल्दी को साथ पीस कर उबटन बनाया जाता है। उसके मलने वाले उद्धर्तक कहलाते थे। परिषेचक और स्नापक का अन्तर स्पष्ट नहीं है। ज्ञात होता है कि जो उबटन आदि धो डालने के लिए पहले पानी डालते थे, वे परिषेचक और जो बाद मे सुगन्धित जल के घडो से स्नान कराते थे, वे स्नापक कहलाते थे। चन्दन आदि शरीर मे लगाने वाली परिचारिका अनुलेपिका थी। उसी मे और अधिक सूक्ष्मता से अगुरु, कुकुम, कपूर, चन्दन आदि द्वारा निर्मित यक्ष कर्दम एव अन्य सुगन्धियो को शरीर मे लगाने वाली स्त्री परिचारिका विलेपिका कहलाती थी। प्रलेपिका का कार्य स्पष्ट नहीं है। सम्भव है प्रलेय स्नान से पहले लगाये जाते हो।

द्वितीय परिच्छेद

शासन

राज्य-

एकराज शासन में सर्वोपरि व्यक्ति राजा था। उसकी सहायता के लिए मन्त्रियो की परिषद होती थी। सभा नाम की बडी समिति भी थी। परिषद मे मन्त्रियो की सख्या का निर्देश शतपथ मे है। किन्तु जैसा कौटिल्य ने लिखा है उनकी सख्या प्रशासन की आवश्यकती के अनुसार नियत की जाती थी।

"अशोक के ब्रह्मगिरि के लघु शिला लेख में इसे आर्यपुत्र कहा गया है।"

ये महत्वपूर्ण अधिकारी थे अतएव भाषा मे इनसे सम्बन्धित विशेष शब्द प्रचलित थे।

शासन तन्त्र के अधिकारी-

शतपथ में कई प्रकार के प्रशासनिक अधिकारियों का उल्लेख आया है। शासन के सचालन के लिए अधिकारी तन्त्र का गठन हो चुका था। सरकारी सेवक साधारणत युक्त या आयुक्त कहे जाते थे, जो कि राजकीय कार्य का निर्वाह करते थे। कौटिल्य ने राजा के आयुक्त पुरुषो का उल्लेख किया है। अशोक के कलिग शिलालेख सख्या-2 मे आयुक्तो का उल्लेख है।

"देसा आयुतिके।"

जब राजसेवक विशेष काम पर नियुक्त किये जाते, तो वे नियुक्त कहलाते थे, और उस दायित्व के अनुसार उनका नाम पडता था। शुल्कशाला में नियुक्त अधिकारी शौल्कशालिक, खानो मे नियुक्त अधिकारी आकारिक, बाजार के प्रबन्ध मे नियुक्त आपणिक, गुल्म सा सेना की टुकडी का प्रबन्ध गौल्मिक और राजद्वार के प्रबन्ध मे नियुक्त दौवारिक कहलाता था।

राजा के निजी परिचारक या पारिपार्श्विक भी नियुक्त कोटि के अधिकारियों मे गिने जाते थे।

अध्यक्ष-

शासन के सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अधिकारी अध्यक्ष कहलाते थे। कौटिल्य के अनुसार अध्यक्ष एक-एक विभाग के उच्चतम प्रशासनिक अधिकारी होते थे। अर्थशास्त्र मे पच्चीस अध्यक्षो के नाम आए है। उनमे अश्वाध्यक्ष और गवाध्यक्ष भी है।

युक्त-

कौटिल्य के अनुसार युक्त उन सरकारी सेवको की सामान्य सज्ञा र्था, जो प्रत्येक अध्यक्ष के नीचे उस-उस विभाग मे काम करते थे। प्रत्येक अधिकरण या विभाग मे युक्त, उपयुक्त और तत्पुरुष तीन प्रकार के अधिकारी होते थे-

"सर्वाधिकरणेषु युक्तोपयुक्त तत् पुरुषाणाम्।"
{अर्थ0- 2/5}

प्रत्येक विभाग के अधिपति अध्यक्ष और उनके निर्देश के कार्य का निर्वाह करने वाले युक्त से ही दो प्रकार के अधिकारी शासन की सच्ची रीढ थे। अश्वशाला के युक्त अधिकारियो को युक्तारोही कहा गया है। उन्हें ही अर्थशास्त्र में युक्तारोहक कहा गया है।

{अर्थ0- 5/3}

उन्हे प्रतिवर्ष 500 से 1000 कार्षापण तक पूजा वेतन दिया जाता था। युक्ता रोहक अधिकारियो का कर्तव्य अविनीत हाथी और घोडो को शिक्षा देकर उन्हे आरोहण के योग्य बनाना था। कौटिल्य में नदीपाल, द्रव्यपाल, बनपाल, नागवनपाल, अन्तपाल, दुर्गपाल के नाम आए है। महाभारत आदिपर्व- 222/16 में सभापाल, विराटपर्व- 11/8 मे तन्तिपाल को बडा अधिकारी माना गया है, जिसकी आज्ञा मे और भी पाल काम करते थे।

राजकीय घोष या पशुशाला एव मन्दुरा मे पशुओ की सख्या आयु और उनके लक्षण-चिन्ह आदि की सूची बनाने का कार्य करते थे। इस प्रकार की पशु गणना का उदाहरण महाभारत के घोषयात्रा पर्व मे आया है, जहाँ दुर्योधन के घोष मे पोषित गाय, वछडे, बछिया और गाभिन ओसर इन सब की आयु, रग और लक्षणो को ठीक प्रकार से निश्चित करने का उल्लेख है।

कारकर और क्षेत्रकर-

खेतो कर नाप जोख करके वन्दोबस्त करने वाले अधिकारी क्षेत्रकर कहे जाते थे, जिन्हे पालि साहित्य मे रज्जुगाहक कहा गया है। कुरुधम्म मे जातक एक अमात्य का उल्लेख है जो जनपद मे जाकर खेतो को नापता और उनकी गिनती करता था। उसकी रस्सी मे दो खूटियॉ बनी रहती थीं। रज्जुग्राहक अपने सिरे की खूटी गाड देता था और खेत का स्वामी दूसरा सिरा पकडे हुए खेत मे जाता और खूटी को यथास्थान गाड कर नाप कराता था।

{जातक- 3/276}

कारकर सज्ञक अधिकारी विशेष प्रकार के राजकीय करो के वसूल करने वाले थे। पाली साहित्य मे भी इसी नाम के अधिकारियो का उल्लेख है। सामञ्जपलसुत्त मे एक गरीब किसान राजा के अधिकारी को गॉव मे आया हुआ देख कर समझता है कि या तो वह कारकर था, जो विशेष प्रकार की लाग (कार) वसूल करने के लिए आया था, या वह रासिबड्ढक था जो खलिहान मे रास नाप कर राजा का भाग ले जाने के लिए आया था।

"इध ते अस्स पुरिसो कस्सको गहपतिको कारकार को रासिबड्ढकों।"
{दीघ निकाय, सामञ्जफलसुत्त- 2/38}

कुरुधम्म जातक मे रासिवड्ढक या रास नापने वाले सरकारी नौकर को द्रोणमापक कहा गया है। राजा को उपज का छठा भाग राजग्राह्य अश के रूप में दिया जाता था, उसे आज तक भाग की कहते है। उस भाग सज्ञक अन्न को नापने वाला वर्तन भागद्रोण कहलाता था।

दूत-

राज शासन मे दूत का महत्वपूर्ण स्थान था। जिस देश या जनपद मे दूत नियुक्त होता था उसी के नाम से उसकी सज्ञा प्रसिद्ध होती थी। जैसे कोशल जनपद का जो दूत मथुरा मे नियुक्त किया जाता था, वह माथुर कहलाता था। समाचार लेकर जाने वाले धावन जघकर कहलाते थे। जिन्हे कौटिल्य ने जघरिक कहा है।

{अर्थ0- 2/1}

एक योजन, दो योजन, पॉच योजन, दस योजन इत्यादि भिन्न-भिन्न दूरियो तक समाचार ले जाने वाले धावन उन-उन नामो से प्रसिद्ध होते थे। धावन सस्था का मौर्य शासन मे महत्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य ने एक योजन से सौ योजन की दूरी तक सन्देश ले

जाने वाले धावनो का उल्लेख किया है। उन्हे दस योजन की दूरी तक प्रति योजन पर एक पण वेतन दिया जाता था। उसके बाद प्रति दस योजन की दूरी के लिए वेतन उत्तरोत्तर दुगुना हो जाता था।

{अर्थ0- 5/3}

"दशपणिको योजने दूत मध्यम ।
दशोन्तरे द्विगुण वेतन आयोजनशतादिति।"

शासन मे धावन सस्था का सगठन और देशो मे भी था। दूत लोग लिखित शासन ले जाते थे या मौखिक सदेश कहते थे। कौटिल्य ने पहले को शासनहर और दूसरे को परिमितार्थ दूत कहा है।

{अर्थ0- 1/12}

कौटिल्य ने सबसे ऊँची कोटि के दूत को निसृष्टार्थ कहा है।
"अमात्यसम्पदोपतो निसृष्टाथ।"

उसे ही अवसृष्टार्थ भी कहते थे, जिससे हिन्दी बसीठ शब्द बना है। उसे राजा की ओर से कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तु सब प्रकार के अधिकार प्राप्त होते थे। कृष्ण पाण्डवो की ओर से दुर्योधन की सभा में अवसृष्टरार्थ दूत बना कर भेजे गये थे। इससे ज्ञात होता है कि कर्त्ता इसी प्रकार के राज प्रणिधि की सज्ञा थी, और उसे नियुक्त करने वाला राजा या मुख्यामात्य कर्तृकर कहलाता था।

सौराज्य-

शासन का अर्थ सौराज्य अर्थात् शान्तिपूर्ण सुव्यवस्थित राज्य था। सौराज्य अवस्था प्राप्त करने का साधन जनपद मे राजा की प्राप्ति थी, राजा के अभाव मे जनपद की स्थिति अराजक राष्ट्र की हो जाती थी। उस स्थिति मे प्रजाएँ मात्स्यन्याय से बरतती थीं औश्र बलवान अललो का भक्षण करते थे। अतएव राजनीति विशारदो का विचार था कि मात्स्यन्याय से बचने के लिए राजा का होना आवश्यक है। जातको मे और अर्थशास्त्र मे कहा गया है कि मात्स्यन्याय की दुरवस्था से बचने के लिए प्रजाओ ने राजा का वरण किया। इस पृष्ठभूमि मे देखने से राजन्वान् शब्द के विशिष्ट अर्थ का परिचय होता है। राजन्वान् और अराजक जनपदों का भेद शान्तिपर्व अध्याय 68 और अयोध्याकाण्ड अध्याय 67 में आया है।

विनय शीलता-

राजा, राजकुमार, राजपुरुष, प्रजा आदि के लिए अनुशासन की शिक्षा को कौटिल्य ने विनयाधिकार कहा है। वस्तुत विनय की राज्य का मूल है। विनय के अभाव मे धर्म मूलक राजय की कल्पना असम्भव समझी जाती थी, और राज्य को अराजक जनपद की स्थिति ग्रस लेती थी। शान्तिपर्व का 68वा अध्याय वेनयिक के आदर्श की व्यवस्था करता है। यूनान के पुरु राज्यो मे तीन आदर्शो के समन्वय की कल्पना की गई थी, उन्नति की पूर्णतम अवस्था को प्राप्त राज्य, उच्चतम नीतिधर्म, उत्कृष्टतम् नागरिक। ये तीनो एक दूसरे से अभिन्न और एक दूसरे के मूल समझे जाते थे। ठीक इसी प्रकार भारतीय जनपदो के युग मे धर्म, धार्मिक राजा या राष्ट्र और धार्मिक प्रजा या लोक इन तीनो के सह अस्तित्व या पारस्परिक अविनाभाव की कल्पना थी। इसे ही वैनयिक आदर्श माना जाता था। कोसल देश के विनयज्ञ राजा वसुमना ने अपने राज्य मे वैनयिक आदर्श की स्थापना की।

"सर्व वैनयिक कृत्वा विनयज्ञ "
{शान्तिपर्व- 68/4}

यह सर्वभूतहित निरत राज्य की विधि थी जिससे प्रजाएँ अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकती थीं। इसके लिए तीन बातें आवश्यक थीं। पहला धर्म, दूसरा धर्म परायण प्रजाएँ और तीसरा धर्म मूलक राज्य।

"सर्वं वैनियक कृत्वा विनयज्ञो वृहस्पते ।
दक्षिणानन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधि पूर्वकम्।।
विधि पप्रच्छ राज्यस्य सर्वभूत हिते रता ।
प्रजाना हित मन्विच्छन् धर्ममूल विशापते।।
केन भूतानि वर्धन्ते क्षय गच्छन्ति केन च।
कर्मचन्तों महाप्राज्ञ सुखमत्यन्तमाप्नुयु ।।
इति पृष्टो महाराजा कौसल्येनामितौजसा।
राजसत्कार मव्यग्र शशसास्मै वृहस्पति ।।
राजमूलो महाराज धर्मालोकस्य लक्ष्यते।
प्रजाराजभयादेव न खादन्ति परस्परम्।।
राजाह्येवाखिल लोक समुदीर्णं समुत्सुकम्।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते।।"

सामयिक-

समय को की सामयिक कहते थे। "समय एव सामयिक" जनपद यागष्ट मे दो प्रकार के नियम या कानून मान्य होते थे। एक राजा द्वारा प्रचारित कानून "राजकृत धर्म" और दूसरा जो लोक सस्थाओ के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे रिवाज चले आते थे। श्रेणि अर्थात शिल्पियो की सस्था, निगम अर्थात् वणिक् जनो की सस्था, पाषण्ड अथवा धार्मिक सम्प्रदायो का सामूहिक सगठन और गण अर्थात् राजनीतिक सघ या सगठन ये चार प्रकार की सस्थाएँ याज्ञवल्क्य स्मृति (2/192) मे कही गई है, जिनका सार्वजनिक अस्तित्व था और जिनके अपने नियम या आचार प्राप्त धर्म या रिवाज थे। उन नियमो को पारिभाषिक शब्दावली मे सामयिक कहते थे।

"निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत।
सोऽपियत्नेन सरक्ष्यों धर्मो राजकृतश्चय ।।"
{याज्ञवल्क्य स्मृति-2/186}

सामयिक प्राचीन कालीन शब्द था उसे ही कालान्तर में स्मृतियो मे सवित् कहा गया है। प्राचीन धर्मशास्त्रों ने दोनो को ही कानून प्रमाणिकता प्रदान की थी। वर्तमान न्यायालयो का निर्णय भी ऐसा ही है।

सामयाचारिक-

सामयाचारिक धर्म से तात्पर्य सामाजिक रीति-रिवाजों से था, जो कि धर्मशास्त्रो के क्षेत्र मे भी मान्य समझे जाते थे। "अर्थशास्त्र में समयाचारिक विशेष प्रकरण का नाम है।"

{अर्थ0- 5/5}

इस प्रकरण में समयाचारिक के अन्तर्गत समाहत सन्निधता आदि राज्य अधिकारियो द्वारा जो आय विविध करो से की जाती थी, उसका विशेष रूप से उल्लेख है। लोक मे जो बहुत तरह के लागभाग थे, उनका समर्थन किसी राजाज्ञा से नहीं, बल्कि रिवाज के कारण होता था।

किस माल पर कितनी चुगी लगे यह भी पुराने बन्धेज की बात थी। हाट बाजार लगाने के लिए दुकानों पर कितनी वसूली की जाय इत्यादि शौल्कशालिक औश्र आपणिक के रूप मे उगाही की जाती थी। उन सब के मूल में आचार या रिवाज को की प्रधानता दी जाती थी। इसी प्रकार समाज में भिन्न-भिन्न स्तरों पर कार्य करने वाले लोगों को कितना पारिश्रमिक दिया जाय, अथवा महिषी, प्रजीवती, पुरोहित आदि राज्य के विशिष्ट

अधिकारी या सम्मानित व्यक्तियो को कितना पूजा वेतन दिया जाय अथवा प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका, मणिपाली आदि परिचारिकाओ को उनकी सेवा के बदले मे कितना नेग दिया जाय, सब का निर्णय लोकाचार या समयाचार या रिवाज के अनुसार होता था। इससे सूचित होता है कि लाग, भाग, ताग, पाग, पुच्छी, उगाही, महसूल आदि अनेक प्रकार के छोटे-बडे घर, दुआरी, हाट चौतरा, जमा, माल आदि से सबन्धित करो का निश्चय समयाचारिका के अर्न्तगत किया जाता था।

औपयिक-

साम, दाम, दण्ड, भेद इन चार उपायो के सबन्ध रखने वाली राजनीति और उसकी प्राप्ति के अनेक साधनो को औपयिक कहा जाता था। उनका विस्तार अर्थशास्त्र के शासनाधिकार प्रकरण मे किया गया है।

{अर्थ0- 2/10}

व्यावहारिक-

इसके अन्तर्गत धर्म या कानून का वह समस्त अश आता है, जिसे कोटिल्य के व्यवहार स्थापना कहा है। इसके अग इस प्रकार है। विवाह, दायविभाग, वास्तु विक्रय, समय, ऋणदान, औपनिधिक, दास कर्मकरकल्प, सभूय समुत्थाय अर्थात् साझे का व्यापार, साहस अर्थात् उग्र अपराध, वाक्पारुण्य, दण्डपारुण्य आदि। ये ही कालान्तर में धर्मशास्त्रों के व्यवहाराध्याय का विषय बन गया।

समाचारिक-

जैन धर्म में साधुओं के आचार सम्बन्धी नियम समाचारिक कहे जाते हैं। सम्भवत राजसभा उत्सव आदि के कार्यों के सम्पादन की उचित विधि के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता था।

शासन सम्बन्धी कुछ बातें-

कौटिल्य ने भृत्य भरणीय प्रकरण मे राज कर्मचारियों के वेतनो की लम्बी सूची दी है।

{अर्थ0- 5/3}

वेतन देने का आधार मासिक था। उसे भृतक मास कहते थे। कर्मनिष्ठ अधिकारियो को अर्थशास्त्र मे कर्मण्य कहा गया है।

"एतावल कर्मण्या भवन्ति।"
{अर्थ0- 5/3}

कौटिल्य ने औपनिषदिक शब्द का प्रयोग उन निन्द्य उपायो के लिए किया हे, जिनका प्रयोग गुप्तचर विभाग मे अधर्मिष्ठ व्यक्तियो के लिए किया जाता था।

आय के स्थान-

प्राचीन काल मे जो आय जिस स्रोत से प्राप्त होती वह उसी नाम मे पुकारी जाती थी। आज भी राजकीय आय-व्यय के लेखे मे आयवाची शब्दो की योजना इसी नियम के अनुसार की जाती है। पतञ्जलि के प्राचीन उदाहरणो का सकलन करते हुए शुल्कशाला या चुगी से प्राप्त होने वाली आय को शौल्कशालिक, आपण या तहबजारी से प्राप्त आय को आपणिक एव गुल्म से प्राप्त आय को गौल्मिक कहा है। खानों से प्राप्त आय आकरिक कही जाती थी। चुगी की जितनी रकम हो उसी के अनुसार माल का नाम पडता था, जैसे- पचक, दशक, शतिक, साहस्र। वह माल जिस पर 5, 10, 100 या 1000 कर्षापण चुगी दी गई हो।

"पच अस्मिन् शुल्क दीयते।"

आय के साधन-

प्राचीन काल मे आय के साधनों का उल्लेख आया है। हाट पैंठ के लिए बनाए गये चबूतरे जिनसे वसूल होने वाली तहबजारी की आमदनी राजकीय कोष मे जाती थी। उदपान अर्थात् कुओ की सिचाई आदि की आय, उपल अर्थात् पत्थर की खान, तीर्थ अर्थात् नदी की तराई जिसे अर्थशास्त्र मे तरदेय कहा है। भूमि अर्थात् भूमि से प्राप्त लगान, तृण अर्थात् घास आदि के जगलो की आय, पर्ण अर्थात् पलाश आदि के वृक्षों के पत्तों से आय जो पत्तल बनाने के काम मे आते थे। आजकल भी शासन की ओर से मूँज, बबई, भावर आदि घासों के जगल एव जगली पत्ते, फूल, फलों के ठेके नीलाम किये जाते हैं।

गौल्मिक-

गुल्म वृक्षों के जगल और सैनिक टुकडी को कहते थे। कौटिल्य ने शुल्क, वर्तनी, आतिवाहिक, गुल्मतर आदि करों का उल्लेख किया है।

{अर्थ0- 2/16, 2/35}

श्री गणपति शास्त्री ने गुल्मदेय की व्याख्या एक स्थान पर वनस्थानिक देय और दूसरे स्थान पर रक्षिसघ देय की है। जगली थाने और रक्षा पुरुष इन दोनों का सकेत एक ही है, अर्थात् रक्षा के लिंए चौकी का उल्लेख पद्मावत में किया गया है।

"प्राचीन काल मे इस प्रकार की रक्षा चौकियो को स्थानक या गुल्म कहते थे, उसी से निकला हुआ थाना शव्द मध्यकालीन हिन्दी मे भी प्रयुक्त हुआ है।"

{पद्मावत- 532/6}

"1225 को लिखी हुई वस्तुपाल तेज पाल प्रसस्ति मे इन्हे 'रक्षाचतुष्पिका अर्थात् रक्षा के लिए स्थापित चौकियॉ कहा गया है।"

थाना जो राज्य की ओर से विशेषत निर्जन स्थान या जगलो मे स्थापित किये जाते थे, जिससे सार्थवाह याशकटवाणिक् एव यात्री निविघ्न यात्रा कर सके। इस रक्षा प्रबन्ध के लिए जो कर लिया जाता था उसकी आय गौल्मिक कहलाती थी। मनु से इस व्यवस्था के विषय मे विशेष जानकारी प्राप्त होती है। जैसे छोटे-बडे गॉव होते उन्हीं के अनुसार दो, तीन या पॉच गावो के बीच एक गुल्म या थाना स्थापित किया जाता था। वे सब सौ गॉवो के बीच में बडे रक्षा स्थान या थाने के साथ जुडे रहते थे।

"द्वयो स्त्रयाणा पञ्चाना मध्ये गुल्मधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशताना च कुर्याद् राष्ट्रस्य सग्रहम्।।"

{मनु0- 7/114}

"गुल्माश्च स्थापयेदाप्तान् कृत सज्ञान् समन्तत ।
स्थाने युद्धे च कुशलान् भीरूनविकारिण ।।"

{मनु0- 7/190}

प्रत्येक गुल्म के सैनिक अपने कार्य में सुशिक्षित (आप्त) और विशेष प्रकार का वेष आदि धारण किये हुए रहते थे। जिससे उनकी पहचान हो सके। इन रक्षा पुरुषों को सैनिक न कहकर वर्तमान पुलिस के अनुरूप मानना अधिक उचित होगा यद्यपि दोनों के सगठन में भेद की रेखा नाम मात्र ही थी।

राजा कनक वर्ण ने एक बार अपनी उदारता बस सोता कि मैं ऐसा प्रवन्ध करू जिससे सब व्यापारियों को अपने माल की न चुगी देनी पडे च गुल्म कर।

"यन्वह सर्व वणिजोऽशुल्कान् अगुल्मान्"

{दिव्यावदान पृ0- 201}

सूरपाकर बन्दरगाह के सामुद्रिक व्यापारी पूर्ण ने समुद्र यात्रा पर चलने से पूर्व घोषणा कर दी कि जो व्यापारी मेरे सग व्यापार यात्रा के लिए उठेगा, उसे चुगी गुल्म कर और जहाज का भाड़ा न देना पडेगा।

कुछ विशेषकर-

भारत के पूर्वी भाग में कुछ विशेष कर लगाये जाते थे। कर वसूल करने वाले अधिकारी कारकर कहलाते थे। किसी राजपुरुष को गाव मे आया हुआ देखकर गाँव का निर्धन किसान सोचता है कि या तो यह कार वसूल करने वाला कार कारक अधिकारी होगा या खलिहान की रास नापने वाला राजपुरुष रासवड्ढक कहलाता है।

तृतीय परिच्छेद

धर्म और न्याय

वैदिक चरणो के अर्न्तगत धर्म का अध्ययन एक विषय के रूप मे स्वीकृत हो गया था। कात्यायन ने स्पष्ट कहा है कि वैदिक चरणो से सम्बन्धित निजी आम्नाय ग्रन्थ और धर्म ग्रन्थ थे।

न्याय के अनुकूल कर्म या आचार न्याय्य कहलाता था। भ्रेप ओर अभ्रेष शब्द का प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में इन्हीं अर्थों मे आया है।

न्यायालय-

व्यवहार अर्थात् धर्मस्थ और कण्टशोधन सम्बन्धी (दीवानी फोजदारी} कानून के लिए न्यायालय शब्द का उल्लेख शतपथ काल मे किया गया है। वादी प्रतिवादी जिसे विवाद का मध्यस्थ बनाते वह स्थेय कहलाता था। वादी या अभियोक्ता के लिए परिवादी या पदिवादक शब्द प्रचलित थे। गवाह साक्षी कहलाते थे किन्तु उनके प्रमाण का आधार घटना का साक्षाद्दर्शन था। कालान्तर मे सुने हुए वृतान्त के आधार पर गवाही देने वाले भी साक्षी कहे जाने लगे।

"समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाद्वा।"
{विष्णु धर्मसूत्र-3/13}

जो व्यक्ति जिस विषय मे साक्ष्यज्ञान रखता था, वह उसी नाम से अभिहित होता था, जैसे गौ के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद के प्रसग में उस विषय की जानकारी रखने वाला व्यक्ति गो साक्षी कहलाता था और उसकी गवाही वहीं तक उपयोगी या मान्य समझी जाती थी।

शपथ-

साक्षी होने वाले व्यक्तियों को नियमानुसार शपथ दिलाई जाती थी। प्राचीन प्रथा के अनुसार ब्राह्मण वर्ण के साक्षी को गवाह देने से पूर्व यह शपथ लेनी पडती थी, कि मै जो कुछ कहूँगा, सच कहूँगा। ऐसे ही इतर जाति के लोगों के लिए भी शपथ लेने के नियम थे। मनु ने उन प्राचीन नियमों का उल्लेख किया है।

"सत्येन् शापयेद् विप्रम्।"
{मनु0- 8/113}

जमानत देने वाला व्यक्ति प्रतिभू कहलाता था, जैसे- गोप्रतिभू अर्थात् गाय या बैल के सम्बन्ध मे जो जामिन बना हो।

व्यवहार-

व्यवहार के अन्तर्गत् कई प्रकरणो का समावेश किया जाता था। दाय ग्रहण करने वाला दायाद कहलाता था और जो वस्तु या भाग उसे मिलता था, उसे दायाद्य कहते थे। साक्षी और प्रतिभू के समान ही जो जिस वस्तु का दायाद होता था उसी के अनुसार सज्ञा होती था, जैसे गोदायाद। दाय या उत्तराधिकार मे कई व्यक्ति हिस्सा बॉटने वाले हो तो प्रत्येक का भाग अश और पाने वाला अशक कहलाता था।

अपराध-

उग्र फौजदारी अपराधो के लिए साहसिक्य शब्द था। कई प्रकार के अपराधों का उल्लेख आता है, जैसे- चोरी, डकैती, राहजनी आदि। मज्झिम निकाय में 5 प्रकार के चोर कहे गये है- सन्धिछेदक, गामघातचोर, पन्थघात चोर, पेसनक चोर, अटवी चोर। पालि साहित्य मे एकागारिक शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थ में है। गौतम ने अपने को एकागारिक, द्वयागारिक, सप्तागारिक अर्थात् एक घर, दो घर या सात घर से भिक्षा मागकर लाने वाला भिक्षु कहा है।

दण्ड-

किसी अपराध के लिए न्यायालय द्वारा जो रुपये पैसे का जुर्माना किया जाता था, उसे दण्ड कहा गया है। चॉदी के दो पास सिक्के या दो सौ रूपये का जुर्माना। किन्तु दण्ड शब्द का इससे भी विस्तृत अर्थ था, जिसके अन्तर्गत् शरीर दण्ड की गणना भी होती थी, यास्य ने इस अर्थ मे दड्य शब्द का प्रयोग किया है-

"दड्य पुरुषो दण्डमर्हतीतिवा, दण्डेन सम्पद्यत इतिवा।"
{निरुक्त- 2/2}

"यास्क ने यह उदाहरण यह दिखाने के लिए दिया है, कि लोक में वृत्तियों या अर्थों का ठीक-ठीक निर्धारण करना मुश्किल है, जैसे- दण्ड्य शब्द में यही नहीं जान पडता कि जो दण्ड के योग्य है उसे दण्ड्य कहा जाय। इसी प्रकार के उलझे हुए अर्थों को विस्पष्ट करके पृथक-पृथक वृत्तियों में प्रत्ययों का विधान है।"

चतुर्थ परिच्छेद

सेना

शतपथ मे सेना के विभिन्न अगो का उल्लेख है, ये सेनाग कहलाते थे, ओर प्राचीन काल से चार की चले आते थे, जैसे- हस्त्यारोह, अश्वारोह, रथी और पदाति। दो सेनागो की पारस्परिक घनिष्ठता सूचित करने के लिए उनके नामो के जोडे प्रयुक्त होते थे जैसे-

"रथिकाश्वरोहम् रथिकपादातम्।"

पैदल सेना पदाति कहलाती थी। साल्व जनपद के पैदल सैनिकों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। साडनी सवारों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, जिन्हे उष्ट्रसादि कहते थे। ऊँट और खच्चरो की मिली जुली टुकडी उष्ट्रवामि कहलाती थी।

सेना के साथ अनेक प्रकार के अन्य अधिकारी भी रहते थे, जो उसकी बहिरग व्यवस्था के लिए आवश्यक थे।

सैनिक-

सेना मे भर्ती होने वाले सिपाही या सैन्य कहलाते थे। घुडसवार सेना का अध्यक्ष अश्वपति और सेनाध्यक्ष सेनापति कहलाता था। प्रयाण करती हुई सेना के साथ चलने वाला व्यक्ति सेनाचर कहलाता था। युद्ध करने वालों का नामकरण उनके हथियारों के नाम से किया जाता था। आज भी यही पद्धति है। आसिक अर्थात् तलवार से लडने वाला, धानुष्क अर्थात् धनुषवाण से लडने वाला। परश्वध या फरसे से लडने वाले पारश्वधिक और शक्ति युद्ध के सैनिक शाक्तीक कहे जाते थे। लठैत या लाठी से युद्ध करने वाले लोगों के लिए याष्टीक शब्द था।

"शक्ति यष्ट्योरीकक्।"

महाभारत के अनुसार सरस्वती प्रदेश के आभीर लोग यष्टि युद्ध में दक्ष थे। पतञ्जलि ने लिखा है कि हथियार चलाने वालो का बोध प्रत्यय के बिना भी हथियार के नाम से ही हो सकता है। यह उल्लेखनीय है कि शाक्तीकी, याष्टीकी नामक स्त्री सैनिकों का उल्लेख पतञ्जलि ने किया है। इस सम्बन्ध में ज्ञात है कि स्त्री सैनिकों का विशेष उल्लेख अर्थशास्त्र मे आया है जिन्हें राजभवन मे रक्षार्थ नियुक्त किया जाता था। यह सम्भव है कि स्त्री सैनिको की प्रथा का आरम्भ मौर्य युग से ही हुआ हो। कवचधारी सैनिकों की विशेष

टुकडी कावचिक कहलाती थी। समुचित आयु मे जो व्यक्ति सैनिक सेवा के योग्य हो जाता, उसे कवचहर इस विशेष शब्द से अभिहित किया जाता था।

परिस्कन्द-

अर्थववेद के व्रात्यसूक्त मे इस शब्द का अर्थ कई बार प्रयोग हुआ हे, जहॉ उसका अर्थ रथ के दोनो ओर रहने वाले दो पदाति सैनिको से है। महाभारत मे इन्हे चक्र रक्षक कहा गया है-

"रथाना चक्र रक्षाश्च।"
{भाष्यपर्व- 18/16}

चौथी शती ईस्वी पूर्व की भारतीय सेना मे इस प्रकार के परिस्कन्द सैनिको का उल्लेख यूनानी इतिहासकारो ने किया है। उनके अनुसार युद्ध मे सप्रयुक्त रथ में चार घोडे जुतते थे और उसके साथ छह सैनिक रहते थे, दो सारथी, दो ढाल लिये हुए लटैत और दो धनुर्धारी जो रथ के दोनो ओर वाण छोडते हुए युद्ध करते थे, इन्हे ही चक्र रक्षक कहा जाता था।

शास्त्रास्त्र-

धनुष, शक्ति, परश्वध, कासू अर्थात् लम्बा बर्छा, कासतूरी अर्थात् छोटा बर्छा, हेति अर्थात एक विशेष प्रकार का फेंकने वाला अस्त्र और असि या तलवार जिसे कौछेयक भी कहते थे।

हखामनि साम्राज्य के राजा ख्शर्याश ने जब यूनान पर चढाई की तो उसकी सेना मे गान्धारि देश के सैनिक भी थे। यूनानी इतिहास लेखक हेरोदोत ने लिखा है कि वे छोटे बर्छों से युद्ध करने में दक्ष थे। शतपथ 6/6/2/11 की टीका में उसका सम्बन्ध कृमुक शब्द से माना है। कौटिल्य के अनुसार कार्मुक ताड के पेड की लकडी से बनाया जाता था। महाभारत मे तालमय धनुष का उल्लेख आता है। कौटिल्य ने धनुष का परिमाण 5 हाथ या 7।। फुट माना है।

{अर्थ0- 10/5}

ज्ञात होता है कि महेष्वास नामक लम्बे धनुष की यही ऊँचाई थी। राजा पुरु ने सिकन्दर के विरुद्ध जो युद्ध वितस्ता पर लडा था, उसमें उनके पदाति सैनिक इसी प्रकार के धनुष से लडे थे। धनुष का एक सिरा पैर से साधे रहते थे, और एक हाथ से धनुष की मूठ पकड कर दूसरे हाथ से लम्बे और भारी बाण चलाए जाते थे। यूनानियों ने लिखा है कि कैसा भी कवच हो उनकी मार को न सह पाता था।

युद्ध क्रिया-

वाहीक प्रदेश एव उत्तर पश्चिमी प्रदेश मे इस प्रकार के अनेक छोटे-वडे आयुधजीवी सघ थे। मालव, क्षुद्रक इन दोनो का आयुध जीवी सघ अपनी सम्मिलित सेना रखता था। मशकावती के अश्वकायन वीरतापूर्वक सिकन्दर से लडे थे। वरणा नामक उनका अजेय दुर्ग पहाणी पहाडी पर बना था।

पंचम परिच्छेद

जनपद

शिक्षा के क्षेत्र मे चरण, सामाजिक जीवन के क्षेत्र मे गोत्र और राजनीतिक जीवन के क्षेत्र मे जनपद। ये तीन बहुत ही महत्वपूर्ण और जीती जागती सस्थाएँ थीं। इन तीनो से सम्बन्धित सामग्री सस्कृत, बौद्ध और जैन साहित्य मे इतनी विस्तृत है कि ये तीनो पृथक् अनुसधान के विषय हो सकते है।

जनपदों का महत्व-

वैदिक सहिताओ मे जनपद शब्द का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थो में भी बहुत कम इस शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ मे केवल एक बार बहुत सामान्य सा उल्लेख है।

"अथ यत् किच जनपदे कृतान्न, सर्व व तत् सुतम।"
{शतपथ- 13/4/2/17}

ऐतरेय ब्राह्मण में अन्तिम अध्याय में उत्तरकुरु और उत्तरमद्र को जनपद कहा गया-

"एतस्यामु दीच्या दिशि ये के च परेण हिमवन्त जनपदा उत्तरकुरु उत्तरमद्र इति वेराज्याय एव तेऽभिषिच्यन्ते।"
{ऐ0- 3/144}

जैमिनीय, तैत्तिरीय, गोपथ और सामविधान ब्राह्मणों में केवल एक-एक बार जनपद शब्द आया है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण युग के अन्त में जनपद सस्था का आरम्भ हुआ। लगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व पॉच से सौ ईस्वी पूर्व तक के युग को भारतीय इतिहास मे जनपद या महाजनपद युग कहा जा सकता है। समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदो का ताता फैल गया था। एक प्रकार से जनपद राजनैतिक, सास्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गये थे।

जिस प्रदेश में जनपदीय जीवन सगठित रूप से उपर उभर आया, वहीं शान्ति सुव्यवस्था और नीति धर्म की स्थापना हो गयी और वह प्रदेश अराजक स्थिति के उपर उठ गया। जिस समय वह आन्दोलन पूर्व वेग पर था, उस समय जनपदीय आदर्श स्थानीय जनता के जीवन में प्रभापशाली प्रेरक शक्ति के रूप में प्रविष्ट हो गये। स्थानीय

जीवन के विभिन्न प्रकारो ने जनपदो के रूप मे सतुलित स्थिति प्राप्त कर ली। जैसा हम पहले कह चुके है, जनपद के भौगोलिक विस्तार को पृथ्वी कहा जाता था, और उस पर पृथ्वी के साथ स्थानीय जनता प्रगाढ मातृत्व के स्नेह से बँध गयी थी।

"माता भूमि पुत्रो अह पृथिव्या ।" यह उसी उदात्त भावना की अभिव्यक्ति थी।

प्रत्येक जनपद की भूमि वहाँ के निवासियो की सच्ची धात्री थी। जन, भाषा, धर्म, अर्थ व्यवस्था और सस्कृति इन सब की दृष्टि से जनपद हर एक प्रदेश मे स्थानीय जीवन की दृढ इकाईयाँ थीं। समस्त देश मे जनपदो की लम्बी श्रृखला फेली हुई थी। उनका काल कृत स्थायित्व भी कम न था। अनेको जनपदो के अवशेष अपने-अपने क्षेत्र मे आज भी पहचाने जा सकते है, यद्यपि उनके राजनैतिक वैभव को समाप्त हुए सहस्रों वर्ष बीत गये है।

जनपद सूची-

भारतवर्ष का जो भौगोलिक सीमा विस्तार था, उसके अन्तर्गत मध्य एशिया के कम्बोज जनपद से लेकर सुदूर दक्षिण तक और पश्चिम में सिन्धु सौवीर कच्छ से लेकर पूर्व मे अग, बग, कलिग और सूरमस तक फेले हुए जनपदों के लगभग 175 नामों की सूचियाँ अकलित की गई थी, जो कि पुराणों के भुवन कोशो में सुरक्षित है।

वस्तुत देश का शायद ही कोई ऐसा प्रदेश या भाग होगा, जिसका नामकरण जनपद के रूप में न हुआ हो। पुराणकारो ने अपनी सूचियाँ देश के भौगोलिक विभागो को ध्यान में रखते हुए एकत्र की थी।

जनपद और पुर राज्य-

यूनान देश के इतिहास में वहाँ के पुर राज्य जग प्रसिद्ध हैं। यूनान छोटा सा देश है, जिसमें सैकडों पहाडी इलाके एक दूसरे से बँटे हुए है। प्रत्येक में एक-एक जन या कबीले के जीवन का स्वतत्र विकास हुआ। उस कबीले का सास्कृतिक और राजनैतिक जीवन पर एक पुर या नगर मे केन्द्रित होता था, जो वहाँ की राजधानी थी। इस प्रकार के राज्य यूनान देश में पुर राज्य (सिटी स्टेट) कहलाए। उनके विकास और उन्नति का समय भी लगभग वही था, जो भारतवर्ष में जनपद राज्यों का था। पुर राज्यो में कुछ छोटे और कुछ अधिक शक्तिशाली होते थे, जैसे- एथन्स और स्पार्टा, जो यदा-कदा दूसरे पुर राज्यों पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमा लेते थे। वैसे ही अपने देश में भी मगध, कोसल, मद्र, गन्धार आदि जनपद राज्य महाजनपदो के रूप में विकसित हो गये। बहुत से जनपदों के राजनैतिक प्रभुत्व पर चौका फेर कर ही मगध के साम्राज्य का उदय हुआ।

यूनान देश की सस्कृति का सर्वोत्तम विकास पुर गज्यो मे हुआ था। भारतीय जनपद गज्यो का प्रयोग यूनान देश से कही अधिक विस्तृत ओर महान् था। एक तो वह अपेक्षाकृत बहुत बडा भू-भाग मे हुआ और दूसरे उसका स्थायित्व ओर राजनेतिक प्रभाव दूर तक व्याप्त रहा।

सास्कृतिक दृष्टि से भी जनपद युग मे भारतीय सस्कृति की जो मूल प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई, उसका स्वरूप उस युग मे सम्पन्न हुआ, उसी के आधार पर कालान्तर मे जनपद सस्कृतियो के मिलने से राष्ट्रीय सस्कृति का स्वरूप विकसित हुआ। भारतीय जनपदो का अध्ययन करते हुए उनका यथार्थ स्वरूप और महत्व अभी तक पूरी तरह पहचान मे नही आया है।

जनपदों की सीमा-

यूनान के पुर राज्य अधिकाश पहाडी प्रदेश घाटियो में फेले थै। एक को दूसरे से पृथक करने वाली निश्चित सीमाएँ थीं। भारत में भी प्रत्येक जनपद की नियम सीमाएँ थी। कुछ जनपद विस्तार में इतने बडे होते थे कि स्वभावत वे कई हिस्सों में बटे हुए थे, जिनके नाम लोक मे अलग-अलग विख्यात हो जाते थे।

पूर्व मद्र रावी से चनाव तक और पश्चिमी मद्र चनाव से झेलम तक का प्रदेश था। जनपद की राजधानी शाकल या स्यालकोट पूर्व मद्र मे ही थी इसी प्रकार सिन्धु नदी गान्धार महाजनपद को दो भागो में बॉटती थी। एक पूर्व गन्धार जिसकी राजधानी लक्षशिला थी और दूसरा अपर गन्धार जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी। जिस प्रकार सर्वजनपद और अर्ध जनपद की भौगोलिक इकाई व्यवहार में थी, और जिस प्रकार एक ही जनपद के अर्न्तगत पूर्व पश्चिम के भेद वास्तविक थे, वैसे ही एक जनपद का पूरब का आधा भाग अपरार्ध, दक्षिण का दक्षिणार्ध, उत्तर का उत्तरार्ध इन नामों से व्यवहृत होता था।

ग्राम समुदाय और नगर-

वस्तुत जनपद में ग्राम समुदाय और नगर दोनों की स्थिति थी। नगर, जनपद की राजधानी होती थी। उसके चारों ओर के ग्रामों में दूर-दूर तक जनपदीय जीवन का ताना बाना फैला हुआ था। यूनानी पुर राज्यों का ढॉचा भी कुछ ऐसा ही था। किन्तु पुर राज्यो का क्षेत्रफल भारतीय जनपद की अपेक्षा बहुत छोटा होता था। अतएव उनमे नगर या राजधानी का सर्वापहारी महत्व था जिसके कारण वे पुर राज्य नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वतन्त्र नागरिक प्राय पुर मे ही निवास करते थे और शेष भू-भाग में दास या कृषकों की बस्ती होती थी। भारतीय जनपदों मे ग्राम समुदाय का महत्व नगर के समान ही था, और जनपद स्वामी क्षत्रिय ग्रामो मे भी निवास करते थे। इस कारण भारतवर्ष में पुर राज्य की अपेक्षा जनपद यह साभिप्राय शब्द स्थिति का यथार्थ सूचक था। किन्तु अपने यहाँ भी प्रत्येक जनपद

मे दुर्ग की स्थापना आवश्यक थी। दुर्ग का ठीक वही अर्थ था जो यूनानी पुर राज्यो मे उनकी सुगुप्त राजधानी का समझा जाता था। जिस पारखेयी भूमि, नगर द्वार प्राकार, देवपथ, राजप्रसाद आदि का उल्लेख है। उनका सम्बन्ध जनपद की राजधानी के निर्माण से ही था। राजधानी के बिना जनपद की कल्पना सभव न थी। पुर या नगर जनपदीय जीवन के स्वाभाविक उत्कर्ष स्थान थे जहाँ से सास्कृतिक और राजनैतिक जीवन के सूत्र चारो ओर फेलते थे।

पुर राज्य के साम्य-

यूनान के पुर राज्यो के विकास की भी ये ही चार अवस्थाएँ थीं, उनकी पहली अवस्था जन या कबीलो की थी, और दूसरी कुलो की थी। तीसरी अवस्था वह थी, जिसमे छोटे कबीलो ने अपना विस्तार करके एक शस्त्रधारी जाति के रूप मे अपना सामूहिक सगठन कर लिया और किसी प्रदेश मे राजधानी बना कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। चौथी अवस्था पुर राज्य की अवस्था थी।

समान पूर्वज-

जन अपने आपको किसी एक पूर्वज से उत्पन्न हुआ मानता था। यूनानी पुर राज्य और भारतीय जनपद दोनों के स्वामी इस कल्पना को समान रूप मानते थे।

महाभारत से ज्ञात होता है कि वे सब सावित्री और सत्यवान की सन्तान थे। उन्हें पुत्रशतम् कहा गया है।

"सावित्र्यास्तद् वै पुत्र शत्र जज्ञे।"
{आरण्यक- 28/3/12}

इसमे पुत्र शब्द अपत्यवाची है और शत अनिश्चित सख्या का सूचक है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जब यही शत सख्या बढकर सहस्रों में पहुँचती थी और पुत्रशत में से प्रत्येक के कुल या कुटुम्बों का विस्तार होने लगता था, तो सौ दो सौ वर्षों में जन का विस्तार काफी बढ जाता था, जैसा कि स्वय सावित्री पुत्रों के विषय में महाभारत में कहा गया है-

"ते चापि सर्वे राजान क्षत्रिया पुत्रपौत्रिण।"
{कर्ण- 4/47}

फिर भी समग्र जाति के इस विश्वास में कोई अन्तर नही पडता था, कि उनका निकास एक की पूर्वजों से हुआ है। वस्तुत प्रत्येक जाति आवश्यकतानुसार अपने लिए

एक ऐसे पूर्वज की भी कल्पना कर लेती थी। उदाहरण के लिए महाभारत मे अग वग, कलिग, सह्य और पुण्ड्र इन पॉचो जनपदो के आदि सस्थापको को बलि की गर्नी सुदेष्णा के पॉच पुत्र कहा गया है- जिनका जन्म दीर्घतमा ऋषि द्वारा हुआ था। प्रत्येक ने अपने नाम मे एक-एक जनपद की स्थापना की थी।

{आदि पर्व- 98/32}

इसी प्रकार वाहीक देश के महत्वपूर्ण जनपद मद्र और शाल्व के आदि पुरुषो को व्युषिताश्च के पुत्र कहा गया है।

{आदि0- 112/33}

भक्ति-

अपने जनपद और जनपद स्वामी क्षत्रियों के प्रति भक्ति यह जनपदीय जीवन की विशेषता थी। जनपद का प्रत्येक नागरिक जब तक उस जनपद एव वहॉ के क्षत्रियो के प्रति भक्ति रखता था तभी तक वहॉ का नागरिक था। जनपद ओर जनपदिन् इन दोनो के प्रति भक्ति के मूल मे दो प्रकार की विचार धारा काम करती थी। राष्ट्र के प्रति निष्ठा जनपद की भक्ति हुई। इसका उल्लेख "माताभूमि पुत्रो अह पृथिव्या।" इस वाक्य में आया है। जनपद स्वामी क्षत्रियो के प्रति भक्ति का तात्पर्य उस शासन के प्रति निष्ठा से था जो उस समय वहॉ सत्तारूढ होता था। जनपदिन् या जनपद स्वामी क्षत्रिय विशेषत गणराज्यों मे मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय होते थे, जो स्वय राजा कहलाते थे, और सब मिलकर जनपद के शासन मे योगदान देते थे। उनके प्रति भक्ति का तात्पर्य उस राजनैतिक निष्ठा से था जो विभिन्न वर्ग या दलो की सदस्यता के रूप में अभिव्यक्ति होती थी। प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक था कि वह अपने गण मे किसी वर्ग से सबन्धित हो।

यूनान के पुर राज्यो मे प्रत्येक नागरिक अपने पुर के प्रति उसके शासक एव उसके नियमो के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा को अपने जीवन का सर्वोत्तम गुण मानता था। इस भाव को महात्मा सुकरात ने इस कथन से व्यक्त किया है-

"जिस प्रकार अपने माता-पिता और स्वामी के प्रति वैसे ही अपने देश और उस विधान के प्रति भी नागरिक को उचित है कि वह अपकार का उत्तर, प्रत्यपकार ये और घात का प्रतिघात से न दे। देश माता से भी अधिक है उसके लिए सब कुछ सह लेना चाहिये।"

{ग्लौत दी ग्रीक सिटी एण्ड इट्स इन्स्टीट्यूशन्स पृ0 140}

प्रत्येक जनपद की भूमि पृथिवी कहलाती थी, और वह पृथिवी प्रत्येक नागरिक के लिए उसकी माता थी। नागरिक अपने आपको उसका पुत्र समझता था।

"माता भूमि पुत्रोऽह पृथिव्या ।"
{अथर्व0- 12/1/12}

धर्म-

जनपदो के जीवन मे एक नयी प्रेरक शक्ति धर्म के रूप मे प्रकट हुई। यह धर्म रीति-रिवाज वाला प्राचीन समयाचारिक धर्म न था। वल्कि धर्म का तात्पर्य उन धारणात्मक नियमो से था, जो प्रजा और राष्ट्र को धारण करते हे, महाभारत मे इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार है-

"नमो धर्माय महते धर्मो धारयतिप्रजा ।"
{उद्योग पर्व- 137/9}

सामाजिक और सृष्टि व्यापी अखण्ड नियम की सज्ञा धर्म थी उससे अनपेत या अविरहित भाव को धर्म कहा जाता था। जनपद का ध्येय इस प्रकार के धर्म की पूर्णतम अभिव्यक्ति और उन्नति करना था। इस आदर्श की सर्वोत्तम स्वीकृति केकय देश के राजा अश्वपति के उद्‌गार मे पायी जाती है। जो उसने महाशाला, महाश्रेत्रिय जानपद जन की उपस्थिति में प्रकट किया था-

जनपद मे कोई चोर नहीं मेरे,
मद्यप और कदर्प नहीं है हेरे।
आत्मग्लानि विद्वान सभी सुविचारी,
आचार हीन नर नहीं कहॉ नारी।।

उसी को छन्दोदय उपनिषद में इस प्रकार कहा गया है-

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यप ।
नानाहिताग्नि विद्वान न स्वैरिणी कुत ।।"

यूनान के पुर राज्य नीतिधर्म के आदर्श को दिव्य गुण और ईश्वरीय सत्ता का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते थे। पुर राज्यो मे और जनपदों में जीवन के उच्चतम् परिष्कार की भावना का स्रोत नीति अर्थात् धर्म था। जनपदों में उत्कृष्ट बुद्धिवाद के नए आदर्श की उपसना की जा रही थी, जिसे इस काल के साहित्य में प्रज्ञा कहा गया है। जनपदों के नागरिक और शासक दोनो के लिए प्राज्ञ आदर्श का उल्लेख महाभारत में अनेक स्थानों पर आता है।

{शान्ति पर्व- 67/27}

महाभारत के शान्ति पर्व (64/4) मे वैनायिक कहा गया है। यह वेनयिक आदर्श व्यवहार मे तभी चरितार्थ किया जा सकता था, जब जनपद मे सुशासन की व्यवस्था हो। इससे विपरीत जनपद अराजक राष्ट्र वन जाता था।

{शान्ति0- 68/1-16}

जनपद सस्कृति-

अथर्ववेद मे कहा है कि पृथ्वी बहुत से जनो को धारण करती है, जो पृथक् धर्मो के मानने वाले और भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले है।

"जन विभ्रती बहुधा विवाचस नाना धर्माण पृथ्वी यथौकसम्।"
{अथर्व0- 12/1/45}

जन की यह पृथक स्थिति धीर-धीरे समाप्त हुई और एक जनपद मे भाषा धर्म और आर्थिक जीवन का समानताएँ विशेष रूप से प्रकट हुई। जनपदीय जीवन भेद की अपेक्षा साम्य की ओर अधिक प्रवृन्त हुआ। प्रत्येक जनपद इस बात में स्वतन्त्र था कि वह अपने यहाँ किस प्रकार की शासन प्रणाली को प्रश्रय दे, अर्थात् वह एकाधीन या राजाधीन हो, गणाधीन हो अथवा श्रेणी पूग के रूप में सगठित हो। प्रत्येक जनपद अपने जीवन के क्षेत्र मे स्वतन्त्र होता था। प्रत्येक की अपनी प्रभुसत्ता रहती थीं, जबतक की उसके पडोसी राज्य उसके स्वतन्त्रताओं में बाधक न बन जाते थे। फिर भी जनपद को सस्कृति, भाषा और धर्म का प्रवाह निविघ्न अपने क्रम से प्रवत्त होता रहता था।

बुद्ध ने यह अनुमति दी थी कि प्रत्येक जनपद उनका उपदेश अपनी भाषा या बोली में प्रचारित करने के लिए स्वतन्त्र था। उनका यह भी कहना था कि जिन चैत्य या देवताओ की पूजा किसी जनपद में पहले से चली आती थीं उसमें विघ्न होना चाहिये। प्रत्येक जनपद मे अपने-अपने प्रमुख यक्ष या नाग देवता के चैत्य या स्थान थे। उनकी पूजा समस्त जनपद का सामान्य धर्म था। बौद्ध, जैन, भागवत आदि व्यक्ति गत् धर्म नाग यक्षादि धर्मो और विश्वासों के स्थान में पीछें से प्रचलित हुए।

वैदिक युग के बाद जनपदों में ही भारतीय सस्कृति का नया विकास हुआ। जनपदीय जीवन मे प्रज्ञा या बुद्धि प्रधान दृष्किोण का अभूतपूर्व उन्मेष हुआ। बुद्धि का यह स्फोट नाना भाँति के शिल्प और अनेक प्रकार की विद्याओं के रूप में प्रकट हुआ। प्रत्येक जनपद मे स्थानीय शिल्पो की नींव इसी युग में पडी। ये शिल्प आर्थिक जीवन के विकास के नये साधन थे। जनपदीय जीवन के विषय में यास्क ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया-

"यथा जानपदीषु विद्यात पुरुषो वेदितृषु च भूयोविद्य प्रशस्यो भवति।"
{निरुक्त- 1/5}

अर्थात् एक जनपदीय शिल्पो मे निपुणता प्राप्त करने से पुरुष प्रमशर्नीय होता है, दूसरे वह व्यक्ति श्रेष्ठ समझा जाता है जो वेदितृ जनो के मध्य मे कई शाग्त्रो का ज्ञाता हो।

प्राचीन शिक्षा-क्रम चरणो मे विकसित हुआ। अब जनपदो के नये युग म दो प्रकार की नई शिक्षा का विकाश हुआ जिनका उल्लेख यास्क के इस वाक्य मे है। एक तो जनपदी वृत्ति या शिल्पो मे कुशलता प्रतिष्ठा का कारण था। दूसरे ज्ञान के क्षेत्र मे जो किसी भी एक शास्त्र या विज्ञा के जानकार होते थे वे वेदिता कहलाते थे।

जनपदो मे अनेक दिग्गज आचार्य हुए जिन्होने कितने ही नये शाग्त्रो की उद्‌भावना की। सच पूँछा जाय तो भारतीय साहित्य मे विविध शास्त्र और दर्शनो की मूल प्रतिष्ठा का आरम्भ इसी युग मे हुआ। इस समय राष्ट्र मे ज्ञान का चौमुखी विस्फोट हुआ उसका प्रमाण उपनिषदो मे, महाभारत में एव प्राचीन और बौद्ध साहित्य मे एव जैन साहित्य मे पाया जाता है। बौद्धिक विकाश के क्षेत्र मे यही स्थिति यूनान के पुर राज्यो में हुई थी। वहाँ भी पुर राज्यो का युग ज्ञान के चरमोत्कर्ष का युग था। पुराने ढग की होमरीय शिक्षा का स्थान नये दार्शनिक चिन्तन और नये शिल्पों ने ले लिया था।

शासन के विविध प्रकार-

मुख्यत राजाधीन और गणाधीन दो प्रकार के जनपद थे, किन्तु उनमे भी विंकास की कितनी ही कोटियॉ थीं। उस युग में जनपद मानो विविध प्रकार के शासन की प्रयोगशाला बने हुए थे। एकाधीन जनपद को राजाधीन भी कहते थे, अर्थात् वहाँ राजा और मन्त्रि परिषद की शासन सस्था का विकास हो चुका था। दूसरे प्रकार के जनपद गण या सघ कहलाते थे। सघों में शासन के अनेक अवान्तर भेद थे। किन्तु अब उनके सूक्ष्म भेद-प्रभेदो को जानने का कोई साधन नहीं है। कुछ सघ विकास की आरम्भिक अवस्था में ही थे। वहॉ के निवासी प्राय उत्सेधजीवी या लूटमार करके जीविका निर्वाह करने वाले होते थे। वे अपनी सीमा के भीतर किसी प्रकार की सघीय प्रणाली कायम करके काम चलाते थे। राजशास्त्र की दृष्टि से उनके ये प्रयत्न उच्चकोटि के न थे, किन्तु फिर भी लोक में उनका अस्तित्व अवश्य था। इस प्रकार के सघो को व्रात और पूग कहते थे। विशेषत भारत के उत्तर पश्चिम में ऐसे सैकडो सघों का जाल फेका हुआ था।

अनेक व्रात या आयुधजीवी लडाके यूनानी पुर राज्यों में और थ्रेस के पहाडी इलाको मे थे। वे युद्ध और लाभ के लोभ से सिकन्दर की सेना में भर्ती होकर आ गये थे।

सभा और परिषद-

प्रत्येक जनपद मे चाहे वह राजाधीन या, गणाधीन उसकी एक सभा और एक परिषद होनी थी। सभा राजाधीन परिषदो मे राजा के नाम से प्रसिद्ध होती थी जैसे- चन्द्रगुप्त सभा, पुष्यमित्र सभा जिनका उल्लेख पतञ्जलि ने किया है। जातक कथाओ मे प्राय राजसभा के 500 सदस्यो का उल्लेख आता है। इस सभा मे पौर जानपद प्रतिनिधि एव अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति और विद्वान सदस्य होते थे। राजाधीन जनपद मे परिषद से तात्पर्य मन्त्रिपरिषद से था। उसी के कारण "परिषद्वलो राजा" यह साभिप्राय शब्द लोक मे प्रचलित हुआ था। गणराज्यो मे सभा के सगठन का आधार कहीं अधिक व्यापक था। सघ या गण मे जो मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय या राजन्य होते थे, वे सब सभा में बैठने के अधिकारी थे। इसका अच्छा उदाहरण वृष्णयन्धक गण की सभा का वह अधिवेशन है, जो सुभद्राहरण के अवसर पर सभापाल द्वारा सान्नाहिकी भेरी बजाकर बुलाया गया था। कहा गया है कि उस शब्द से क्षुब्ध होकर भोज, वृष्णि और अन्धक खानी पीना छोडकर भागते हुए सभा में आए।

{आदि पर्व- 212/12}

भारतीय सभा की तुलना यूनानी पुर राज्यों की सभा के साथ करने से उसके सगठन पर मूल्यवान प्रकाश पडता है। यूनान में सभा की सदस्यता प्राप्त करने के लिए नागरिक को अट्ठारह वर्ष की आयु प्राप्त करना आवश्यक था। तब उसका नाम जन की सूची मे पचीबद्ध कर लिया जाता था। किन्तु उसके बाद भी उसके लिए दो वर्ष की सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। अतएव बीस वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद ही नागरिक को अट्ठारह अधिवेशनों में व्यवहारत सम्मिलित हो पाते थे।

यह योग्यता अट्ठारह वर्ष की आयु मे प्राप्त होती थी। कवचहर की ध्वनि यही है कि वह युवा कुमार सैनिक शिक्षा प्राप्त करने लगता था। उसकी समाप्ति के बाद वह सुवा सभेय अर्थात् सभा में भाग लेने योग्य होता था। सभेय वैदिक शब्द जो इस प्रकार है-

"सभयो युवारस्य यजमानस्य वीरो जायताम्।"

गण या सघ में प्रतिनिधित्व का आधार कुलों का सगठन था। प्रत्येक कुल एक इकाई माना जाता था। एक कुल का एक प्रतिनिधि शासन में भाग लेने का अधिकारी होता था, जो राजा कहलाता था।

"गृहे-गृहे हि राजान ।"

{सभापर्व- 14/2}

लिच्छवि गण मे 7707 कुल और उनके उतने ही राजा थे। चेत जनपद मे साठ सहस्र क्षत्रियो की गणना की जाती थी, और उन सब की उपाधि राजा थी।

भारतीय गणाधीन जनपदो मे भी यूनान की तरह व्यवस्था थी। समग्र जन की सभा मे 6000 की उपस्थिति का उल्लेख आया है। अथर्ववेद मे देवजन के लिए छह सहस्र सख्या का उल्लेख है।

"ब्रह्मचारिण पितरो देवजना पृथग्देवा अनुसयति सर्वे षट्सहस्रा।"
{अथर्व0- 11/5/2}

यहाँ सर्वदेव जन और पृथग् देवजन, जन की द्विविध स्थिति का उल्लेख है। वस्तुत समस्त जन या गण की जो सभा थी उसी का आदर्श कल्पना देव जन की सभा मे चरितार्थ होती थी। मानवजन की सभा और देवजन की सभा ये दो नियम सगठन और आदर्श की दृष्टि से अभिन्न थी। वृष्णि सघ के अधिवेशन का उल्लेख है, उसमे स्पष्ट लिखा है कि उनकी वह सभा सुधर्मा कहलाती थी जो कि देवताओं की सभा की सज्ञा प्रसिद्ध है।

"ते समासाद्य सहिता सुधर्मामभित सभाम्।"
{आदि पर्व- 212/10}

इस प्रकार अथर्ववेद मे सर्वदेव जन के लिए जो षटसहस्र सख्या कही गई है उसे गण सभा की सख्या निश्चय पूर्वक माना जा सकता है।

षष्ठम परिच्छेद

संघ या गण

गणाधीन सघ-

शतपथ काल मे दो प्रकार की शासन पद्धति मुख्यत प्रचलित र्था, पहला एकराज और दूसरा सघ।

एकराज जनपद राजनैतिक परिभाषा के अनुसार एकार्धान ओर सघ शासन वाले जनपद गणाधीन कहलाते थे। यह स्पष्ट है कि पहले मे ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता एक व्यक्ति मे केन्द्रित रहती थी और दूसरे मे वह सम्पूर्ण गण मे निष्ठित होती थी। भारतीय राज पद्धति मे जनजीवन के मन्थन से समुद्भूत ऐसा महत्वपूर्ण और व्यापक प्रयोग उससे और बाद मे फिर कभी देखने मे नहीं आया। सघ आन्दोलन ने देश के अति विस्तृत भू-भाग को छा लिया था। सघ आदर्श का आकर्षण इतना अधिक था कि न केवल राजर्नीति के क्षेत्र मे बल्कि परिवारो के गोत्र सज्ञक सगठन मे जाति या सामाजिक पचायतों के सगठन में पूग श्रेणी और निगम नामक आर्थिक सस्थाओ के सगठन मे एव चरण नामक शिक्षा सस्थाओ के सगठन मे सर्वत्र सघ आदर्श में ही जनता की अभिरूचि थी। इसी पृष्ठभूमि में शाकल सघ, सघ दक्ष अक, दाक्ष लक्षणम् इस प्रकार के उदाहरण ठीक प्रकार समझे जा सकते हैं। जैसे वर्तमान समय मे किसी भी प्रकार की सभा या सगठन हो, उसका आदर्श सघ शासन से लिया जाता है। ऐसी हवा चली थी कि जनता की शासन पद्धति अधिकार निर्णय स्वतन्त्र सगठन एव सैनिक सस्थान आदि के विषय मे सघीय आदर्श का सौरभ वाहीक - त्रिगर्त से लेकर सिन्धु नदी के पश्चिमोत्तर कम्बोज-बाल्हीक तक सर्वत्र व्याप्त हो गया था। मोटे तौर पर यह विदित होता है कि देश के प्राच्य भू-भाग में राज्य प्रथा और उदीच्य भाग में सघों की प्रथा अधिक प्रचलित थी।

जरासध के समय में मगध में ही साम्राज्य की प्रवृत्ति आरम्भ हुई जो कि शिशुनाग और नन्द राजाओं के युग में और भी आगे बढ़ी, यहॉ तक कि मौर्य शासन में एकराज जनपद और गणाधीन सघ इन दोनों को समाप्त करके देश-व्यापी साम्राज्य कायम हो गया। कौटिल्य ने सघो के प्रति अपनी नीति का उल्लेख किया है कि सघ शासन में राष्ट्र की दृढता मे बाधा पडती है। अतएव साम्राज्य में उनका अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। मौर्य शासन का ढॉचा शिथिल पडने के बाद फिर एक बार सघों के फेफड़े नवीन श्वास-प्रश्वास से भर गये, जिनका प्रमाण भारतीय इतिहास में 200 ई0पू0 से दूसरी शती ई0 तक के अनेक जनपद राज्यो मे पाया जाता है। किन्तु सघों की यह करवट चौथी शती ईस्वी में गुप्त साम्राज्य के उदय के साथ सदा के लिए समाप्त हो गई।

सघ-

सघ का सामान्य अर्थ समूह था, जैसे- ग्राम्य पशु सघ। सघ शब्द का दूसरा पर्याय निकाय था। अनेक धार्मिक आचार्य और प्रचारक अपने-अपने सघ और गण की दृष्टि से सघिन गणिन कहलाते थे। जो जैसा प्रचार करता था, जिसका जैसा व्यक्तित्व होता था उसी के अनुरूप उसके अधीन छोटे-बडे सघ बन जाते थे। यह राजनैतिक सघ था जो अधिकाश मे गण नाम से प्रसिद्ध होता था। इस अर्थ मे सघ और गण दोनो पर्यायवाची थे।

निकाय-

जिस धार्मिक सघ को निकाय कहा गया है, उसका राजनैतिक सघ से पूरा मेल था। वह यह कि राजनैतिक सघो मे शासन सत्ता कुछ की परिगणित कुलो मे केन्द्रित होती थी, जिनका अभिषेक मगल किया जाता था, और जो इस कारण अभिषेक वश क्षत्रिय या राजन्य कहलाते थे। गण मे दूसरी जाति के लोगों को शासन सत्ता का अधिकार न था। जातिपरक यह भेद धार्मिक सघ में बिल्कुल न था। वह समानता के आधार पर सगठित होता था।

सघ शासन-

एकराज जनपद का अधिपति भी राजा कहलाता था, एव सघ शासन के अन्तर्गत् प्रभुसत्ता या ऐश्वर्य जितने कुल थे, उन कुलो के प्रतिनिधि भी राजा कहलाते थे। लिच्छवियों के 7707 कुलो में हर एक का प्रतिनिधि 'राजा' पद्वी धारण करता था।

"एकैक एव मन्यते अह राजा अह राजेति।"
{ललित विस्तार}

प्रत्येक राजा या कुल में प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण के ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता मे समान अधिकार प्राप्त था। पीढी दर पीढी सतर्कता पूर्वक अधिकार की रक्षा की जाती थी, लिच्छवियो के वैशाली नगर में गण के अन्तर्गत राजाओं के जितने कुल थे, उनके अभिषेक का जल एक विशेष पुष्करिणी या कुण्ड से लिया जाता था, जिसे मगल पुष्करिणी कहते थे।

"वैशाली नगरे गणराज कुलाना अभिषेक मगल पोक्खरणी।"
{जातक- 4/148}

उस पुष्करिणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था। अतएव जिन कुलों मे प्रभुसत्ता परिनिष्ठित थी, उन्हे ही मगल पुष्करिणी से अभिषेक के लिए जल पाने का अधिकार प्राप्त होता था। यह अभिषेक किस अवसर पर किया जाता था, इस प्रश्न का उत्तर

इस प्रकार है। प्रत्येक कुल मे उस कुल का बृद्ध या बडा बूढा की मूर्धाभिषिक्त होता था। यह मूर्धाभिषेक महत्वपूर्ण प्रथा थी। कुल बृद्ध पिता के अनन्तर उसके पुत्र का मूर्धाभिषेक वडे समारोह पूर्वक किया जाता था। आजकल की भाषा मे इस लोक प्रथा को पगडी बाँधना कहते है।

इस प्रकार कुल मे जिसका अभिषेक हुआ हो, वह मूर्धाभिषिक्त व्यक्ति कुल वृद्ध या भिषिक्त वश्य कहलाता था।

राजनैतिक दल या वर्ग-

सघ के अन्तर्गत पृथक-पृथक दलो के सगठन की प्रथा थी। आजकल की तरह उस समय भी सघो का यह स्वाभाविक नियम था कि दल का नाम नेता के नाम पर पडता था। सघ सभा के अधिवेशन मे किसी ज्ञप्ति या प्रस्ताव के समय जो मतदान या शलाका ग्रहण किया जाता था। उस समय दल के नेता का महत्व उतना न था, जितना दल के सदस्य का। उस परिस्थिति मे ही वर्ग्य या पक्ष्य शब्द का आदि उदात्त उच्चारण सभव था। इसके विपरीत परम वर्ग्य इस शब्द मे परम पूर्व पद का आदि स्वर उदात्त होता था।

परमवर्ग्य-

दल के सदस्यों मे जो परम या दल का नेता होता था, वह परम वर्ग्य कहलाता था। पारमेष्ठ्य नामक शासन प्रणाली में भी 'परम' पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त है। जैसा पहले कहा जा चुका है, पारमेष्ठ्य शासन कुलों के आधार पर चुनाव द्वारा सम्पन्न होने वाली पद्धति थी, जिसमें कभी कोई श्रेष्ठ चुन लिया जाता था।

"कश्चित् कदाचिदेतेषा भवेच् श्रेष्ठ ।"
{सभा0- 14/6}

सघ के अन्तर्गत जितने भी कुल थे, उन सब कुलो में जो सब का अधिपति चुन लिया जाता था, वह श्रेष्ठ कहलाता था, जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है-

"एवमेवाभि जानान्ति कुले जाता मनस्विन ।
कश्चित् कदाचिदेतेषा भवेत् छ्रेष्ठो जनार्दन.।"

सभी कुल मिलकर सघ के अधिपति का चुनाव करते थे।

सप्तम परिच्छेद

आयुधजीवी संघ

आयुध जीविका निर्वाह करने वाला आयुधीय या आयुधिक कहलाता था। कौटिल्य ने दो प्रकार के जनपदो का उल्लेख किया है-

(1) आयुर्धासप्राय।
(2) श्रेणी प्राय।

"यदि वा पश्येत् आयुधीय प्राय श्रेणीप्रायो मे जनपद ।"
{अर्थ0- 7/1}

किन्तु सघवृत्त प्रकरण मे काम्भोज सुराष्ट्र नामक क्षत्रिय श्रेणियों को वार्ताशस्त्रोपजीवी एव लिच्छवि बृजि मल्ल, मद्र कुकुर और कुरुपचाल को राज शब्दोपर्जावी कहा है। इससे सूचित होता है कि लिच्छवि आदि उन्नत सघ कुलों के आधार पर सगठित थे, जिनमे प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि राजा कहलाता था। इसके विपरीत कम्बोज सुराष्ट्र आदि श्रेणियॉ शास्त्रोपजीवी या आयुधीय थे। उनका राजनैतिक विकाश अपेक्षाकृत आरम्भिक अवस्था मे था।

चार प्रकार के आयुधजीवी-

वैदिक काल मे चार प्रकार के आयुधजीवी सघ कहे गये हैं।

(1) वाहीक देश के आयुधजीवी सघ।
(2) पर्वत या पहाडी इलाको के आयुधजीवी सघ।
(3) पूग नामक आयुध जीवी सघ। जो ग्रामणी नामक नेताओं की अध्यक्षता में सगठित थे।
(4) ब्रात, जो सर्वथा उत्सेधजीवी दशा मे जीवन व्यतीत करते थे, और जिनमें सघ प्रणाली नाम मात्र को ही थी।

पर्वतीय संघ-

उत्तर पश्चिमी भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालने से दो बडे पहाडी प्रदेश दिखाई पडते है। एक त्रिवर्ग से दार्वाभिसार तक का प्रदेश और दूसरे सिन्ध से कापिशी

कम्बोज तक का वृस्तृत भूभाग। ये पहाडी राज्य अधिकाश मे आयुधजीवी सघ शासन के मानने वाले थे। महाभारत मे गान्धारराज शकुनि को पर्वतीय कहा गया है। सभा पर्व मे लोहित प्रदेश के दस मण्डल राज्यो का उल्लेख है। जो कि अफगानिस्तान का उत्तर पूर्वी और मध्य भाग था, जहॉ इस समय कोहिस्तान का इलाका है। मार्कण्डेय एव अन्य पुराणो मे जिन जनपदो को पर्वताश्रयी कहा है, वे ही शतपथ कालीन पर्वतीय आयुधजीवी सघ थे। उनमे नीहार या नगरहार की भी गणना है, जो आधुनिक जलालाबाद का प्राचीन नाम था, जहॉ हृद्गोल या हड्डा का पहाडी प्रदेश है। हसमार्ग नामक जनपद की गिनती भी पर्वताश्रयी देशो मे थी। अतएव ये काश्मीर और अफगानिस्तान के पहाडी प्रदेश के निवासी थे, जिन्हे पर्वतीय आयुधजीवी कहा गया है। उद्योग पर्व में "प्रतीच्या पार्वतीया" अर्थात् पश्चिमी भारत के पर्वतीयो का उल्लेख है।

{उद्योग0- 30/24}

द्रोणपर्व मे स्पष्टत उन्हे सघागिरिचारिण एव गिरिगह्वरवासिन कहा गया है।

{द्रोण0- 93/48}

भीष्म पर्व मे गिरिगहवर नामक जन या कबीले का उल्लेख है, जिसका अर्थ है, पहाडो की गुफा या गारो मे रहने वाले कबायल लोग। महाभारत में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि सिन्धु नदी के किनारे पर बसी हुई महाबली जातियॉ ग्रामणी सज्ञक कहलाती थीं-

"सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीय महाबला ।"
{सभापर्व- 32/9}

पूग-

आयुधजीवी सघ की अपेक्षा कम एव व्रात की अपेक्षा अधिक विकसित सघ पूग थे।

"नाना जातीया अनियतबृत्तयोऽर्थकाम प्रधाना सघा पूगा ।"
{काशिका}

अर्थात् कई जाति या कबीलों के लोगो का सघ जिनकी जीविका या निर्वाह के साधन कई प्रकार के होते थे। अधिकाश में वे लूटमार की अवस्था से ऊपर उठकर कुछ अर्थोपार्जन का सिलसिला अपना लेते थे। इस प्रकार के सघ व्रात और श्रेणि के बीच की अवस्था मे थे। श्रेणि और पूग के बाद में चलकर आर्थिक सगठन भी बन गये थे।

ग्रामणी-

पूग सस्था की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए प्रमाण सामग्री की तीन कडियाँ ध्यान देने योग्य है- पहला महाभारत का यह उल्लेख कि ग्रामणी सविधान के अनुयायी कबीले सिन्धु नदी के किनारे पर आबाद थे। दूसरा कुछ ऐसे कबीले थे, जिनका नाम ग्रामणी के नाम से प्रसिद्ध होता था। और तीसरा अगुत्तर निकाय का उल्लेख कि ग्रामणी दो प्रकार के थे, एक ग्राम ग्रामणी और दूसरा पूग ग्रामणी।

व्रात-

व्रात उन लडाकू जातियो की सज्ञा थी जिनका आर्यो के साथ सघर्ष हुआ था, और जो लूटमार करके निर्वाह करती थीं। ऋग्वेद मे आर्य योद्धाओ को "व्रातसाह ।" कहा गया है।

{ऋ0 6/75/9}

महाभारत मे दार्वाभिसार और दरद् जनपद के निवासियों को व्रात कहा गया है।

{द्रोण पर्व- 93/44}

भाष्य मे व्रात का अर्थ उत्सेध या लूटमार है।

"नाना जातीया अनियत वृत्त्य उत्सेध जीविन सघा व्राता तेषा कर्म व्रातम् । व्रातेन कर्मणा, जीवति व्रातीन ।।"

{भाष्य- 5/2/21}

इस अर्थ में व्रातीना वही थे, जिन्हें श्रौत सूत्रो मे व्रात्य कहा है। ब्रह्मणेतर अर्थात् वर्णाश्रम धर्म ब्राह्य आयुधजीवी जातियाँ थीं। ताण्ड्य ब्राह्मण मे सायण ने व्रात का अर्थ व्रात्य समुदाय किया है। वस्तुत व्रात और व्रात्य एक ही थे।

व्रातों का जीवन-

कहा गया है कि वे तख्ते का फट्टा जडा हुआ छोटा खडखडिया रथ रखते थे और उस पर बैठ कर ऊबड-खाबड मार्ग में भी चाहे जहाँ जा सकते थे। आजकल जनपदीय बोली में इसे फिरक कहते हैं। बिना डोरी और बिना बाण का धनुष इस्तेमाल करते थे। जिसका तात्पर्य चलाने वाली गुलेल से था। वे टेढी पगडी बांधते और भेड की खाल की पोस्तीन पहनते थे। कुछ व्रात काले कपडे और कुछ लाल वस्त्र पहनते थे।

व्रात्य स्तोम-

इन व्रात्यो को आर्य बनाकर वर्णाश्रम ओर धर्म की व्यवस्था के अन्तर्गत लाने के बरावर प्रयत्न किये जाते थे। उसकी युक्ति व्रात्यस्तोम यज्ञ का विधान था। वात्य स्तोम से वजन करने पर व्रात्य स्तोम भाव छूट जाता था। मनु ने व्रात्यो को आर्य विगहित कहा है। किन्तु व्रात्यस्तोम के बाद फिर वर्णाश्रमधर्मी आर्यो के साथ उनका सामाजिक व्यवहार खुल जाता था।

स्पष्ट है कि जो लोग पहले ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं थे, उन्हे ब्राह्मण या क्षत्रिय बनाकर वर्णाश्रम मर्यादा मे सम्मिलित करने की प्रथा का इन शब्दो से अस्तित्व सूचित होता है। इनमे भी-

"ब्राह्मणकृता, ब्राह्मण भूता, ब्राह्मण मता, ब्राह्मण समाम्नाता, ब्राह्मणासमाख्याना एव क्षत्रियकृता, क्षत्रिय भता।" आदि कितने की तारतम्य और सूक्ष्म भेद हो सकते थे।

चार प्रकार के व्रात्य स्तोम-

व्रात्यस्तोम यज्ञ की विधि बहुत सरल थी, जिसमें कई तरह की छूट दी गई थी। व्रात्यो से जटिल कर्मकाण्ड के निर्वाह की आशा नहीं की जा सकती थी। व्रात्यस्तोम लौकिक अग्नि मे ही कर सकते थे। भाड या चूल्हे मे से अग्नि लाकर यज्ञ किया जा सकता है। जिस जनपद मे जो सामान सुलभ हो उसी से काम चलाया जा सकता है। व्रात्यो के समूह मे चार प्रकार की टोलियाँ होती थीं।

(1) पहला व्रात्यस्तोम उस प्रकार के लोगो के लिए था जो व्रात्यों में आचार्य या पूजा-पाठ कराने वाले थे।

(2) दूसरा व्रात्यस्तोम उन लोगों के लिए था जिन्हें निन्दित और नृशस कहा है। अवश्य की व्रात्यो के कबीलो मे यह अश सबसे खूखार और लडाकू था। लूटमार ही उनका पेशा था। उनका सस्कार, शुद्धि या मार्जन सबसे कठिन था।

(3) तीसरा व्रात्यस्तोम- कनिष्ठ युवकों के लिए था। युवकों का यह अश उत्सेध जीवी या लोक त्रास के कारण न होने से अपेक्षाकृत सरलता से सस्कार सम्पन्न बनाया जा सकता है।

(4) चोथा व्रात्यस्तोम ज्येष्ठ या स्थविर लोगों कि लिए था। व्रात्य सघों की कुल सस्था में ये कुल बृद्ध स्थिविर या वश्य थे, जो व्रात्यो की सभा में गृहपति होकर भाग लेते थे।

"शोध प्रबन्ध में सहायक पुस्तकों की सूची"

	पुस्तक		लेखक
(1)	शतपथ ब्राह्मण	-	गगा प्रसाद उपाध्याय
(2)	शतपथाऽमृत	-	सातवलेकर एव सत्यव्रत सामश्रमी
(3)	वैदिक वाङ्मय	-	प भगवत्‌दत्त
(4)	धर्मशास्त्र का इतिहास	-	पी0 वी0 काणे
(5)	सस्कृति के चार अध्याय	-	रामधारी सिह दिनकर
(6)	पाणिनि कालीन भारत	-	डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल
(7)	विज्ञान भाष्य	-	मोती लाल शर्मा
(8)	वैदिक धर्म	-	कीथ